१

आचार्य तुलसी का अध्यापन-कौशल

डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा

जैन विश्वभारती, लाडनूं

प्रकाशक : जैन विश्व भारती,
पोस्ट : लाडनूं ३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१
ई-मेल : Jainvishvabharati@yahoo. com

c जैन विश्व भारती, लाडनूं

ISB No. ८१-७१९५-२१५-१
BARCODE ९७८-८१-७१९५-२१५-१

सौजन्य : स्वर्गीय श्री जंवरीमलजी और धापीदेवी सिंघी की पुण्य स्मृति में पुत्र—श्री सम्पतराय-सुंदरदेवी, पौत्र—चुन्नीलाल-रूपश्री, प्रपौत्र—ऋषभ, प्रपौत्रियां—मीनाक्षी, सरला और नेहा, दिल्ली (गुड़गांव) चूरू।

प्रथम संस्करण : २०१२

मूल्य : अस्सी रुपये

मुद्रक : कला भारती
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

मंगल संदेश

जीवन की एक बड़ी उपलब्धि होती है—विद्या का विकास। उसमें Self Study—स्वत: अध्ययन भी सहयोगी बनता है और दूसरे के द्वारा अध्यापन का भी बड़ा महत्त्व है। अध्यापन करने वाला व्यक्ति ज्ञान-प्रदान कर एक महान् उपकार करता है।

परमपूज्य गुरुदेव तुलसी प्रशास्ता होने के साथ-साथ एक कुशल अध्यापक भी थे। मुझे भी उनके श्रीचरणों में उपासीन होकर कुछ ज्ञान-बिन्दुओं को बटोरने का अवसर प्राप्त हुआ। ऐसा लगा कि वे अध्यापन रुचि वाले आचार्य थे।

समणी कुसुमप्रज्ञाजी एक विदुषी समणी हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत '**आचार्य तुलसी का अध्यापन कौशल**' पुस्तक पाठक को अध्यापन की प्रेरणा और उसकी प्रविधि की जानकारी प्रदान करने में सफल बने।

शुभाशंसा

बागौर **आचार्य महाश्रमण**

११.१२.२०११

अपूर्व कृति

सफल मानव जीवन के दो मूल आधार हैं—शिक्षा और उच्च आचरण। शिक्षा रूपी नेत्र से व्यक्ति मूर्त्त-अमूर्त्त, निकट-सुदूर और भविष्य का साक्षात्कार भी कर सकता है। तदनुरूप विशुद्ध आचरण हमें अप्राप्य प्रतीत होने वाले लक्ष्य पर भी सहज भाव से पहुंचा देता है।

नीतिकारों ने छह सुखों में अंतिम सुख अर्थकरी विद्या को स्वीकार किया है। वर्तमान में अर्थकरी विद्या का प्रभाव बढ़ने से सर्वांगीण व्यक्तित्व-निर्माण की बात गौण होती जा रही है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य क्या होना चाहिए, इस प्रसंग में शतपथ बाह्मण में एक कथा प्राप्त होती है। विदेह देश में माधव राजा तथा राहूगण उसके मंत्री थे। एक बार राजा ने अपने मुख में अग्नि को बंद कर रखा था। यहां अग्नि शब्द का अर्थ अनंत प्रकाश करने वाली विद्या होना चाहिए।

राजा के मंत्री राहूगणों ने प्रथम बार अन्न आदि भोग साधन प्रदान करने वाली शिक्षा से सम्बन्धित मंत्र का उच्चारण किया लेकिन राजा ने मुख नहीं खोला अर्थात् अर्थकरी विद्या के प्रसार की अनुमति नहीं दी। दूसरी बार राहूगण ने शुचिमती उदग्नि अर्थात् तेजस्वी रौबदार मनुष्य बनाने वाली शिक्षा से सम्बन्धित मंत्र का उच्चारण किया लेकिन राजा का मुख नहीं खुला अर्थात् इसके प्रसार की अनुमति भी नहीं मिली। तीसरे मंत्र में घृतश्नु अर्थात् समाज को स्नेहयुक्त और प्राणवान् बनाने वाली अग्नि (शिक्षा) शब्द निकलते ही राजा के मुख से वेगपूर्वक अग्नि प्रकट हो गई। अर्थात् उस शिक्षा के प्रचार-प्रसार की अनुमति मिल गई। तब मंत्रीगण ने पूरे राज्य में उस शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया। इस कथानक का तात्पर्य यह है कि अर्थकरी शिक्षा भोग के साधन प्रदान कर सकती है लेकिन मनुष्य को मनुष्य नहीं बना सकती। दूसरे मंत्र से सम्बन्धित शिक्षा बड़ी पवित्र और जाज्वल्यमान है, मनुष्य को ऊंचा उठाने वाली है लेकिन वह बहुत कम प्रतिभाशालियों का भागधेय है और सामान्य मनुष्य की पहुंच से परे है, यह भी लोक-कल्याणकारी नहीं बन सकती। घृतश्नु शिक्षा मानव में विनय का आधान करके व्यक्ति को भौतिक साधनों की प्राप्ति के योग्य बनाती है।

शिक्षा के दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं—शिक्षक और शिक्षार्थी। शिक्षक में अपने विषय का पूर्ण पाण्डित्य तथा शिक्षार्थी में गहन ज्ञान-पिपासा होनी चाहिए। तभी सम्यक् ज्ञान का आदान-प्रदान होता है।

प्रश्न उपनिषद् में महर्षि पिप्पलाद अभ्यागत शिष्यों से कहते हैं—'यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ यदि विज्ञास्याम: सर्वं नु वो वक्ष्याम:'— अर्थात् तुम लोग प्रश्न पूछो, यदि मैं जानूंगा तो सब कुछ बता दूंगा। 'यदि विज्ञास्याम:' शब्द आचार्य के निरभिमानी व्यक्तित्व को प्रकट करता है। इस गुण के कारण शिक्षक आजीवन विद्यार्थी बना रहता है।

अध्यापन की मुख्यत: तीन शैलियां हैं—

१. प्रवचन शैली—यह महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में प्रचलित है।

२. प्रश्नोत्तर शैली—इस शैली के दर्शन हमें कठ, केन आदि उपनिषद् साहित्य में मिलते हैं।

३. क्रियात्मक शैली—इस शैली में प्रायोगिक रूप में प्रशिक्षण दिया जाता है।

शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वह विद्यार्थी की मन:स्थिति, बौद्धिक क्षमता और शारीरिक क्षमता को जाने। अथर्ववेद के अनुसार उपनयन संस्कार के समय शिक्षक तीन दिन तक विद्यार्थी को अपने पूर्ण निरीक्षण में रखता था मानो वह उसे अपने गर्भ में रख रहा हो। इस काल में वह शिष्य का पूर्ण निरीक्षण करके उसकी पात्रता और अपात्रता का ज्ञान करके यह जान लेता था कि उसके निर्माण में मृदु उपाय की अपेक्षा होगी अथवा कठोर उपाय की।

शिक्षा का प्रारम्भ उच्च आचार के प्रशिक्षण से होता है इसलिए प्राचीन काल में शिक्षक को आचार्य कहा जाता था। पिता अपने पुत्र को आचार्य की शरण में सौंपते हुए कहता था कि अब तुम ब्रह्मचारी हो, आचार्य के अधीन रहकर विद्याध्ययन करो, असत्यभाषण से बचो तथा सुशील, मितभाषी और सभ्य बनो। गुरुकुलवास की वह शिक्षा-पद्धति विद्यार्थी के सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास करती थी।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में पराविद्या अपराविद्या के साथ-साथ चौसठ और बहत्तर कलाओं का प्रशिक्षण देकर विद्यार्थी को महामानव बनाने का प्रयत्न किया जाता था। इस प्रशिक्षण का मूर्त्त रूप हमें आचार्य तुलसी के अध्यापन-कौशल में मिलता है। उन्होंने किशोरवय से लेकर जीवन के अंतिम क्षण तक प्रशिक्षण दिया, जिसका सुंदर चित्रण समणी कुसुमप्रज्ञा की अपूर्व

कृति '**आचार्य तुलसी का अध्यापन-कौशल**' नामक ग्रंथ में मिलता है। समणीजी की लेखन-शैली प्रशस्त है। मुझे विश्वास है कि उनकी लेखनी अनेक ग्रंथ रत्नों को भविष्य में प्रस्तुत करेगी। यह ग्रंथ रत्न वर्तमान और भावी अध्यापकों के लिए प्रेरणास्रोत का कार्य करेगा।

आचार्य तुलसी इस देश के महान् राष्ट्र संत हुए हैं। वे अध्यात्म संस्कृति के उन्नायक थे। उन्होंने गरीब की झोंपड़ी से लेकर राष्ट्रपति भवन तक नैतिकता की अलख जगाई। अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से उन्होंने अनेक रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों पर प्रहार किया। अनेक ज्वलन्त राष्ट्रीय समस्याओं का सटीक समाधान प्रस्तुत किया। आश्चर्य है कि विशाल धर्मसंघ का नेतृत्व करते हुए भी उन्होंने विपुल मात्रा में साहित्य का सृजन किया। उनका काव्य-सृजन शाश्वत मूल्यों को प्रकट करने वाला है। उच्च आचरण के साथ निकली हुई उनकी दिव्य वाणी ने भारतीय जनता के मानस को झंकृत ही नहीं किया, रूपान्तरित भी किया है। ६० साल तक नेतृत्व के उच्च आसन पर रहकर उन्होंने पदत्याग का अभिनव आदर्श भारतीय जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। योग्यता न होने पर भी कुर्सी पर चिपके रहने वालों के लिए उन्होंने जीवन्त आदर्श प्रस्तुत कर दिया। पदत्याग के बाद निस्पृह भाव से उन्होंने कहा—''अब मैं केवल संत तुलसी रहकर मानवता की सेवा में अपने जीवन को समर्पित करना चाहता हूं।''

यद्यपि मैंने उनके साक्षात् दर्शन नहीं किए लेकिन उनकी यशोगाथा एवं साहित्य का साक्षात्कार अवश्य किया है। प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से भी मुझे उनके विराट् और प्रेरक व्यक्तित्व की झांकी मिली है। पुस्तक अत्यन्त रोचक और पठनीय बन पड़ी है। मैं समणीजी को इस श्रमसाध्य कार्य के लिए अनेकशः बधाइयां देना चाहूंगा तथा शुभकामना करूंगा कि उनका आगामी लेखन भी सोद्देश्य और लोकोपयोगी हो।

दिल्ली **स्वामी अनंतभारती**

१०.२.२०१२ **(एम. एम. डॉ. ब्रह्ममित्र अवस्थी)**

आचार्य तुलसी का शिक्षाशास्त्र

शिक्षा एक ऐसा विषय है, जिस पर आदिकाल से चिन्तन होता रहा है। व्यक्ति के लिये शिक्षा क्यों जरूरी है, उसके उद्देश्य क्या हैं, उसे कैसे प्रभावी ढंग से दिया जा सकता है, किस व्यक्ति को हम शिक्षित कह सकते हैं और समाज के लिये शिक्षित व्यक्ति की क्या उपयोगिता है? आदि प्रश्न मनीषियों के मस्तिष्क को सदा से कुरेदते रहे हैं। अगणित विद्वानों ने इन प्रश्नों पर अपना सिर खपाया है। उनके अहर्निश चिन्तन-मनन से जो कुछ सामने आया, वह केवल सैद्धान्तिक ही नहीं, अनुभव-प्रमाणित भी है।

दरअसल शिक्षा कोई ऐसी प्रक्रिया नहीं है, जिसे समाज और संस्कृति से अलग करके देखा जा सके। यह इन दोनों से अविभाज्य रूप से जुड़ी हुई है इसलिए इस पर समाज और संस्कृति को केन्द्र में रखकर ही विचार किया जा सकता है।

भारतीय शिक्षा का इतिहास जिन मनस्वी महापुरुषों के शैक्षिक योगदान को अत्यन्त आदर के साथ रेखांकित करता है, उनमें आचार्य तुलसी का नाम निश्चय ही उल्लेखनीय है। वे जैन श्वेताम्बर तेरापंथ सम्प्रदाय के आचार्य थे। वे स्वयं शास्त्रों के गंभीर अध्येता और उनसे अर्जित ज्ञान को अपने शिष्यों तक पहुंचाने वाले कुशल आचार्य भी थे। अपने पंथ में सम्मिलित होने वाले नवागन्तुक शिष्यों को सुशिक्षित और शास्त्रीय ज्ञान से पारंगत करने के लिये वे लगातार प्रयत्नरत तो रहते ही थे, अपनी शिक्षण-प्रक्रिया को ऐसा रूप देने में भी लगे रहते थे, जिससे वह अधिकाधिक प्रभावी और शिष्योपयोगी बनती रहे। अपनी मौलिक सूझ-बूझ और व्यावहारिक चतुराई से वे अपनी पाठ्य सामग्री को अत्यन्त सरल व बोधगम्य भी बना देते थे। उनकी शिक्षा का उद्देश्य शिष्यों को ज्ञान सम्पन्न ही नहीं, संस्कारित करना भी होता था क्योंकि संस्कार ही आगे चलकर ऐसे नियामक की भूमिका अदा करते हैं, जो व्यक्ति को कभी सही रास्ते पर चलने से विचलित नहीं होने देते, उसे गलत काम करने से रोकते हैं।

आचार्य तुलसी द्वारा प्रदत्त शिक्षा जीविका की नहीं, जीवन की शिक्षा होती थी। जीवन में ज्ञान और श्रम दोनों की ही जरूरत होती है। अकर्मण्य

व्यक्ति जीवन में कभी सफल नहीं होता। आचार्य श्री तुलसी का अभिमत था कि श्रम से विमुख होना विकास से विमुख होना है। अकेले ज्ञान की शिक्षा एकांगी होती है। श्रम का साथ होने पर ही उसमें पूर्णता और सार्थकता आती है। जो ज्ञान बिना श्रम के प्राप्त होता है, उससे आनन्दानुभूति नहीं होती। शिक्षा से तन, मन और मस्तिष्क—तीनों का विकास होना चाहिए। इसी को व्यक्तित्व का सर्वांगीण या बहुमुखी विकास कहा जाता है। जो शिक्षा इन तीनों का सन्तुलित विकास नहीं करती, वह मनुष्योपयोगी नहीं हो सकती।''

पुराने सभी शिक्षाशास्त्रियों की तरह आचार्य तुलसी भी मानते थे कि शिक्षा का प्रारम्भ रटने अर्थात् कण्ठस्थ करने से होना चाहिए। पहले नीति के श्लोकों, लघुसिद्धान्तकौमुदी के सूत्रों, कवियों के शिक्षाप्रद या भक्ति संबंधी दोहों, चौपाइयों की रटाई करवाई जाती थी, उनका अर्थ जानना या उपयोगिता बताना जरूरी नहीं समझा जाता था। बाद में अर्थ जानने की प्रक्रिया शुरू होती थी। यह इसलिए होता था क्योंकि पुस्तकीय ज्ञान धोखा दे सकता है लेकिन कण्ठस्थ ज्ञान आजीवन साथ रहता है। आचार्य तुलसी का मानना था कि स्मरण शक्ति को विकसित व तीव्र बनाने के लिये पहले विद्यार्थियों में रटने की आदत डालनी चाहिए। यह रटना एक प्रकार से पाठ्य सामग्री को स्मृति बैंक में डाल देने की तरह होता है। जीवन में जब कभी जरूरत होती है, विद्यार्थी इसमें से काम की चीज निकाल कर अपने उपयोग में ले सकता है।

अन्य शिक्षाशास्त्रियों की तरह आचार्य तुलसी भी शिक्षा की शुरूआत मातृभाषा से करने के पक्ष में थे क्योंकि यह वह भाषा होती है, जो बच्चे के घर परिवार, पास-पड़ोस और उसके स्थानीय परिवेश की बोली से मिलती-जुलती है। इसे सीखना आसान होता है क्योंकि इसमें बहुत कुछ अपना जाना-पहचाना सा लगता है। इस संदर्भ में यह जान लेना भी जरूरी है कि भाषा केवल संप्रेषण का माध्यम ही नहीं होती, वह संस्कृति की संवाहक भी होती है। अंग्रेजी भाषा को पढ़ते हुए विद्यार्थी पश्चिमी संस्कृति से स्वयं को पूरी तरह अछूता रख पाएं, ऐसा दिखाई नहीं देता।

आचार्य तुलसी यह मानते थे कि विद्यार्थी को सिखाया नहीं जाता, वह स्वयं सीखता है। गुरु तो केवल शिष्य के सीखने की प्रक्रिया को आसान

बनाता है, उसे अपने पथ से विचलित नहीं होने देता। इसके लिये वह एक सुविचारित योजना बनाता है, उसे सदा सक्रिय रखता है, उसकी छिपी व सोई क्षमता को जगाता व प्रोत्साहित करता है। यह सब तभी संभव होता है, जब दोनों के बीच के सम्बन्ध मधुर होते हैं। ध्यान रहे शिष्य में गुरु के प्रति आदर होना बहुत जरूरी है लेकिन यह आदर स्वत: प्रेरित हो, यह भी जरूरी है। इसी तरह गुरु में भी शिष्य के प्रति वात्सल्य एवं सहानुभूति का भाव होना आवश्यक है। जब दोनों के बीच इस तरह का सौहार्दपूर्ण वातावरण बनता है, तभी शिक्षण प्रक्रिया आसान व प्रभावी बनती है।

परीक्षोन्मुखी शिक्षा को आचार्यश्री हानिकारक मानते थे। इससे विद्यार्थी की सारी क्षमताओं का सही-सही आकलन नहीं हो सकता। असल में विद्यार्थी कोई निर्जीव वस्तु नहीं होता, वह एक जीता-जागता प्राणी होता है। उसका स्वभाव, सामर्थ्य और व्यक्तित्व उसका अपना होता है। इसीलिए हर शिष्य अपनी एक अलग पहचान और अलग विशेषता रखता है। उन सबको एक ही कसौटी से जांचा-परखा नहीं जा सकता। निरन्तर संपर्क में रहने के कारण गुरु ही यह बता सकता है कि कौन छात्र कैसा है, उसकी क्षमता कितनी है, वह किस विषय में कितना योग्य है और उसमें क्या-क्या विशेषताएं हैं अत: गुरु से बढ़कर शिष्य का अन्य कोई परीक्षक ऐसा नहीं हो सकता, जो उसकी सही-सही जांच कर सके।

शिक्षण में आचार्य तुलसी प्रश्नोत्तर विधि को सर्वाधिक महत्त्व देते थे लेकिन वे इसे यांत्रिक बना देने के पक्ष में नहीं थे। इस विधि से शिक्षक शिष्य की उपलब्धि को जांचता चलता है और शिष्य अपनी शंकाओं का समाधान करता रहता है। शिष्य का प्रश्न जिज्ञासा के लिए होना चाहिए, जिससे वह पठित सन्दर्भ में से कुछ जानकर अपने संशयों का निवारण कर सके। इसी तरह गुरु के प्रश्न भी शिष्य के ज्ञान की परख या समझ को जानने के लिए होने चाहिए।

उस शिक्षण को सार्थक या प्रभावी नहीं कहा जा सकता, जो विद्यार्थी को इतना संतुष्ट कर दे कि उसमें कुछ और जानने की इच्छा ही नहीं रहे। वास्तव में शिक्षण को अनन्त जिज्ञासा का द्वार खोलने वाला होना चाहिये।

क्योंकि वही व्यक्ति को आजन्म जिज्ञासु बनाए रख सकता है। जिज्ञासा में जितनी अधिक वृद्धि होगी, उतना ही ज्ञान का विस्तार होगा। इस प्रकार शिक्षा एक जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया है। यह औपचारिक शिक्षा की तरह एक खास समयावधि के बाद समाप्त नहीं हो जाती।

आचार्य तुलसी शिक्षक का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए कहते थे कि उस पर भावी पीढ़ी को निर्मित करने का दायित्व होता है इसलिए उसे साधारण मनुष्य के रूप में नहीं देखना चाहिए। एक अच्छे शिक्षक का निर्माण एक कठिन प्रक्रिया से, कठोर अभ्यास से गुजर कर होता है। जितना उन्नत शिक्षक का स्तर होता है, उसके शिष्य उतने ही अच्छे नागरिक बनते हैं।

आचार्य तुलसी के अनुसार शिक्षक का प्रयास यह होना चाहिए कि उसकी इच्छा के अनुरूप यदि कोई शिष्य प्रगति नहीं कर रहा है तो भी वह उसे हतोत्साहित न करे। संसार में कुछ भी असंभव नहीं होता, नेपोलियन का यह कथन शिक्षक के लिये एक आदर्श वाक्य हो सकता है। उसे यह जानना चाहिए कि अभ्यास करते-करते तो जड़मति भी सुजान हो जाते हैं। इसलिये उसे कभी भी आशा का सहारा नहीं छोड़ देना चाहिए।

विद्यार्थी के व्यवहार को नियमित करने का नाम ही अनुशासन होता है। स्वतः स्फूर्त अनुशासन ही सच्चा अनुशासन होता है। यदि गुरु स्वयं अनुशासित जीवन बिताते हैं तो निश्चय ही उनका असर बच्चों को भी आत्मानुशासित जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करता है। आचार्य तुलसी सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री एडम्स द्वारा प्रतिपादित दमनात्मक, प्रभावात्मक और मुक्त अनुशासन का प्रयोग समय, परिस्थिति और व्यक्ति की अपेक्षा देखकर करते थे। अनुशासन भंग होने पर वे अपने शिष्यों से जहां वज्रवत् कठोर व्यवहार करते थे, वहीं सृजनात्मक कार्य करने पर उनके प्रति वात्सल्य भाव भी रखते थे। उनके उदार, आदर्श और संयमित व्यक्तित्व का प्रभाव सदैव शिष्यों को अनुशासित रहने की प्रेरणा देता रहता था। वे छात्रावस्था में ही शिष्यों को इतना अनुशासित रखते थे कि शेष जीवन में वे स्वयं अपने ऊपर शासन करना सीख जाते थे। गुरुदेव तुलसी स्वीकार करते थे कि अनुशासन बलात् आरोपित नहीं, स्वकीय प्रेरणा से ही आना चाहिये।

इस प्रकार आचार्य तुलसी की जीवन-कथा में जगह-जगह उनके शिक्षण विषयक सूत्र बिखरे पड़े हैं। ये केवल सिद्धान्त मात्र नहीं, स्वयं अनुभूत प्रयोग हैं। वे एक ऐसे आध्यात्मिक महापुरुष थे, जो अन्य विविध दायित्वों के साथ एक आदर्श गुरू की भूमिका भी आजीवन निभाते रहे। वे मानते थे कि एक शिक्षक तभी तक शिक्षक रहता है, जब तक वह नित्य नवीन ज्ञान का अर्जन करता रहता है। उनकी पढ़ने-पढ़ाने की प्रवृत्ति के साथ जीवन-निर्माण की प्रक्रिया भी आजीवन चलती रही। वे अपनी शिक्षण शैली को अधिकाधिक प्रभावी बनाने के लिये निरन्तर नये-नये प्रयोग करते रहे। बच्चों के मनोविज्ञान को समझने में उन्हें अद्‌भुत निपुणता प्राप्त थी। शिक्षा में उनके प्रयोग न केवल आज बल्कि भविष्य में भी अनुकरणीय बने रहेंगे, इसमें किसी भी प्रकार के सन्देह की गुंजाइश नहीं है।

अन्त में दो शब्द प्रस्तुत पुस्तक की लेखिका डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा के बारे में लिखना इसलिये आवश्यक है क्योंकि उन्होंने आचार्यश्री तुलसी के विस्तृत जीवन-प्रसंगों से शिक्षा विषयक सामग्री को एकत्र करने और रोचक ढंग से प्रस्तुत करने में जिस तरह की विलक्षण योग्यता का परिचय दिया है, वह निश्चय ही प्रशंसा के योग्य है। अन्य शास्त्रों की तरह शिक्षाशास्त्र भी एक रूखा-सूखा विषय है लेकिन लेखिका ने आचार्यश्री की सूक्तियों, उदाहरणों, निजी अनुभवों, आत्मस्वीकृतियों, दृष्टान्तों आदि को जगह-जगह पर देकर इसे इतना सरल व सरस बना दिया है कि कोई भी सामान्य पाठक, जिसकी शिक्षा के बारे में अधिक जानकारी न हो, इसे पढ़कर आनन्द तो प्राप्त कर ही सकता है, ज्ञानार्जन भी कर सकता है। देश-विदेश के शिक्षाशास्त्रियों के दिए गए उद्धरण, उनकी व्याख्या और आचार्य प्रवर की बातों के साथ उनका सामंजस्य बैठा देना लेखिका की जिज्ञासु वृत्ति और अध्ययनशीलता को दर्शाता है। मैं आशा करता हूं कि यह पुस्तक शिक्षण संबंधी पुस्तकों की लम्बी सूची में अपना एक उल्लेखनीय स्थान बनाएगी।

३८३ स्कीम नं. २,
लाजपत नगर, अलवर
२० फरवरी, २०१२

सुरेश पंडित
लेखक एवं समाजकर्मी

अध्यापन-कौशल की मशाल

शिक्षा मानव-जीवन के विकास का आधार स्तम्भ होती है। शिक्षा के अभाव में मानव-जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह मनुष्य को उत्कृष्टता एवं उच्चता के शिखर पर स्थापित करती है। भारतीय शिक्षा का बीजारोपण सुदूर अतीत में आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व हो चुका था। प्राचीन भारत के मनीषी इस तथ्य से भलीभांति अवगत थे कि शिक्षा-व्यक्ति के सर्वांगीण विकास, समाज की चतुर्मुखी उन्नति और सभ्यता की बहुमुखी प्रगति की आधारशिला है अत: उन्होंने अध्यापन की ऐसी प्रशंसनीय प्रणाली का प्रतिपादन किया, जिससे विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास हो सके। उन्होंने ऐसी शिक्षण-पद्धतियों का आविष्कार किया, जिससे ज्ञान के विविध क्षेत्रों में मौलिक विचारों की भी अवगति हो सके। इसी कारण भारत का भाल आज भी गर्व और गौरव से उन्नत है। भारत की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए एफ. डब्ल्यू. टॉमस ने लिखा है—''भारत में शिक्षा विदेशी पौधा नहीं है। संसार का कोई भी ऐसा देश नहीं है, जहां ज्ञान के प्रति प्रेम का इतने प्राचीन समय में आविर्भाव हुआ हो या जिसने इतना चिरस्थायी और शक्तिशाली प्रभाव डाला हो।''

शिक्षा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए प्रसिद्ध शिक्षाविद् डॉ. ए. एस. अल्तेकर ने लिखा है—''शिक्षा प्रकाश और शक्ति का ऐसा स्रोत है, जो हमारी शारीरिक, मानसिक, भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों तथा क्षमताओं का निरन्तर सामंजस्यपूर्ण विकास करके हमारे स्वभाव को परिवर्तित करती है और उसे उत्कृष्ट बनाती है।''

तेरापंथ धर्मसंघ के नवम आचार्य गुरुदेव तुलसी समाज-सुधारक ही नहीं अपितु राष्ट्र उन्नायक भी थे। अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से उन्होंने गरीब की झोंपड़ी से लेकर राष्ट्रपति भवन तक नैतिकता के स्वर को बुलंद किया और देश में साम्प्रदायिक सौहार्द का वातावरण निर्मित किया।

उनके भगीरथ कार्यों का मूल्यांकन करते हुए कृतज्ञ राष्ट्र ने उन्हें ''इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता'' पुरस्कार प्रदान किया।

आचार्य तुलसी शिक्षा एवं अध्यापन के क्षेत्र में भी अपना उत्कृष्ट स्थान रखते थे। वे शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बताते हुए कहते हैं—''शिक्षा से मनुष्य अपने आपको आत्मानुशासित और सुसंस्कृत बना सकता है, शांति और अंत:तुष्टि के सच्चे मार्ग को प्राप्त कर सकता है, जीवन में आने वाली उन कठिनाइयों का सामना कर सकता है, जो उसके मार्ग को अवरुद्ध करती हों।''

आचार्य तुलसी एक दार्शनिक, कवि, विचारक, अणुव्रत अनुशास्ता एवं राष्ट्रसन्त होने के साथ-साथ एक सफल शिक्षक भी थे। किशोरावस्था में ही उनके भीतर का शिक्षक सक्रिय हो गया था, इस तथ्य को सिद्ध किया उन्होंने सात वर्ष की छोटी उम्र में अपनी ज्येष्ठा विधवा बहन को शिक्षा देकर। आचार्य तुलसी जब आचार्यपद पर आसीन हुए, उस समय स्त्री-शिक्षा पर पाबंदी थी। फिर भी उन्होंने तेरापंथ धर्मसंघ में साध्वियों को शिक्षा देने के साथ-साथ महिला-समाज को भी शिक्षा के लिए प्रेरित किया। अल्पायु में ही अपने कौशल व अनुशासन की कला से उन्होंने गुरु के मन में विश्वास पैदा कर दिया और बाईस वर्ष की अवस्था में वे विशाल धर्मसंघ के अधिशास्ता बन गए। आचार्य बनने पर भी उन्होंने अपने भीतर के शिक्षक को जीवित रखा। आचार्य तुलसी की दिनचर्या के प्रमुख कार्यों में से एक कार्य था—अध्यापन। उनका यह विश्वास था कि अध्यापन स्वयं का अध्ययन है, विकास का माध्यम है। इसी कारण जीवन के अंतिम समय तक वे जीवटता के साथ अध्यापन करते रहे। उनके अध्यापन-कौशल की विशेषता थी कि चाहे आगम, दर्शन, व्याकरण या संस्कृत-साहित्य कोई भी विषय हो, पूर्ण तन्मयता और सरसता के साथ वे अध्यापन करते थे। वे कहते थे—''उसी अध्यापक का ज्ञान महत्त्वपूर्ण है, जो विद्यार्थी के आचरण, व्यवहार और समझ को उन्नत और विवेकपूर्ण बनाए तथा एक से दूसरे मन

को जोड़ सके।''

आचार्य तुलसी ने समाज के समक्ष अनेक ऐसे मौलिक सूत्र प्रस्तुत किए, जिन्हें अपनाकर व्यक्ति सार्थक और प्रसन्न जीवन जी सकता है। उदाहरण के रूप में उनके चिन्तन की एक त्रिपदी प्रस्तुत है—''चिन्ता नहीं चिन्तन करो, व्यथा नहीं, व्यवस्था करो, प्रशंसा नहीं, प्रस्तुति करो। ये तीनों सूत्र जीवन को बदलने वाले सिद्ध हो सकते हैं, यदि हम इन्हें अपने जीवन में उतार लें।

डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञाजी लघुवय में ही आगम-सम्पादन और साहित्यिक कार्य से जुड़ी हुई हैं। उनका यह प्रयास निश्चित रूप से प्रशंसनीय है, जिन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ के माध्यम से ऐसे महान् दार्शनिक, विचारक, कवि, अणुव्रत अनुशास्ता एवं राष्ट्रसंत का शिक्षक रूप भी समाज के सम्मुख रखा है। समणीजी ने इस पुस्तक को लिखने हेतु अनेकों ग्रंथों का अध्ययन किया है, यह इस ग्रंथ की प्रत्येक पंक्ति से अवगत हो रहा है। उन्होंने आगम-सम्पादन के दुरूह कार्य के साथ-साथ आचार्य तुलसी के व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों को भी उद्घाटित किया है। प्रस्तुत ग्रंथ में उन्होंने 'आचार्य तुलसी के अध्यापन-कौशल' में अध्यापन से सम्बन्धित अनेक बिन्दुओं का सरस, सटीक एवं सुंदर वर्णन प्रस्तुत किया है।

हजारों शिक्षक ही नहीं, अपितु जनसामान्य भी इस ग्रंथ के माध्यम से शिक्षक के वास्तविक रूप से परिचित होंगे। इस ग्रंथ का प्रत्येक पृष्ठ संस्मरणों एवं जीवन्त प्रसंगों से उपन्यास की भांति रोचक ही नहीं, प्रेरक भी बन पड़ा है। मैं समणीजी को इस परिश्रम पूर्ण कार्य के लिए साधुवाद देता हूं और यह शुभकामना करता हूं कि वे अनवरत ऐसे विषयों पर अपनी कलम चलाकर, समाज को नई दिशा प्रदान करते रहें। उनके प्रति मेरी हार्दिक शुभकामना।

प्रो. डी. आर. जाट

स्वकथ्य

किसी भी राष्ट्र एवं समाज की बहुत बड़ी शक्ति होती है—अध्यापक वर्ग। इस वर्ग की प्रासंगिकता, अनिवार्यता और उपयोगिता कभी समाप्त नहीं हो सकती। इस वर्ग के कंधों पर राष्ट्र के भविष्य-निर्माण का गुरुतर दायित्व होता है। यदि इस दायित्व में थोड़ी-सी भी भूल रह जाती है तो समाज के निर्माण की नींव खोखली रह जाती है। आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में—''शिक्षक का मार्ग त्याग, बलिदान एवं साधना का मार्ग है। उसका जीवन जितना संयमित, सात्त्विक, नैतिक, निष्काम और अध्ययनशील होगा, वह उतना ही अधिक प्रभावी काम कर सकेगा।'' स्वामी विवेकानंद अनेक बार प्रेरणा देते हुए कहते थे कि हमें ऐसे शिक्षकों की आवश्यकता है, जिनके द्वारा विद्यार्थी के चरित्र का निर्माण होता है, मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, बुद्धि का विकास होता है और वह अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है।''

अन्य कलाओं की भांति शिक्षण भी एक महत्त्वपूर्ण कला है, शिक्षक उस कलाकार के समान होता है, जो अनगढ़ पत्थर को तराशकर पूज्य प्रतिमा का रूप प्रदान करता है। वर्तमान में शिक्षण-कौशल एवं शिक्षणविधियों पर बहुत अनुसंधान हो रहा है। आचार्य तुलसी ने न बी. एड. और एम. एड. किया तथा न ही शिक्षण-तकनीक से सम्बन्धित पुस्तकों का अध्ययन किया फिर भी अध्यापन-कौशल की सभी विशेषताओं में वे पारंगत थे। अध्यापन उनके व्यक्तित्व का नैसर्गिक गुण था। वे स्वयं को सदैव रचनात्मक बनाए रखते थे। उनकी परख इतनी पैनी थी कि प्रथम क्षण में ही उनको प्रत्येक विद्यार्थी साधु-साध्वी अथवा समण-समणी की क्षमता अथवा अक्षमता का बोध हो जाता था।

डॉ. जाकिर हुसैन ने अध्यापक को प्रेम, सहिष्णुता और त्याग की प्रतिमूर्ति माना है। आचार्य तुलसी के अध्यापन-कौशल में इस त्रिपुटी का सम्यक् समावेश था। गुरुदेव तुलसी में धैर्य, आत्मशक्ति, लगन और दूसरों के लिए कुछ कर गुजरने की दृढ़ इच्छाशक्ति थी इसीलिए विद्यार्थी साधु-साध्वी या समण-समणियों के लिए वे प्रतिदिन अध्यापन करते थे। अध्यापन-कार्य

में उनकी आंतरिक अभिरुचि थी अत: इसमें उनको आत्म-तोष का अनुभव होता था। बिना किसी कारण के अत्यन्त शारीरिक थकान की स्थिति में भी वे अध्यापन में अवरोध नहीं आने देते थे। शिक्षण के प्रति उनके प्रेम का प्रमाण यह है कि अपने जीवन-काल में उन्होंने लाखों विद्यार्थियों एवं हजारों शिक्षण-संस्थानों में प्रवचन किए।

उनका अध्यापन केवल पुस्तक से ही नहीं होता था, प्रकृति के विभिन्न रूपों से भी वे प्रतिबोध देते रहते थे। शेक्सपीयर की इस पंक्ति को उन्होंने साक्षात् जीया था—''चट्टानों में उपदेश छिपे हैं और बहते झरनों में पुस्तकें।'' प्रकृति के माध्यम से दिए गए उनके प्रतिबोधों का संकलन किया जाए तो एक स्वतंत्र पुस्तक तैयार हो सकती है। इस पुस्तक में भी ऐसे कुछ संस्मरण संदृब्ध हैं।

आचार्य तुलसी किसी विद्यालय, महाविद्यालय या विश्वविद्यालय के अध्यापक नहीं थे लेकिन शिक्षा के ये तीनों संस्थान उनके साथ हर समय चलते थे। क्रांतिकारी आधुनिक शिक्षाशास्त्री इवान इलिच आदि ने जिस विद्यालय मुक्त नवीन शिक्षा पद्धति 'नवाचार' की खोज की, उसके वे जीवन्त उदाहरण थे। आचार्य तुलसी ने कालूगणी के निर्देश से इस पद्धति का प्रारम्भ आज से ८४ वर्ष पूर्व कर दिया था। उनके पास पढ़ने वाले विद्यार्थी ज्ञान और आचार में विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों से कई गुना आगे हैं। आचार्य तुलसी के अध्यापन-कौशल से निखरी त्रिपुटी इसकी स्वयंभू प्रमाण है—आचार्य महाप्रज्ञ, आचार्य महाश्रमण और साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा। इस संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं—''मैं अनुभव करता हूं कि आचार्यश्री ने जिस अनुशासन और कौशल के साथ हमारे जीवन का निर्माण किया, ऐसे अध्यापक भी संसार में शायद नहीं मिलेंगे।''

आचार्य तुलसी कोरे आदर्शवादी ही नहीं, अपितु यथार्थवादी अध्यापक थे। यथार्थवादी होने के कारण उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। वे विद्यार्थी का आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व तैयार करना चाहते थे तथा वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करने की कला का समय-समय पर प्रशिक्षण देते रहते थे। इस संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं—''बहुत वर्षों पूर्व विवेकानंद ने

अध्यात्म और विज्ञान के सम्बन्ध की परिकल्पना प्रस्तुत की, किन्तु उसके क्रियान्वयन का श्रेय आचार्य तुलसी को मिला।''

प्राचीन काल में ऋषि को ही शिक्षक कहा जाता था। आचार्य तुलसी ने भारत की इस गौरवशाली परम्परा को वर्तमान में सुरक्षित रखा। आचार्य तुलसी वाक्शूर नहीं, अपितु कर्मशूर थे। वे अपने शब्दों से ही नहीं, बल्कि आचरण से भी अध्यापन करते थे। अध्यापन के दौरान उनकी जीवन-शैली और व्यवहार से अनेक जीवन्त प्रेरणाएं मिलती रहती थीं। उनको कुशल अध्यापक का रोल मॉडल कहा जा सकता है। **वे अध्यापन के साथ इस बात का विशेष लक्ष्य रखते थे कि जो कुछ पढ़ाया जाए, वह जीवन से सम्बन्धित हो तथा जीवन से निकलता हो। आचार्य तुलसी स्वयं को जीवन भर विद्यार्थी मानते रहे। उनकी बद्धमूल आस्था थी कि जब तक शिक्षक विद्यार्थी नहीं बनता, तब तक वह अच्छा शिक्षक नहीं हो सकता।** आचार्य तुलसी समय-समय पर प्रखर और ऊर्जस्वल पीढ़ी को तैयार करके उसे संघ के चतुर्मुखी विकास में सुनियोजित कर देते थे।

आचार्य तुलसी के सम्पूर्ण अध्यापन-कौशल को शब्दों में उतारना असंभव नहीं तो दु:साध्य अवश्य है। शब्दों की सीमित क्षमता एवं अल्पज्ञान से उस कौशल को कलम की नोक से कागज पर उतारना वैसा ही उपक्रम है, जैसा ऊर्ध्व बाहु होकर आकाश को मापने का प्रयत्न या भुजाओं से सागर को पार करने का संकल्प। फिर भी इतना विश्वास अवश्य है कि यह पुस्तक अनेक संवेदनशील अध्यापकों को उनके जीवन का लक्ष्य प्राप्त कराने में सहयोगी बनेगी तथा उनके जीवन को आदर्श के सांचे में ढ़ाल सकेगी।

सरसता की दृष्टि से इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर विषयानुरूप अनेक संस्मरणों का प्रयोग हुआ है। इन संस्मरणों के मुख्यत: निम्न स्रोत रहे हैं—प्रेरणा : पल दो पल की (भाग १-५) (संपा. साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा), आचार्य तुलसी : अपनी ही छाया में (मुनि सुखलाल), बोलते चित्र (मुनि गुलाबचंद), जैन भारती का आंखों देखा : कानों सुना स्तम्भ तथा तेरापंथ टाईम्स में कुछ देखा : कुछ सुना स्तम्भ (मुनि श्री दिनेशकुमार) आदि। इस पुस्तक का प्रत्येक संस्मरण अध्यापकों की चेतना को झंकृत करने में सहयोग

करेगा, ऐसा मेरा दृढ़ आत्म-विश्वास है।

सन् १९८६ आचार्य तुलसी के पदारोहण के अमृत महोत्सव पर मेरे मन में एक चिंतन उभरा था कि आचार्य तुलसी पर २१ पुस्तकें लिखनी हैं। तब से अवचेतन मन में एक लक्ष्य बन गया, जहां कहीं भी आचार्य तुलसी से सम्बन्धित कोई महत्त्वपूर्ण बात मेरे ध्यान में आती, मैं तत्काल उसको कागज पर उतार कर एकत्रित करती रहती। 'एक बूंद : एक सागर' के संकलन के समय प्राय: सभी जैन भारती, अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, विज्ञप्ति और युवादृष्टियों का अवलोकन किया। उस समय बहुत सामग्री प्राप्त हो गई। इसके अतिरिक्त आचार्य श्री की उपासना में कोई घटना घटती, उसे भी लिपिबद्ध कर लेती। अध्यापन के दौरान गुरुदेव कोई कथा सुनाते उसके भी नोट्स ले लेती। उसी के परिणामस्वरूप आज यह ग्रंथ सबके हाथों में है। आचार्य तुलसी के महनीय व्यक्तित्व के एक महत्त्वपूर्ण पहलू को उजागर करने में मुझे जितने आनंद का अनुभव हुआ, उससे कई गुना अधिक आनंद पाठकों को इसे पढ़ने में आएगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

आचार्य तुलसी के अनंत उपकारों से मेरा रोम-रोम अभिस्नात है। उनके प्रति मेरी अव्यक्त श्रद्धा उस समय से है, जब मैंने उनको देखा भी नहीं था। उस समय मैं मात्र दस-ग्यारह वर्ष की थी। सन् १९७० में रायपुर काण्ड के समाचार उत्तरप्रदेश के प्रसिद्ध समाचार-पत्र 'अमर उजाला' में प्रकाशित होते थे। अखबार पढ़ने का आकर्षण न बचपन में था और न ही आज। पूरे महीने के दो-तीन तरह के अखबार लाईब्रेरी से मंगवाकर मात्र आधा-एक घंटे में देख लेती हूं लेकिन यह बात मुझे आज भी अच्छी तरह याद है कि आगरा में उस समय मैं प्रतिदिन ध्यान से अखबार में यह देखा करती थी कि आज अखबार में रायपुर के बारे में क्या छपा है? आचार्य तुलसी कैसे हैं? कहीं कोई नया विरोध तो खड़ा नहीं हुआ? चूरू चातुर्मास में परमाराध्य आचार्यवर के प्रथम बार दर्शन किए। प्रथम दर्शन में ही मन श्रद्धा से प्रणत हो गया और यावज्जीवन विवाह न करने का संकल्प व्यक्त किया। गुरुदेव ने मेरी परीक्षा ली लेकिन मेरा संकल्पबल प्रबल था, बचपन से जीवन में कुछ नया करने की तीव्र अभीप्सा थी। तब से लेकर आज तक मेरी श्रद्धा प्रवर्धमान रही है। उसमें

कभी कोई छेद नहीं हुआ। जीवन के उतार-चढ़ाव एवं संघर्ष की स्थितियों में भी श्रद्धाबल ने मुझे स्थिर और कर्मशील बनाए रखा। आज भी लक्ष्य से प्रतिकूल विचार आते ही आचार्य तुलसी मेरे सामने सेनापति की भांति सन्नद्ध होकर खड़े हो जाते हैं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि उस इंद्रधनुषी व्यक्तित्व के विविध पक्षों पर अनेक पुस्तकें लिखी जाएं। कैसे संभव होगा, नहीं कहा जा सकता क्योंकि सदेह अवस्था में भी जब उनको ज्ञात हो जाता कि मैं उनके बारे में कुछ लिख रही हूं तो वे तत्काल उसको बंद करवा देते थे। उनके परम्परित पट्टधर आचार्य महाश्रमण का भी यही चिंतन है कि आगमों पर कार्य करना आचार्य तुलसी की ही सेवा है। खैर, हमारे हाथ में तो इतना ही है— **'कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन'।**

मुझे हर क्षण यह अनुभूति होती रही है कि मेरे हाथ में तो केवल लेखनी रहती है, जो कुछ लिखा गया या लिखा जाएगा, वह सब पूज्य आचार्य तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ एवं आचार्य महाश्रमण की कृपा और शक्ति-संप्रेषण का प्रसाद है। वंदनीया महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी की वात्सल्यमयी प्रेरणाएं मेरी पथ-प्रदर्शिका हैं। आदरणीया मुख्य नियोजिकाजी का आत्मीय सहयोग कार्य-संपूर्ति में मूल्यार्ह है। नियोजिका समणी मधुरप्रज्ञाजी की उदारता एवं समस्त समणीवृंद के सहयोग का स्मरण करती हुई यह विश्वास व्यक्त करती हूं कि गुरुकृपा, संघ-शक्ति और बुजुर्ग साधु-साध्वियों के आशीर्वाद से मैं जीवन की अंतिम सांस तक संघ और संघपति की प्रभावना में अहर्निश लगी रहूंगी।

वेद एवं उपनिषदों के गहन ज्ञाता एवं योग साधक स्वामी अनंत भारती कुलपति जैसे अनेक उच्च शैक्षणिक पदों को सुशोभित कर चुके हैं। सुप्रसिद्ध लेखक एवं समाजकर्मी सुरेश पंडित तथा अनेक विषयों के ज्ञाता राजस्थान विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष प्रो. डी. आर. जाट—इन तीनों विद्वानों के द्वारा लिखे गए प्राक्कथन के लिए मैं हृदय से कृतज्ञ हूं, जिन्होंने व्यस्त क्षणों में समय निकालकर लेखनी चलाई है।

लाडनूं　　**डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा**

१४.२.२०१२

विषय सूची

१.	अध्यापक का महत्त्व।	१
२.	अध्यापन का उद्देश्य।	४
	* शक्ति का जागरण।	७
	* सामंजस्य एवं संतुलन का विकास।	८
	* सच्चिदानंद की प्राप्ति।	१०
	* चारित्रिक उन्नयन।	११
	* लक्ष्यप्रतिबद्धता की प्रेरणा।	१२
	* संवेग-नियंत्रण का अभ्यास।	१४
	* विनयपूर्ण व्यवहार।	१५
	* जीविका नहीं, जीवन का प्रशिक्षण।	१५
	* जीवन का रूपान्तरण।	१७
३.	अध्यापक के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य।	२०
	* ओजस्वी स्वर एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व।	२२
	* विषय का गंभीर ज्ञान।	२३
	* मानसिक स्वास्थ्य एवं सृजनधर्मिता।	२३
	* सागर सी गंभीरता।	२४
	* आत्मानुशासन का विकास।	२५
	* अटूट धैर्य एवं औदार्य।	२६
	* गहरी ग्रहणशीलता।	२७
	* समाधायक चेतना।	३०
	* उत्साह और आशावादिता	३१
४.	बालवय में अध्यापक।	३२
५.	सतत सीखने में अभिरुचि।	४१
६.	प्रेरणा देने की कला।	४८

७.	संभावनाओं की परख एवं नियोजन।	६५
८.	अध्यापन के साथ जीवन-मूल्यों का समावेश।	७५
९.	श्रद्धा और आत्मविश्वास का संचरण।	८३
१०.	आचरण और व्यवहार में एकरूपता का शिक्षण।	८८
११.	अनुशासन का महत्त्व।	९६
१२.	स्वतंत्रता की अनुभूति।	१०७
१३.	अध्यापक और विद्यार्थी का संबंध।	११३
१४.	विद्यार्थियों के साथ तादात्म्य।	११७
१५.	अध्यापन में तन्मयता।	१२३
१६.	अध्यापन में नियमितता।	१२६
१७.	एकाग्रता का प्रतिबोध।	१३०
१८.	जागरूकता का प्रशिक्षण।	१३६
१९.	समय-प्रबंधन की प्रेरणा।	१३८
२०.	ज्ञान-दान में उदारता।	१४१
२१.	निष्पक्ष व्यवहार।	१४५
२२.	अध्यापन में प्रायोगिकता।	१४७
२३.	नए तथ्यों के अन्वेषण की प्रेरणा।	१५१
२४.	शिक्षण में सम्प्रेषण की कला।	१५४
२५.	अध्यापन में सरसता एवं सतर्कता।	१५६
२६.	शिक्षण के साथ विनोदप्रियता।	१६०
२७.	प्रोत्साहन और प्रतिकार।	१६३
२८.	व्यक्तित्व-निर्माण की कला।	१७७
२९.	अध्यापन के साथ सर्वांगीण विकास।	१८०
३०.	जीवन-व्यवहार का प्रशिक्षण।	१८६
३१.	अनेक विषयों का अध्यापन।	१९२
३२.	संस्कृति का संवहन।	१९५

३३.	कंठस्थ ज्ञान एवं उसके अर्थ की प्रेरणा।	२०२
३४.	मनन एवं पुनरावर्तन की प्रेरणा।	२०९
३५.	प्राचीन भाषा के अध्ययन की प्रेरणा।	२१४
३६.	अध्यापन में शिक्षण-विधियां।	२२२
३७.	प्रश्नोत्तर शैली।	२२९
३८.	जिज्ञासा और समाधान।	२३६
३९.	अध्यापन में दृष्टान्त, रूपक एवं सुभाषितों का प्रयोग।	२३९
४०.	अध्यापन में प्रेरक कथाओं का प्रयोग।	२४१
४१.	पत्रों के माध्यम से अनौपचारिक शिक्षण।	२४५
४२.	अध्यापन में आशुकवित्व का प्रयोग।	२४८
४३.	उच्चारण-शुद्धि का अभ्यास।	२५२
४४.	शिष्ट व्यवहार का प्रशिक्षण।	२५८
४५.	अध्यापन हेतु नए ग्रंथों का निर्माण।	२६०
	* कर्तव्यषट्त्रिंशिका एवं शिक्षाषण्णवति की रचना।	२६०
	* जैन तत्व प्रवेश की रचना का इतिहास।	२६१
४६.	नारी-शिक्षा के उत्प्रेरक	२६३
४७.	अध्यात्म का प्रशिक्षण।	२६७
४८.	अध्यापकों के निर्माता।	२८०-२८५

शिक्षक कौन ?

१. शिक्षक एक भविष्यवक्ता है, वह कल की आधारशिला रखता है।

२. शिक्षक एक कलाकार है, वह मूल्यवान् लसदार मिट्टी के साथ व्यक्तित्व को प्रकट करने का कार्य करता है।

३. शिक्षक एक मित्र है, उसका हृदय अपने विद्यार्थियों की श्रद्धा एवं भक्ति के प्रति संवेदनशील होता है।

४. शिक्षक एक नागरिक है, उसका चयन एवं अनुमति समाज की उन्नति के लिए होता है।

५. शिक्षक एक अर्थ-प्रकाशक है, अपने परिपक्व एवं विस्तृत जीवन से वह उसका निर्देशन करता है।

६. शिक्षक एक निर्माता है, वह उच्च एवं उत्तम सांस्कृतिक मूल्यों के साथ निर्माण-कार्य करता है।

७. शिक्षक एक सांस्कृतिक वाहक है, वह बहुमूल्य रुचियों, स्वस्थ मनोवृत्तियों, मनोहर आचरण, उच्च बुद्धि की ओर मार्ग-प्रदर्शन करता है।

८. शिक्षक एक योजक है, वह जीवन को अपने सम्मुख एक बड़ी व्यवस्था का अंग मानता है, जो सत्य प्रकाश में दृढ़ हो जाता है।

९. शिक्षक एक अग्रगामी है, वह सदैव असंभव की चेष्टा करता है और उसे जीतता है।

१०. शिक्षक एक सुधारक है, वह उन अवरोधों को दूर करने की चेष्टा करता है, जो जीवन को नष्ट करते हैं।

११. शिक्षक विश्वासी है, उसमें जाति को सुधारने का स्थायी विश्वास होता है। **(शिक्षण-कला से उद्धृत पृ. १६, जॉय एल्मर मार्गन)**

१. अध्यापक का महत्त्व

''अध्यापक के सामने बड़े से बड़े व्यक्ति ने सिर झुकाया है। सांसारिक ऐश्वर्य एवं विभुता उसके महत्त्व के आगे तुच्छ है।'' एक विचारक की ये पंक्तियां अध्यापक के सार्वभौम महत्त्व को उजागर करने वाली हैं। पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री जॉन ड्यूवी ने 'एजूकेशन ऑफ टुडे' नामक ग्रंथ में शिक्षक के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है—''शिक्षक बालक के लिए सदैव परमात्मा का पैगम्बर होता है, जो परमात्मा के सच्चे राज्य में प्रवेश कराने वाला है।''[१] एक अध्यापक स्रष्टा की भांति समाज की भावी पीढ़ी का निर्माण करके समाज द्वारा उत्पन्न शून्य को भरने का प्रयत्न करता है। यदि उसके दायित्व में कमी रहती है तो उसे क्षम्य नहीं माना जा सकता।

ऋग्वेद[२] के सूक्त में शिक्षक का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है—''हे ज्ञान और ऐश्वर्य के स्वामी आचार्य! आप पिता के समान शुभचिन्तक तथा बुद्धि के स्वामी हैं अत: हमें पूर्णत: शिक्षित कीजिए।'' के. जी. सैयदैन ने अपनी पुस्तक 'पुनर्रचना' में अध्यापक का वैशिष्ट्य बताते हुए कहा है—''किसी भी शिक्षा-पद्धति में अध्यापक का जितना महत्त्व होता है, उतना अन्य सभी शिक्षा-संबंधी उपकरणों को मिलाकर भी नहीं होता—जैसे पाठ्यचर्या, पाठ्य पुस्तकें, सामग्री, इमारत आदि। यदि हम ऐसे अध्यापक नहीं ढूंढ़ सकते, जो बहुत समझदार हों और जिनमें उच्चस्तर की कर्तव्य-परायणता की भावना तथा अपने काम के प्रति लगन हो तो शिक्षा की किसी भी योजना के सफल होने की आशा नहीं की जा सकती।'' गुरुदेव श्री तुलसी के शब्दों में —''जैसे एक दीपक से सैकड़ों दीपक जल सकते हैं, उसी प्रकार एक अध्यापक का निर्मित जीवन सैकड़ों विद्यार्थियों के जीवन का निर्माण कर सकता है।'' बालकों का फूल-सा कोमल जीवन शिक्षक के हाथों से विकसित होता है।

---

१. शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त, पृ. १५९, पाठक एवं त्यागी।

२. ऋग्वेद ७/२९/४।

अध्यापक विद्यार्थी की योग्यता में वृद्धि करके उसे समाज में समायोजित होने की कला सिखाता है तथा बदलते परिवेश एवं परिवर्तित पर्यावरण में सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता को जागृत करता है।'' डॉ. सिद्धेश्वर के अनुसार शिक्षक का कार्य है, विद्यार्थी के विवेक को जगाना और ऐसे मनुष्य का निर्माण करना, जो परम्परा के मूल्यवान् पक्ष से जुड़े रहकर भी प्रगति की नई सम्भावनाओं के प्रति ग्रहणशीलता रखे।''[१]

प्राचीन काल में 'आचार्य देवो भव' की संस्कृति में जीवन भर व्यक्ति की पहचान उसके गुरु के नाम से होती थी क्योंकि वह शिष्य के मन के अज्ञान को मिटाकर उसमें सत्यान्वेषण की प्रेरणा जगा देता था लेकिन वर्तमान में शिक्षा का व्यवसायीकरण होने से शिक्षकवर्ग ने अपनी इस उज्ज्वल छवि को धूमिल और पंकिल कर दिया है इसलिए शिक्षक और विद्यार्थी के बीच भावनात्मक संबंध समाप्त-सा हो गया है। बाल कवि वैरागी अपनी पीड़ा को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—'' आज कॉलेज और यूनिवर्सिटी में भीड़ इसलिए बढ़ रही है कि उन्हें अच्छी से अच्छी आजीविका मिले। **अध्यापक विद्यार्थियों के मन में इस बात को संप्रेषित करना भूल गए हैं कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने का मूल लक्ष्य है—ज्ञान की प्राप्ति और सत्य की खोज। समय और काल ने भारत को गुरुओं के बदले टीचरों, मास्टरों, प्रोफेसरों, व्याख्याताओं और प्राचार्यों का देश बनाकर रख दिया है। गुरु की महिमा आज खोज और शोध का तत्त्व हो गई है।**''[२]

प्राचीनकाल में गुरु विद्वान् तैयार नहीं करके शिक्षित तैयार करते थे। डॉ. लक्ष्मीलाल के. ओड के अनुसार भारत में विद्वान् उसे कहा जाता है, जिसने अनेक ग्रन्थों तथा विद्याओं का ज्ञान अर्जित किया हो परन्तु उसे शिक्षित तब तक नहीं माना जा सकता, जब तक कि उसमें विवेक, गांभीर्य तथा औदार्य आदि गुणों का प्रादुर्भाव न हुआ हो। जिस व्यक्ति में इन गुणों

१. शिक्षा : एक सार्थक परिसंवाद।
२. शिक्षा : एक सार्थक परिसंवाद।

का विकास हुआ है, वह विद्वान् हुए बिना भी शिक्षित माना जा सकता है।''[१]

जे. कृष्णमूर्ति ने सच्चे अध्यापक की जो कसौटियां प्रस्तुत की हैं, वे उसके व्यक्तित्व के माहात्म्य को प्रकट करने वाली हैं—''सच्चा अध्यापक अभ्यंतर में समृद्ध होता है अत: अपने लिए कुछ नहीं चाहता, वह महत्त्वाकांक्षी नहीं होता, ...वह अपने अध्यापन को पद अथवा सत्ताधिकार प्राप्त करने का साधन नहीं बनाता.....सच्ची संस्कृति इंजीनियरों और टेकनीशियनों पर नहीं, अपितु शिक्षकों पर आधारित होती है।''[२]

निस्संदेह, यह आवश्यक है कि पहले अध्यापक स्वयं समझना आरम्भ करे। उसे निरन्तर चौकन्ना रहना चाहिए तथा स्वयं अपने विचारों और भावनाओं के प्रति अत्यन्त जागरूक होना चाहिए। उसे उन तरीकों के प्रति जागरूक होना चाहिए, जिनसे वह प्रतिबद्ध है। उसे अपनी क्रियाओं और अनुक्रियाओं के प्रति जागरूक होना चाहिए। इसी जागरूकता से प्रज्ञा आती है और इसी से अन्य व्यक्तियों तथा वस्तुओं के साथ उसके सम्बन्ध में मौलिक परिवर्तन होता है।

शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व पृ. ८०, जे. कृष्णमूर्ति

---

१. शिक्षा के नूतन आयाम पृ. २२५।

२. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ. ७५।

२. अध्यापन का उद्देश्य

अध्यापन से पूर्व शिक्षक का प्राथमिक कर्तव्य होता है कि वह विद्यार्थी के समक्ष ज्ञान-प्राप्ति का उद्देश्य स्पष्ट करे। उद्देश्यहीन शिक्षण विद्यार्थी को विद्वान् तो बना सकता है पर शिक्षित और शक्ति सम्पन्न नहीं बना सकता। लक्ष्य के साथ उद्देश्यपूर्ण और सुनियोजित अध्यापन करवाने से विद्यार्थियों की चेतना में जागृति की नई करवट अंगड़ाई लेने लगती है। उद्देश्य स्पष्ट हुए बिना विद्यार्थी के मन में जीवन और गहन ज्ञान के प्रति सही दृष्टिकोण जागृत नहीं हो सकता। अध्यापक का कार्य विद्यार्थी की आंखें खोलना है, जिससे वह हर वस्तु को स्पष्टता से देख सके और अपने जीवन में आने वाली समस्याओं का समाधान कर सके। जैनेन्द्रजी के अनुसार ''शिक्षक ज्ञान ऊपर से डालता नहीं, भीतर से जगाता है। जगा हुआ व्यक्ति अपने को आस-पास से कटा हुआ अनुभव नहीं करेगा, हर परिस्थिति में उपयोगी होने का मंत्र उसके हाथ में आ जाएगा।''[१] आचार्य तुलसी का मंतव्य था कि लक्ष्यहीन अध्यापक और विद्यार्थी—इन दोनों के जीवन में न कोई रस होता है और न ही आनंद। वे घाणी के बैल की भांति दिन-रात जुते रहने पर भी विकास की यात्रा नहीं कर सकते।''[२]

लक्ष्यहीन अध्यापक बहुमूल्य समय को बातों या निरर्थक ज्ञान देने में व्यतीत कर देता है। एक विद्यालय में विज्ञान का अध्यापक विद्यार्थियों के मुख में कीड़ा रख देता था। वह कीड़ा थूकने वालों को ५ नम्बर, निगलने वालों को १० नम्बर तथा चबाकर खाने वाले को २० नम्बर देता था। ऐसा प्रयोजनरहित और लक्ष्यहीन अध्यापक १०० वर्ष तक चलने वाली प्राण ऊर्जा को ५० वर्ष में ही चुका देता है। वर्तमान में शिक्षा का उद्देश्य सूचनाएं देना और व्यावसायिक दृष्टि से विविध क्षेत्रों में कला-कौशल की वृद्धि करना है। जीवन का आंतरिक

---

१. शिक्षा और संस्कृति पृ. १८।

२. २८/२/९३ के प्रवचन का अंश।

पक्ष उससे छूट-सा गया है। **पूज्य गुरुदेव तुलसी कहते थे कि उसी अध्यापक का ज्ञान महत्त्वपूर्ण है, जो विद्यार्थी के आचरण, व्यवहार और समझ को उन्नत और विवेकपूर्ण बनाए तथा एक से दूसरे मन को जोड़ सके।''**

प्राय: सभी धर्मग्रंथों में विद्याध्ययन के उद्देश्य प्रकीर्णक रूप से मिलते हैं। भगवान् महावीर ने दशवैकालिक सूत्र में शिक्षा-प्राप्ति के चार उद्देश्यों की चर्चा की है—

* मुझे ज्ञानी बनना है इसलिए मैं अध्ययन करूंगा।
* मुझे एकाग्रचित्त बनना है इसलिए मैं अध्ययन करूंगा।
* मुझे मन पर नियन्त्रण करना है, संयम और सदाचार को अपनाना है इसलिए मैं अध्ययन करूंगा।
* मुझे अन्य लोगों को संयम व सदाचार के प्रति प्रेरित करना है इसलिए मैं अध्ययन करूंगा।[१]

वैदिक ऋषियों ने ज्ञानार्जन के उद्देश्य को प्रस्थानत्रयी के रूप में अभिव्यक्त किया है—''असतो मा सद् गमय, मृत्यो र्मा अमृतं गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय''—अर्थात् बुराई से अच्छाई की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर तथा अंधकार से प्रकाश की ओर जाना ही विद्याध्ययन का मूल उद्देश्य है।

स्वामी विवेकानंद ने सच्चे ज्ञानी के लक्षण एवं उद्देश्यों को इन बिन्दुओं में व्यक्त किया है—

* ज्ञान को कभी किसी पार्थिव फल से नहीं जांचा जा सकता अत: ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञानी की कोई कामना नहीं होती।
* प्रकृष्ट इंद्रिय-संयम।
* हर कष्ट को समता से सहन करने का मनोभाव।
* भौतिक पदार्थों का अनाकर्षण तथा मुक्ति की तीव्र चाह।

---

१. (क) दश ९/४/५।

(ख) स्थानांग सूत्र (५/२२४) में ज्ञान-प्राप्ति के पांच उद्देश्य मिलते हैं—१. ज्ञान-प्राप्ति २. सुदृढ़ श्रद्धा की प्राप्ति ३. उच्च चारित्र का विकास ४. कलह-निवारण ५. यथार्थ पदार्थों का ज्ञान।

* हर वस्तु का शुद्ध विवेक और इच्छा-शक्ति द्वारा उसका विश्लेषण।

समय-समय पर आचार्य तुलसी के मुख से शिक्षा के उद्देश्य मुखरित होते रहते थे। यहां उनके मुख से उद्‌गीर्ण शिक्षा के उद्देश्य स्फुट रूप में प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

* शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सिर्फ जीना सिखाना ही नहीं, अपितु सार्थक, ऊर्ध्वमुखी और विकासशील जीवन जीना सिखाना है।[१]

* विद्यालय में जाने का उद्देश्य केवल डिग्री प्राप्त करना ही नहीं, अपितु जीवन में पर्वत सी ऊंचाई और सागर सी गंभीरता प्राप्त करना है। जिस शिक्षा से अनुशासन, धैर्य, सहअस्तित्व, जागरूकता आदि जीवन-मूल्यों का विकास नहीं होता, उस शिक्षा की जीवन्तता के आगे प्रश्नचिह्न उभर आता है।

* शिक्षा का उद्देश्य है—अपने आपको आत्मानुशासित और सुसंस्कृत बनाना, शांति और अंत:तुष्टि के सच्चे मार्ग को पाना, उस पर चलने की योग्यता प्राप्त करना तथा जीवन में आने वाली कठिनाइयों को पार करने की शक्ति अर्जित करना।

* मेरी दृष्टि में शिक्षा के मुख्यत: तीन उद्देश्य होने चाहिए—

१. चित्त की निर्मलता

२. बौद्धिक और मानसिक विकास

३. संस्कारों का परिष्कार।[२]

पूज्य गुरुदेव समय-समय पर आगम-सूक्तों एवं सुभाषितों के माध्यम से भी शिक्षा और जीवन का लक्ष्य स्पष्ट करते रहते थे, जिससे विद्यार्थी साधु-साध्वियों की कार्य की दिशा लक्ष्योन्मुख हो जाती थी। निम्न आगमिक सूक्त और सुभाषित तो अनेक बार उनके मुख से प्रेरणा के रूप में निकलते रहते थे—

* समयं गोयम! मा पमायए

१, २. एक बूंद : एक सागर, पृ. १०१३।

* इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं

* णो णीहेज्ज वीरियं

* विद्या ददाति विनयम्

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार अध्यापन का उद्देश्य तभी पूर्ण होता है, जब शिक्षा के चार अंग सुदृढ़ हों—

* उद्देश्य की पूर्ति करने वाली पाठ्य पुस्तकें।

* उद्देश्य की दिशा में सहायता करने वाला शिक्षक।

* उद्देश्य की पूर्ति में सहायक वातावरण।

* उद्देश्य की पूर्ति में प्रेरक बनने वाले अभिभावक।

यह चतुष्पदी शिक्षा को सर्वांङ्गीण बनाती है।

मुख्यत: अध्यापन के उद्देश्यों को निम्न बिंदुओं में प्रकट किया जा सकता है—

शक्ति का जागरण

श्री अरविंद घोष के अनुसार शिक्षा का मूल उद्देश्य मस्तिष्क को ज्ञान से भरना नहीं अपितु जन्मजात सुप्त दैवीय शक्ति को विकसित करके विद्यार्थी को आध्यात्मिक पूर्णता की ओर अग्रसर करना है तथा व्यष्टि और समष्टि की संकीर्ण सीमा से निकालकर विद्यार्थी को मानवतावादी बनाना है। रूसो और फ्रोबेल भी नैसर्गिक और जन्मजात शक्तियों के जागरण को शिक्षा का उद्देश्य मानते थे।[१] जॉन ड्यूवी के अभिमत से शिक्षा व्यक्ति की उन सब शक्तियों का विकास है, जिनसे वह अपने आस-पास के वातावरण पर अधिकार प्राप्त कर सके और भावी आशाओं को पूरा कर सके इसलिए अध्यापन का उद्देश्य है—गतिशील और लचीले मन का निर्माण।[२] अरस्तू ने इसी विचार का समर्थन करते हुए कहा—''शिक्षा बाहर से लादने की वस्तु नहीं, वह विशेष रूप से मानसिक शक्ति का विकास करती है, जिससे विद्यार्थी सत्यं, शिवं और

१. Froble : op cit p. 279।

२. शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त पृ. १५५।

सुन्दरम् का चिन्तन करने योग्य बन सके।''[१] स्वामी विवेकानंद ने एक बार शिक्षकों के मध्य अपने विचार रखते हुए कहा—''मैं कभी किसी शब्द की परिभाषा नहीं करता हूं फिर भी शिक्षा की व्याख्या शक्ति के विकास के रूप में की जा सकती है।''[२]

मिल्टन का कथन था कि मैं पूर्ण और उदार शिक्षा उसको कहता हूँ, जो किसी व्यक्ति की शक्ति को जगाकर इस योग्य बना देती है कि वह निजी एवं सार्वजनिक तथा शांति एवं युद्धकालीन कार्यों को दक्षता, सुंदरता, सामंजस्य एवं न्यायोचित ढंग से पूर्ण कर सके।'' **पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी का अभिमत था कि चाहे पाठ्यक्रम बदल दिए जाएं, भले विविध शिक्षा आयोग बैठा दिए जाएं, यदि शिक्षा आत्मा और मस्तिष्कीय शक्तियों का जागरण नहीं करती, भीतर के रसायन नहीं बदलती तो वह विकलांग कही जाएगी।**'' वे विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों की अन्तर्निहित शक्तियों को जागृत करके उसे सृजनात्मक धारा के साथ जोड़ने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते थे। वे कहते थे—''प्रतिस्रोत में चलने वाला विद्यार्थी ही अपने मूल लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। युग के प्रवाह में बहने वाला अपनी शक्तियों का बिखराव कर लेता है।''

सामंजस्य एवं संतुलन का विकास

प्लेटो के अनुसार जीवन में अनेकानेक विरोधी तत्त्व विद्यमान रहते हैं। इन विरोधी तत्त्वों को पहचानना और इनमें संतुलन स्थापित करना शिक्षा का प्रमुख कार्य है।''[३] संतुलित व्यक्तित्व विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल आचरण करने की योग्यता रखता है। जिस शिक्षा का जीवन की जटिल परिस्थितियों एवं प्रतिकूल वातावरण के साथ अनुकूलता एवं सामंजस्य का सम्बन्ध नहीं होता, वह शिक्षा विद्यार्थी को मानसिक रूप से सबल एवं सक्षम

---

१. शिक्षा की दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि पृ. १०१।
२. शिक्षा की दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि पृ. २९८।
३. शिक्षा की दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि पृ. १०१।

नहीं बना सकती क्योंकि जब उनका जीवन के यथार्थ के साथ सामना होता है तो वे टूट जाते हैं या लड़खड़ा जाते हैं। अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने अपने पुत्र के शिक्षक के नाम एक विस्तृत पत्र में लिखकर भेजा—**''महोदय! आप मेरे पुत्र को भूगोल, गणित, राजनीति विज्ञान आदि विषयों के अध्ययन में निष्णात बनाएं अथवा न बनाएं, पर उसे इतना सक्षम अवश्य बनाएं कि वह भविष्य में आने वाले कष्टों/समस्याओं का मुकाबला सहजता से कर सके।''**

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी पुस्तक Personality में लिखा है—''सर्वोच्च शिक्षा वही है, जो सम्पूर्ण सृष्टि से हमारे जीवन का सामंजस्य स्थापित करे।''[१] इस संदर्भ में बोसिंग मध्यम मार्ग प्रस्तुत करते हैं—''शिक्षा का कार्य व्यक्ति का वातावरण के साथ उस सीमा तक अनुकूलता कराना है, जिससे व्यक्ति और समाज दोनों के लिए स्थायी संतोष प्राप्त हो सके।''[२] केवल बौद्धिक विकास पर बल देने से मानव की कोमल वृत्तियां प्रस्फुटित नहीं हो पातीं। अधिगम के साथ अध्यापक यदि विद्यार्थी को संघर्ष से जूझने के लिए तैयार नहीं करता, भविष्य में आने वाली चुनौतियों का सामना करने की क्षमता जागृत नहीं करता तो विद्यार्थी प्रकृति तथा पुरुष के विरोध में न मानसिक रूप से स्थिर रह सकता है और न ही परिवेश को अपने अनुकूल बनाकर स्वयं उसके अनुरूप ढ़ल पाता है। वह जीवन-रण में पग-पग पर असफलता और असंतोष का अनुभव करता है। वर्तमान शिक्षा विद्यार्थी को जीवन-संग्राम के लिए कटिबद्ध नहीं करती वरन् उसे शक्तिहीन बनाती है।

पूज्य गुरुदेव अध्यापन के दौरान हृदय और मस्तिष्क में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते थे, जिससे विद्यार्थी भावना में न बहकर हर परिस्थिति एवं वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित कर सके। उन्होंने शिक्षा

---

१. Personality ; The highest education is that which makes our life in harmony with all existence।

२. शिक्षा की आवश्यकताएं पृ. १३।

के साथ संतुलित रहने की प्रेरणा को भी जोड़ा, जिससे विद्यार्थी काल में ही साधु-साध्वियों में कष्ट झेलने की क्षमता जागृत हो जाती थी। मेरा जीवन : मेरा दर्शन में वे इसी तथ्य को प्रकट करते हुए कहते हैं—''**मैने अपने जीवन में दोनों प्रकार के मौसम देखे हैं, इन दोनों प्रकार के मौसमों में न केवल मैं संतुलित रहा हूं बल्कि अपने धर्मसंघ को भी संतुलित बनाए रखने का प्रयत्न करता रहा हूं। मुझे खुशी है कि इस कार्य में मुझे सफलता मिली है। कभी इस विषय में स्खलना भी हो सकती है। मैं उस पर चिंतन करता रहा हूं क्योंकि ऐसा करने से जीवन का पथ प्रशस्त होता है।**''[१]

सच्चिदानंद की प्राप्ति

आचार्य विनोबा भावे औपनिषदिक सत्य को आत्मसात् करते हुए कहते थे—''अगर एक शब्द में कहना हो तो मैं यह कह सकता हूं कि हमारे शिक्षण का मूल मंत्र है—सच्चिदानन्द। 'सत्' है कर्मयोग, उसके बिना जीवन टिकता ही नहीं। चित् है ज्ञानयोग, उसके बिना जीवन जड़ बनता है और 'आनन्द' के बिना जीवन में कोई रस ही नहीं होगा। जिस शिक्षण में सत्, चित् और आनन्द—इन तीनों का योग होता है, वह सच्ची और सार्थक तालीम होगी।'' जिस शिक्षा का जीवन और व्यवहार के साथ सीधा सम्पर्क नहीं रहता, वह चित्त को बोझिल और निराश बना देती है। वहां फिर जीवन में ज्ञान, आनंद और सौन्दर्य का अस्तित्व नहीं रहता। सूर्यकांत नागर के अनुसार ''शिक्षा का काम व्यक्ति को सभ्य, शालीन और सहिष्णु बनाना है, उसमें समताभाव, सहानुभूति और लोकतंत्र की आस्था जगाना है। विद्यार्थी को आत्मनिर्भर बनाकर ऐसे समाज की रचना करना है, जो सड़ी-गली रूढ़ियों और अंधविश्वासों से मुक्त हो। वह मस्तिष्क का बोझ बनने के बजाय जीवनोपयोगी हो। वह सम्पूर्ण व्यक्तित्व-विकास एवं समाज-उत्थान में सहायक हो।''[२] पाश्चात्य

---

१. मेरा जीवन : भा. ११ पृ. ६।

२. शिक्षा : एक सार्थक परिसंवाद पृ. १७।

विचारक मैथ्यु अर्नाल्ड के अनुसार शिक्षण का उद्देश्य मानव को भीतर और बाहर से सुंदर तथा आनंदमय बनाना है।[१]

चारित्रिक उन्नयन

गांधीजी का स्पष्ट मंतव्य था कि साक्षरता न तो शिक्षा का शुभारंभ है और न ही उसकी चरम परिणति। शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य है—चारित्रिक विकास, जिसका अर्थ है व्यक्ति में साहस, शक्ति, धैर्य, क्षमता, समायोजन की कला तथा महान् उद्देश्य के लिए स्वयं को समर्पित करने वाले गुणों का विकास। एक झोपड़ी में रहने वाला निर्धन किन्तु पवित्र आदमी निरक्षर होने पर भी अधिक शिक्षित हो सकता है, बजाय उस व्यक्ति के जो ऊंची डिग्री प्राप्त कर अट्टालिकाओं में रहता है और समाज का शोषण करता है।[२] आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार अध्यापन का प्रमुख कार्य है—परस्परता एवं सामंजस्य की चेतना का विकास, जिससे स्वार्थ की चेतना का परिष्कार हो सके। जिस शिक्षा का फलित सामाजिक जीवन में सामंजस्य, आर्थिक जीवन में करुणा और राजनैतिक जीवन में त्याग नहीं होता, क्या वह शिक्षा सार्थक हो सकती है?''[३]

डॉ. डी. एस. कोठारी के अनुसार शिक्षा का सबसे पहला काम यही है कि हम नैतिकता को जीवन्त शक्ति बनाएं अत: अध्यापक का मुख्य कार्यकारी उद्देश्य है—नैतिक चरित्र का निर्माण। आचार्य महाप्रज्ञ मानते हैं कि जब तक संवेदनशीलता का सूत्र शिक्षा के साथ नहीं जुड़ेगा, तब तक न नैतिकता और प्रामाणिकता का विकास होगा और न ही क्रूरता कम हो सकेगी। संवेदनशीलता जागृत होगी तो शिक्षा के क्षेत्र में नैतिकता, प्रामाणिकता और चरित्र-विकास का प्रतिशत बढ़ता चला जाएगा।''

एक संकुचित दृष्टिकोण एवं मलिन विचारों वाला अध्यापक विद्यार्थी के आदर्श चरित्र का निर्माण नहीं कर सकता। गांधीजी के अनुसार—'**तुम्हारी**

---

१. शिक्षा : एक सार्थक परिसंवाद, वेद प्रकाश शास्त्री।
२. शिक्षा : एक सार्थक परिसंवाद, डॉ. कुमुद सिन्हा।
३. अणु १-१५ अप्रैल २००६ पृ. ६।

शिक्षा बेकार है, यदि उसका निर्माण सत्य और पवित्रता की नींव पर नहीं हुआ है। यदि तुम अपने जीवन की पवित्रता के बारे में सतर्क नहीं हुए तो सब व्यर्थ है, चाहे भले ही तुम महान् विद्वान् ही क्यों न बन जाओ।''[१] शिक्षा का उद्देश्य महावीर की इस आर्षवाणी में समाहित किया जा सकता है— **णाणस्स सारमायारो** अर्थात् ज्ञान का सार आचरण की उच्चता है।

लक्ष्यप्रतिबद्धता की प्रेरणा

अध्यापन का प्राथमिक उद्देश्य है—विद्यार्थी को लक्ष्यप्रतिबद्ध बनाकर अन्य भौतिक आकर्षणों से उदासीन बना देना। जब तक विद्यार्थी लक्ष्यप्रतिबद्ध नहीं होता, वह ज्ञान और सफलता की ऊंचाइयों को नहीं छू सकता। लक्ष्यहीन जीवन घड़ी के पेंडुलम् या कोल्हू के बैल के समान होता है, जो निरन्तर गतिशील रहने पर भी वहीं स्थित रहता है। पूज्य गुरुदेव का स्पष्ट मंतव्य था कि अध्यापक को विद्यार्थी के समक्ष हर क्रिया का लक्ष्य स्पष्ट करते रहना चाहिए। केवल भौतिक या ऐहलौकिक लक्ष्य से प्रतिबद्ध क्रिया क्षणिक प्रभाव दिखाकर समाप्त हो जाती है।

लाडनूं का प्रसंग है। एक बार कुछ समणीजी एवं मुमुक्षु बहिनें विश्वविद्यालय में परीक्षा देने जा रही थीं। उन्होंने परीक्षा से पूर्व पूज्य गुरुदेव को मंगलपाठ सुनाने का निवेदन किया। पूज्य गुरुदेव ने स्मित मुस्कान के साथ पूछा—''परीक्षा में मंगलपाठ क्यों सुनना चाहती हो?'' सबने अपनी-अपनी क्षमता से सोचना प्रारंभ किया। एक समणी ने साहस बटोरकर उत्तर दिया—''हमारी परीक्षा निर्विघ्न सम्पन्न हो जाए इसलिए मंगलपाठ सुनना है।'' अन्य समणी ने उत्तर दिया—''परीक्षा में मस्तिष्क सही ढंग से काम करे, नम्बर अच्छे आएं इसलिए मंगलपाठ सुनते हैं।''

आचार्यवर ने मंगलपाठ सुनने का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहा—''मंगलपाठ क्षणिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए नहीं सुना जाता। विघ्न आएं तो क्या चिंता है? अध्ययन ठोस ज्ञान के लिए हो, नम्बर कम आएं या अधिक,

१. शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि पृ. २४०।

यह हमारा मूल लक्ष्य नहीं है। आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का उद्देश्य भी आध्यात्मिक होना चाहिए। मंगलपाठ सुनने के निम्न उद्देश्य होने चाहिए—

* भावनाएं पवित्र रहें।

* विचार प्रशस्त रहे।

* मानसिक एकाग्रता बनी रहे।

* मनोबल और आत्मविश्वास किसी भी स्थिति में कमजोर न हो।''

पूज्य गुरुदेव के मुख से प्रेरणा प्राप्त करके सबके मन अभिनव आलोक से भर उठे।

प्रायोगिक रूप से भी पूज्य गुरुदेव लक्ष्यनिष्ठा का प्रशिक्षण देते रहते थे। अध्यापन के दौरान एक बार गुरुदेव की दृष्टि ऊपर बैठे दो कबूतरों पर अटक गई। वे बिना प्रयोजन इधर से उधर उड़ रहे थे। गुरुदेव ने विद्यार्थी साधु-साध्वियों को प्रेरणा देते हुए कहा—''इनका भी कोई जीवन है ? न कोई काम, न प्रयोजन। निष्प्रयोजन जीवन कबूतर के समान है, जो केवल खाने-पीने और इधर-उधर दौड़ने में ही बीत जाता है।''

शिक्षा के क्षेत्र में लक्ष्य-प्राप्ति के लिए जिस साहस और शक्ति की आवश्यकता होती है, वह स्वामी विवेकानंद के मार्मिक शब्दों में पठनीय है—''आज हमारे देश को जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है लोहे की मांसपेशियां और फौलाद के स्नायु, दुर्दमनीय प्रचण्ड इच्छा-शक्ति, जो सृष्टि के गुप्त तथ्यों और रहस्यों को भेद सके और जिस उपाय से भी हो अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ हो, फिर चाहे उसके लिए समुद्र तल में ही क्यों न जाना पड़े, साक्षात् मृत्यु का ही सामना क्यों न करना पड़े। हम मनुष्य बनाने वाला धर्म चाहते हैं, हम मनुष्य बनाने वाले सिद्धान्त चाहते हैं। हम सर्वत्र सभी क्षेत्रों में मनुष्य बनाने वाली शिक्षा चाहते हैं।''[१]

संवेग-नियंत्रण का अभ्यास

१. शैक्षिक और उदीयमान भारतीय समाज, पृ. २०३, २०४, डॉ. महेन्द्र कुमार मिश्रा।

रायबर्न के अनुसार यदि बालक के संवेग-नियंत्रण के विकास पर प्राध्यापक ध्यान नहीं देगा तो शिक्षण एकांगी और विकृत हो जाएगा।''[१] पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार अध्यापन का मूल उद्देश्य होना चाहिए—१. चरित्र का निर्माण, २. मस्तिष्कीय शक्तियों का जागरण, ३. बौद्धिक विकास, ४. शारीरिक क्षमताओं की वृद्धि, ५. तथा संवेग नियंत्रण रूप भावनात्मक विकास, जिससे विद्यार्थी सत्यं, शिवं, सुंदरं का चिंतन करने योग्य बन सके। शिक्षा के साथ उन्होंने ज्ञान, भावना और कर्म—इन तीनों पर समान बल देकर इनमें संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया क्योंकि कर्मशून्य ज्ञानी और ज्ञानशून्य श्रमजीवी—ये दोनों ही वर्ग समाज में असंतुलन पैदा करते हैं। आचार्य तुलसी समय-समय पर विद्यार्थी साधु-साध्वियों को हर स्थिति को समता से सहन करके संवेग-नियंत्रण की मनोवैज्ञानिक प्रेरणा देते रहते थे। एक बार यात्रा में प्रस्थित होते समय समणी निर्मलप्रज्ञाजी के वर्ग को प्रतिबोध देते हुए आचार्य तुलसी ने कहा—''.....कषाय-मंदता की साधना की या नहीं? आवेश और उत्तेजना मिटी या नहीं? सहिष्णुता का विकास हुआ या नहीं? आर्जव और मार्दव की ओर प्रगति हुई या नहीं? समय-समय पर इन सब बातों का चिन्तन करते रहना चाहिए। हमारा समय स्वाध्याय और ध्यान में कितना लगता है? जितना लगता है, वह मानसिकता से लगता है या ऐसे ही लगता है? हमारी दिनचर्या में जागरूकता रहती है या नहीं? भावक्रिया का अभ्यास रहता है या नहीं? दीर्घश्वास प्रेक्षा का अभ्यास होता है या नहीं? इन सबके प्रति अगर अभिरुचि है तो समणदीक्षा सार्थकता की ओर है। इस सार्थकता का प्रयास करना है। याद रखना, तुम लोगों में कभी भी हीनभावना नहीं आनी चाहिए।'' प्रतिबोध के रूप में दिए गए ये प्रश्न अनेक संवेदनशील विद्यार्थियों की सृजनशक्ति को जगाकर उनका भावी पथ प्रशस्त करने वाले हैं।

विनयपूर्ण व्यवहार

भाष्य-साहित्य में उल्लेख मिलता है कि विनयपूर्वक अधीत विद्या

१. W. M. Ryborn op cit. P. 11।

इहलोक और परलोक सर्वत्र फलित होती है। विनयहीन विद्या उसी प्रकार निष्फल होती है, जिस प्रकार जल के बिना धान्य की खेती। दशवैकालिक सूत्र में भी यही रहस्य प्रकट किया गया है कि अविनीत को पग-पग पर विपत्ति तथा सुविनीत को पदे-पदे सम्पत्ति प्राप्त होती है।''[१] जो व्यक्ति गुरु के द्वारा अनुशासन किए जाने पर कुपित होता है, वह आती हुई लक्ष्मी को डंडे से दूर भगाता है।[२] आचार्य तुलसी विद्या के साथ विनय और विवेक का मणि कांचन संयोग मानते थे। यदि विद्या के साथ इन दोनों का योग नहीं है तो विद्या कलंकित और प्रयोजनहीन हो जाती है। विनय विद्या की पात्रता पैदा करता है। जहां पात्रता नहीं, वहां विद्या की प्राप्ति सार्थक नहीं हो सकती। काव्य की निम्न पंक्तियों में आचार्य तुलसी ने इसी सत्य को उजागर करते हुए लिखा है—

है रुपया निन्यानवे, विमल विनय आचार।
शेष एक रुपया रहा, विद्या कला प्रचार॥

बर्ट्रेंड रसल ने अपने जीवन में कुछ ध्रुव सत्य देखे। उसमें एक सत्य यह है कि केवल ज्ञान को ही पोषण देने से मनुष्य को आज यह कालरात्रि भोगनी पड़ रही है। ज्ञान के साथ विनय और विवेक को भी पुष्ट करते चलिए, भविष्य की हर सीढ़ी निरामय होगी।''

जीविका नहीं, जीवन का प्रशिक्षण

पुराण एवं स्मृति-साहित्य में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि विद्याध्ययन के समय अध्यापक विद्यार्थी से कुछ भी ग्रहण नहीं करता था। यदि वह शुल्क रूप में कुछ भी ग्रहण करता तो वह पाप माना जाता था। विद्या-समाप्ति के बाद गुरु-दक्षिणा के रूप में वह शिष्य से कुछ भी ग्रहण कर सकता था इसीलिए प्राचीन काल का अध्यापक कठिन आर्थिक परिस्थितियों में भी आत्मविश्वास के साथ कहता था—'नाहं विद्याविक्रयं शासनशतेनापि करोमि' अर्थात् सैकड़ों शासन का अधिकार होने पर भी मैं विद्या का विक्रय नहीं करूंगा।'' कालिदास

१. दश ९/२/२१ विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणियस्स य।
२. दश ९/२/४।

ने भी मालविकाग्निमित्र ग्रंथ में इस संदर्भ में मार्मिक अभिव्यक्ति दी है— **''यस्यागमः केवलजीविकायै, तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति''**[१] डॉ. रामनिवास मिश्र के अनुसार शिक्षक को स्वयं को केवल श्रमजीवी नहीं समझना चाहिए, जिसका कार्य दस बजे प्रारम्भ होता है और चार बजे समाप्त हो जाता है।''[२] यदि अध्यापक वेतन के साथ अपने कार्य को जोड़ता है तो वह अध्यापन के प्रति पूर्णतः समर्पित नहीं हो पाता। आचार्य तुलसी का स्पष्ट मंतव्य था कि अर्थ प्रधान अध्यापक पहाड़े पढ़ा सकता है पर जीवन का गणित उसके पास नहीं होता। जीवन चलाने के लिए अर्थ का भी उपयोग है पर उसके सामने चरित्र का पक्ष गौण हो जाए, यह स्थिति क्षम्य नहीं है।''[३] आधुनिक शिक्षाशास्त्री चाहते हैं कि अध्यापक के लिए शिक्षण व्यवसाय नहीं, अपितु मिशन होना चाहिए। पूज्य गुरुदेव के अनुसार अध्यापक अध्यापन को आजीविका का साधन नहीं, अपितु आत्मधर्म माने। पारिश्रमिक लेते हुए भी आत्मधर्म को मुख्य रूप से सामने रखे, वही अध्यापन सजीव होकर विद्यार्थी और अध्यापक के बीच तादात्म्य स्थापित कर सकता है। मात्र आजीविका से जुड़े अध्यापकों को काव्य के माध्यम से कर्तव्य की प्रेरणा देते हुए आचार्य तुलसी कहते हैं—

विद्या क्रय-विक्रय का साधन, जो कभी न माना करता है,
शिक्षण में भी विद्यार्थी की, अभिरुचि को जाना करता है,
निष्पक्ष दक्षता से कर्तव्य, सदा पहचाना करता है,
प्रामाणिकता, नियमितता से, सद्ज्ञान खजाना भरता है,
भर बूंद-बूंद से घड़ा बड़ा, वह देश राष्ट्र-निर्माता है,
अध्यापक स्वयं पढ़ाता है॥

पूज्य गुरुदेव लाडनूं प्रवास कर रहे थे। जैन विश्व भारती, संस्थान के एक विशेष कार्यक्रम में गुरुदेव ने कुशल अध्यापक के मानक बिन्दुओं पर

---

१. मालविकाग्निमित्र १/१६।
२. शिक्षा में प्रयोग और समस्याएं पृ. ६७।
३. एक बूंद : एक सागर भा. ३ पृ. १०१७।

प्रकाश डालते हुए कहा—''यहां के प्राध्यापक केवल वेतनभोगी या सुविधावादी न हों, वे जैन तत्त्व के अध्येता भी बनें। यदि जैन विश्व भारती जैसे संस्थान में रहकर भी जैन दर्शन का प्रारंभिक तत्त्वज्ञान नहीं कर पाए तो गुजराती भाषा की एक कहावत 'तालाबे जई नै तरस्यो रह्यो' अर्थात् तालाब पर जाकर भी प्यासा रहा वाली कहावत चरितार्थ हो जाएगी। मैं चाहता हूं कि यहां के प्राध्यापकों में किसी भी बात को लेकर विचारभेद भले हो, पर मतभेद न हो। सबमें मैत्री, सहयोग और सौहार्द की भावना रहे। मैं चाहता हूं कि यह विश्वविद्यालय अन्य विश्वविद्यालयों की भांति राजनीति का अखाड़ा न बने। कोई प्रोफेसर, लेक्चरर, छात्र या प्रशासक आपस में दलबंदी न करे।'' विश्वविद्यालय के सभी प्राध्यापक इस अमूल्य मार्गदर्शन को पाकर प्रसन्नता से झूम उठे। उनके चेहरे की प्रसन्नता बता रही थी कि उन्हें जीवन की नई दिशा मिली है।

प्राध्यापकों ने समवेत स्वरों में निवेदन किया—''आपके पवित्र अंत:करण से निकली विचारधारा ने हमको बहुत प्रभावित किया है। आपकी वाणी ने हमारे भीतर एक हलचल सी पैदा कर दी है।'' आचार्यवर ने मुस्कराते हुए कहा—''मैं आप लोगों को प्रभावित करने नहीं अपितु उच्च संस्कारों से भावित करना चाहता हूं। मैं अपनी कमी स्वीकार करता हूं कि इस प्रशिक्षण क्रम को प्रारम्भ करने में विलम्ब हुआ। मुझे इस क्रम को बहुत पहले ही प्रारम्भ कर देना चाहिए था। अब भी यदि आप लोगों का दृष्टिकोण सकारात्मक और ग्रहणशील रहा तो यह विश्वविद्यालय विश्व में यूनिक (unique) बन जाएगा। ऐसा विश्वविद्यालय खोजने पर भी दूसरा नहीं मिलेगा।''

जीवन का रूपान्तरण

शिक्षा जीवन का आमूलचूल रूपान्तरण करती है इसीलिए आधुनिक शिक्षाशास्त्री शिक्षा को जीवन के रूपान्तरण या परिवर्तन का सिद्धान्त मानते हैं। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है—बालक के व्यवहार, आचार, विचार और दृष्टिकोण में परिवर्तन, जिससे वह हर परिस्थिति में समायोजन स्थापित कर सके।''[१] इस संदर्भ में आचार्य तुलसी के विचार अत्यन्त प्रेरक हैं—''वही शिक्षा शिक्षा है, जो जीवन का रूपान्तरण कर सके। शिक्षा के साथ रूपान्तरण और निर्माण

का निश्चित अनुबंध है। जहां यह अनुबंध पूरा नहीं होता है, वहां कुछ किन्तु-परन्तु खटकने लगता है। व्यक्ति भोजन करे और भूख न मिटे, यह उसी स्थिति में संभव है, जब भोजन करने वाला भस्मक व्याधि से पीड़ित हो अन्यथा मात्राभेद हो सकता है पर भोजन के साथ भूख मिटने की अनिवार्यता है। इसी प्रकार शिक्षा मिले और जीवन का निर्माण न हो, इसमें शिक्षा-पद्धति, शिक्षक या विद्यार्थी की कोई न कोई कमी अवश्य कारण बनती है। शिक्षा-पद्धति त्रुटिपूर्ण या अपूर्ण हो, शिक्षक का चरित्र, निष्ठा और पुरुषार्थ सही न हो अथवा विद्यार्थी में शिक्षा प्राप्त करने की अर्हता न हो, उस स्थिति में शिक्षा का उद्देश्य पूरा नहीं होता।''[२]

अध्यापक यदि शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी को सभ्य, शिष्ट, सुसंस्कृत बनाकर उसके आचार-विचार में कोई परिवर्तन नहीं ला पाता तो वह अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल नहीं होता। शिक्षा के द्वारा स्वस्थ समाज के निर्माण का स्वप्न भी अधूरा रहता है। निष्कर्षत: शिक्षा के उद्देश्यों को भारतीय एवं पाश्चात्य शिक्षाशास्त्रियों के मंतव्यों को निम्न बिन्दुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है—

* कुशल नागरिक बनने के लिए गंभीरता, उदारता, सहिष्णुता आदि जीवन-मूल्यों के विकास की प्रेरणा देना।
* स्वशासित व्यक्तियों का निर्माण करना।
* विद्यार्थियों को सामंजस्य पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार करना।
* बालक का संसार के प्रति उचित दृष्टिकोण का निर्माण करना।
* विद्यार्थियों की मानसिक एवं भावनात्मक कठिनाइयों को हल करना।
* विद्यार्थी में आत्मविश्वास, आत्मश्रद्धा, आत्मत्याग, आत्म-नियंत्रण, आत्मनिर्भरता, आत्मज्ञान आदि सद्गुणों का विकास करना।

---

१. शिक्षा के नूतन आयाम, पृ. २४२।
२. तुलसी विचार दर्शन, पृ. १२३।

आचार्य तुलसी के अनुसार अध्यापक को विद्यार्थी में निम्न गुणों का संचार करना चाहिए—

* पूर्वाग्रह और संकीर्णता से मुक्त होकर स्वतंत्र चिंतन करने की क्षमता जागृत करना।
* प्राणिमात्र के प्रति करुणा और मानवीय संवेदना जागृत करना।
* श्रम, सहयोग एवं सेवा के प्रति निष्ठा जागृत करना।

कहा जा सकता है कि आचार्य तुलसी शिक्षा के द्वारा व्यक्ति-निर्माण पर जोर देते थे, जिससे स्वस्थ और शांतिपूर्ण समष्टि का निर्माण अपने आप हो जाए।

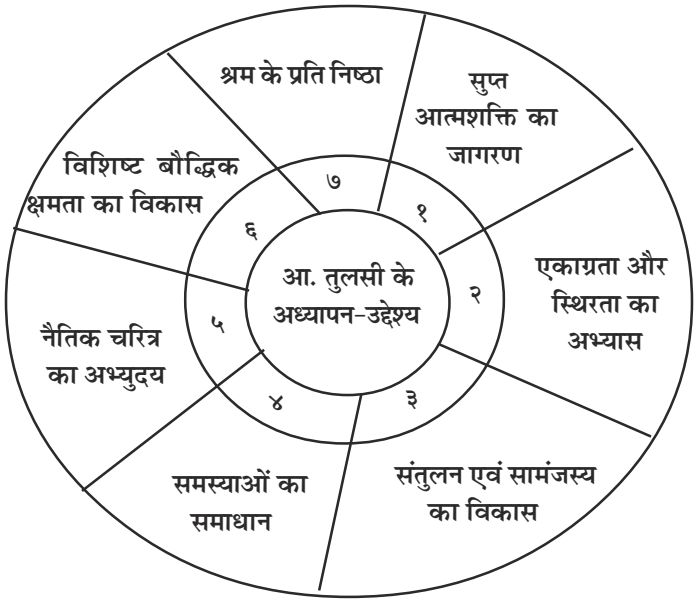

३. अध्यापक के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य

आगम-साहित्य में एक कुशल शिक्षक (वाचनाचार्य) के अनेक गुणों का उल्लेख मिलता है। पंचकल्पभाष्य के अनुसार एक योग्य वाचनाचार्य (शिक्षक) में निम्न गुण होने चाहिए—"अपनी शक्ति का परीक्षण एवं अध्यापन की पूर्व तैयारी, शिष्य की शक्ति एवं सामर्थ्य का ज्ञान, शिष्य के वर्तमान और भविष्य के लिए हितकर शिक्षा देने वाला, बिना किसी प्रतिदान या लालसा के पढ़ाने वाला, विषय का गहन एवं पक्का ज्ञान रखने वाला, व्यक्त और स्पष्ट वाणी वाला, विषय या ग्रंथ का अंत तक निर्वहन करने वाला।"[१] सन् १९२९ में चार्टरस की 'द कामनवेल्थ टीचर ट्रेनिंग स्टडी' में अध्यापक के २५ गुण गिनाए गए। अमेरिका के अध्यापन शिक्षा कमीशन ने शिक्षक के विवेकपूर्ण व्यवहार, सहयोग आदि बारह गुण निश्चित किए। पाश्चात्य विद्वान् विटी ने सन् १९४७ में १२००० विद्यार्थियों से प्रश्न पूछे। उसके आधार पर औसतन अध्यापक के निम्न गुण सामने आए—सहयोगपूर्ण प्रजातंत्रीय दृष्टिकोण, धैर्य, अच्छा रूप, शिष्टाचार, निष्पक्षता, विनोद, मधुरता एवं अध्यापन नैपुण्य।"[२]

अध्यापक कैसे बैठता है, कैसे चलता है तथा कैसे बोलता है, इन सब बातों से विद्यार्थी प्रभावित होता है। मुरझाया चेहरा, बुझी आंखें, बिखरे बाल, ढीली चाल, दबी आवाज और ढीले-ढाले व्यक्तित्व वाला अध्यापक विद्यार्थी के मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव नहीं छोड़ सकता। अध्यापक का शारीरिक सौष्ठव और सौम्य मुखाकृति विद्यार्थी को आकृष्ट करती है। कुपित मुख और तनी हुई भौंहों वाला अध्यापक विद्यार्थी के हृदय में अपना सम्माननीय स्थान नहीं बना सकता। ए. एच. गारलिक के अनुसार शिक्षक ही ऐसा व्यक्तित्व है, जिसे इतनी उत्सुकता से लम्बे समय तक निहारा जाता है या सुना

---

१. पंचकल्पभाष्य १२१९-३८।

२. सामाजिक ज्ञान शिक्षण, पृ. ३२२, ३२३, विस्तार हेतु देखें पृ. ३२४-३२, अमीरचंद जैन।

जाता है अत: उसे यह सावधानी रखनी चाहिए कि वह कक्षा में सदैव प्रसन्नमुख बना रहे।''[१]

अध्यापक के वैयक्तिक गुणों का प्रभाव विद्यार्थियों की सीखने की क्रिया पर सीधा पड़ता है। स्वभाव से मधुर, चरित्रनिष्ठ, शुद्ध और पवित्र शिक्षक बिना कुछ कहे ही विद्यार्थी के मस्तिष्क में मूल्यों का संचरण कर देता है। अध्यापक के ज्ञान की गंभीरता का प्रभाव तभी पड़ता है, जब उसका व्यक्तित्व वैशिष्ट्य लिए हुए हो। माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार आदर्श अध्यापक वही हो सकता है, जो लोभरहित, पूर्णकाम, ब्रह्मनिष्ठ और स्वाध्यायशील हो। शिक्षाशास्त्री रायबर्न के अनुसार शिक्षक का जीवन के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण होना चाहिए, जिसे हम जीवन-दर्शन कहते हैं। उसके जीवन में निश्चित धारणाएं और उच्च आदर्श होने चाहिए। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अध्यापक के वैशिष्ट्य को बहुत मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है—''हमारे शिक्षक जब यह समझने लगेंगे कि हम गुरु के आसन पर बैठे हैं और हमें अपने जीवन द्वारा अपने छात्रों में प्राण फूंकने हैं, अपने ज्ञान द्वारा उनके हृदय में ज्ञान एवं विद्या की ज्योति जगानी है, अपने प्रेम द्वारा बालकों का उद्धार करना है, उनके अमूल्य जीवन का सुधार करना है, उस समय वे सत्य रूप में स्वाभिमान के अधिकारी बन सकेंगे। तब वे ऐसी वस्तु प्रदान करने के लिये तत्पर हो सकेंगे, जो बेचे जाने वाली नहीं है, जो मूल्य देकर प्राप्त नहीं हो सकती। उसी समय वे छात्रों के समीप, सरकार द्वारा नहीं, वरन् धर्म के विधान और प्राकृतिक नियम के अनुसार सम्मानित एवं पूज्य बन सकेंगे।''[२] आचार्य तुलसी के अनुसार योग्य शिक्षक में पांच विशेषताओं का होना अनिवार्य है—१. एकाग्रता २. संकल्पशक्ति ३. आध्यात्मिक अनुशासन ४. संवेदनशीलता ५. प्रामाणिकता।''[३]

---

१. A new manual of method p. 57, A. H. Garlick।

२. विकासोन्मुख भारतीय समाज में शिक्षा तथा शिक्षक की भूमिका पृ. १६४।

३. एक बूंद : भा. ३ पृ. १०१२।

ओजस्वी स्वर एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व

पाश्चात्य विद्वान् रास्क के अनुसार अध्यापक का स्वर ज्ञान को संप्रेषित करने का शक्तिशाली साधन है। यदि अध्यापक का स्वर कोमल, स्पष्ट और शुद्ध नहीं होता तो उसका अध्यापन प्रभावी नहीं हो पाता। आचार्य तुलसी की वाणी आकर्षक, अस्खलित तथा उतार-चढ़ाव से युक्त थी। जीवन के नवें दशक तक भी उनकी वाणी ओजस्वी और प्रभावी बनी रही। सन् १९९७ का प्रसंग है। उन दिनों गुरुदेव कभी-कभी पांच-छह कालांशों में अध्यापन करते थे। विश्वविद्यालय के अध्यापकों के लिए भी प्रेरणा-प्रतिबोध का कार्य चलता रहता था। अन्य कार्यों के साथ अध्यापन के समय भी उनकी आवाज प्रखर एवं बुलंद रहती थी। एक दिन आचार्यवर को अधिक थकान की अनुभूति हो रही थी। उन्होंने संतों से कहा—''आजकल श्रम अधिक हो जाता है।'' शासनश्री मुनि बालचंदजी ने साहस बटोरकर निवेदन किया—''अध्यापन के समय यदि स्वर मंद रहे तो श्रम कुछ कम हो सकता है।'' आचार्यवर ने उत्तर देते हुए कहा—''या तो मैं बोलूं नहीं, बोलूं और धीरे-धीरे बोलूं, यह मेरी प्रकृति नहीं है। मुझे न तो ढीली-ढाली भाषा पसंद है और न ही ढीली चाल। कवि ने कितना सुंदर कहा है—

हे करतार! करूं अरजी, मत दै ढीली साज।
मिनख करण मरजी हुवै, तो करजे लट्ठबाज॥''

पाश्चात्य विचारक चौंसे के अनुसार किसी प्रेरणादायक, सहानुभूतिपूर्ण एवं योग्य शिक्षक के सम्पर्क से विद्यार्थी की आंतरिक शक्तियां जागृत हो जाती हैं। अध्यापक के बिना उसका व्यक्तित्व अविकसित रहता है। पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी का बाह्य एवं आंतरिक व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि उससे सतत ऊर्जा के विकिरण विकीर्ण होते रहते थे। उनके निकट बैठने वाला सतत कुछ न कुछ सीखता रहता था। उनके गुण-वैशिष्ट्य ने विद्यार्थी साधु-साध्वियों के चित्त को ही आकृष्ट नहीं किया, बल्कि उनकी श्रद्धा भी अर्जित की। आदर्श अध्यापक के कुछ विशिष्ट चारित्रिक गुणों का यहां उल्लेख किया जा रहा है, जो आचार्य तुलसी के जीवन में पूर्णतया परिलक्षित होते थे—

विषय का गंभीर ज्ञान

जेम्स हाई के अनुसार एक अच्छे अध्यापक का प्रमुख गुण है— विषय पर पूर्ण अधिकार, जिसका वह अध्यापन कर रहा हो। पाठ्य विषय का व्यापक और गहरा ज्ञान होने से वह विद्यार्थी के हर प्रश्न का सम्यक् उत्तर दे सकता है। के. जी. सैयदैन का मानना है कि यदि शिक्षक ज्ञान की दृष्टि से खोखला है तो वह अपने विद्यार्थियों के मस्तिष्क को प्रखर नहीं बना सकता।''[१] पंचकल्पभाष्य में इस बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। एक ककड़ी बेचने वाला माली यदि अपनी ककड़ियों का पहले निरीक्षण कर लेता है, खराब ककड़ियों को बाहर निकाल देता है तो ग्राहक आने पर उसे समय नहीं लगाना पड़ता। ग्राहक शीघ्र ही ककड़ी लेकर चला जाता है। यदि ग्राहक आने के बाद वह छांटने बैठ जाए तो ग्राहक को धैर्य नहीं रहता, वह उसे छोड़कर दूसरे विक्रेता के पास चला जाता है, वैसे ही अधिकृत ज्ञानी अध्यापक के पास विद्यार्थी मन से पढ़ता है अन्यथा वह दूसरे अध्यापक की खोज कर लेता है। आचार्य तुलसी साहित्य, दर्शन, व्याकरण, न्याय और आगम के अधिकृत वेत्ता थे अत: उनके गंभीर ज्ञान से विद्यार्थी सदैव लाभान्वित होते रहते थे।

मानसिक स्वास्थ्य एवं सृजनधर्मिता

अरस्तू का कथन था कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का सृजन ही शिक्षा है। मानसिक रूप से स्वस्थ अध्यापक छात्रों की रुचियों एवं योग्यताओं को ढूंढ़कर उन्हें विकसित करने में आनंद का अनुभव करता है। अध्यापक का मानसिक स्वास्थ्य प्रशस्त रहना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि अध्यापक की सोच एवं जीवन-शैली से बालक बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। यदि अध्यापक की सोच सृजनात्मक और विधायक नहीं है, उसका हृदय दया, सहानुभूति और संवेदना से परिपूरित नहीं है, प्रतिक्षण अपनी व्यक्तिगत समस्याओं में उलझा हुआ रहता है तो वह विद्यार्थी को भी विद्रोही और नकारात्मक बना देता है। विद्यार्थियों की भावना समझने की योग्यता उसमें नहीं होती। विद्यार्थी

१. उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षा पृ. ३८९, डॉ. के. एन शास्त्री।

का मस्तिष्क Money Bank के समान होता है। बैंक में धन की भांति अध्यापक उसमें जो कुछ भरता है, वही बढ़ने लगता है। विवेकानंद का मंतव्य था—''यदि विद्यार्थी को रचनात्मक विचार दिए जाएंगे तो वे आगे जाकर पूर्ण मनुष्य बन जाएंगे। नकारात्मक या निषेधात्मक शिक्षा मृत्यु से भी बदतर है।'' आचार्य तुलसी सृजनधर्मा व्यक्तित्व के धनी थे। वे अधिकांश कहा करते थे—''बचपन से ही मेरी सृजन में अभिरुचि थी। अक्षर-विन्यास से प्रारम्भ होकर वह व्यक्तित्व-निर्माण तक पहुंच गई।'' उनके सृजनशील हाथों से अनेक प्रतिभाएं चमक उठीं। अनेक मौलिक साहित्यकार, कवि, कलाकार, लिपिकार, आशुकवि, सम्पादक तथा प्रखर प्रवक्ता आदि साधु-साध्वियों का निर्माण उनकी सृजनशील अंगुलियों से हुआ। पूज्य गुरुदेव सकारात्मक सोच के साथ विवेक और निर्णायक क्षमता जगाने का उपक्रम भी करते रहते थे, जिससे आगे जाकर विद्यार्थी प्रकृति और पुरुष के साथ सामंजस्य स्थापित कर सके।

सागर-सी गंभीरता

अध्यापक के व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण पक्ष है—गहनता, गंभीरता और उदारता। यदि अध्यापक गंभीर और उदार नहीं है तो वह छात्र की छोटी सी हरकत पर आक्रुष्ट होकर प्रतिक्रियात्मक व्यवहार कर देगा, जिसका विद्यार्थी के जीवन पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। पूज्य गुरुदेव के जीवन में बचपन से ही ऊंचाई के साथ गहराई भी थी। निम्न घटना प्रसंग उनके गंभीरचेता व्यक्तित्व को प्रस्तुति देने वाला है।

किशोरवय से ही आचार्य तुलसी अनेक शैक्ष साधुओं को अध्यापन का कार्य कराते थे। अध्यापन के साथ वे उन पर कठोर अनुशासन भी करते थे। एक दिन वे बाल साधु आचार्य कालूगणी के पास पहुंचे और अपने अध्यापक मुनि तुलसी की शिकायत करते हुए बोले—'मुनि तुलसी हम पर बहुत कठोर अनुशासन करते हैं।' कालूगणी ने उन्हें समझाते हुए कहा—''अध्ययन के क्षेत्र में तुलसी जो कुछ कर रहा है, ठीक कर रहा है। तुम उसी के पास पढ़ो और वह जैसा कहे वैसा करो।'' बाल साधुओं के मन में एक

भय पैदा हो गया कि यदि इस घटना की जानकारी मुनि तुलसी को मिल जाएगी तो न जाने क्या होगा? आचार्य महाप्रज्ञ स्वयं इस घटना का उल्लेख करते हुए कहते हैं—''हम चिंतित हो गए कि अब मुनि तुलसी के पास पढ़ने कैसे जाएंगे? दूसरे दिन सूर्योदय हुआ। श्लोक वाचन के लिए हम सकुचाते हुए गए और श्लोक बांचकर बिना कुछ उलाहना लिए आ गए। कई दिनों तक मन में भय बना रहा, पर मुनि तुलसी ने हमें कभी भयभीत नहीं किया। पूज्य गुरुदेव ने '**मेरा जीवन : मेरा दर्शन**' पुस्तक में उक्त घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है—''मुझे सारी बात का पता लग गया था लेकिन मैंने उनसे कुछ नहीं कहा क्योंकि मैं जानता था कि बचपन में ऐसा होना स्वाभाविक है। मेरे कुछ न कहने से धीरे-धीरे उनकी आशंका दूर हो गई और वे सामान्य होकर रहने लगे।''[१] किशोर वय में आचार्य तुलसी ने जिस धैर्य, गाम्भीर्य और सहनशक्ति का परिचय दिया, उससे विद्यार्थी साधुओं के मन में उनके प्रति अमिट आस्था, प्रेम और समर्पण का भाव उत्पन्न हो गया। यदि उस समय उनमें गंभीरता नहीं होती तो वे सोच सकते थे कि मैं इन लोगों पर इतना खपता हूँ, इतना समय लगाता हूँ फिर भी इन लोगों ने पूज्य कालूगणी से मेरी शिकायत कर दी। यदि वे कुछ प्रतिक्रिया करते तो विद्यार्थी संतों की रचनात्मक शक्ति या सीखने के उत्साह में बाधा आ सकती थी।

आत्मानुशासन का विकास

टैगोर ने कहा था—''अध्यापक आत्मसंयमी व त्यागी होना चाहिए क्योंकि इन्हीं गुणों के द्वारा वह छात्रों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है।'' श्री अरविंद के अनुसार भी शिक्षक को कठोर संयमी होना चाहिए। पूज्य गुरुदेव का आत्मसंयम प्रकर्ष पर था। सुबह से लेकर शाम तक उनकी किसी भी क्रिया में असंयम और चापल्य का भाव परिलक्षित नहीं होता था। बचपन से ही उनका खाद्य-संयम भी उत्कृष्ट कोटि का था। एक बार हाथ धोने के बाद मनोज्ञ से मनोज्ञ वस्तु का आग्रह होने पर भी उनका संयम नहीं टूटता था। **आचार्य तुलसी का दृढ़ मत था कि अध्यापक बनकर विद्यार्थी पर अनुशासन**

१. मेरा जीवन....भाग १ पृ. १५८।

करने का उसी को अधिकार है, जो स्वयं आत्मानुशासी हो। फिर उस शिक्षक की बात टालने की हिम्मत कोई विद्यार्थी नहीं कर सकता।''

अटूट धैर्य एवं औदार्य

शिक्षा का आदर्श है—लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान, जीवन-मरण आदि द्वन्द्वों में धैर्य एवं संतुलन का विकास अत: अध्यापक का एक महत्त्वपूर्ण गुण है—धैर्य। अच्छा शिक्षक अपने धैर्य, संतुलन और लगन आदि गुणों के कारण सभी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेता है।''[१] पूर्वाग्रही, असहिष्णु, अहंकारी, हताश, निराश, असंतुष्ट, अनुभवशून्य एवं संकीर्ण विचार वाला अध्यापक विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का सम्यक् निर्माण नहीं कर पाता। अधीर अध्यापक विद्यार्थियों में सही रूप में ज्ञान संक्रान्त नहीं कर सकता। त्रुटियों के प्रति उत्तेजित होने वाला अध्यापक विद्यार्थियों के मन में सम्मान के भाव पैदा नहीं कर सकता। वह अपने असामान्य व्यवहारों से विद्यार्थियों के मन में नकारात्मक सोच उत्पन्न करके उनकी कार्यक्षमता को नष्ट कर देता है।

गुरुदेव श्री तुलसी का धैर्य मेरु की भांति अडोल था। कोई भी विपरीत परिस्थिति उनके मानस को विचलित नहीं कर पाती थी। महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाजी के शब्दों में ''**पूज्य गुरुदेव के जीवन में एक साथ अनेक प्रकार के काम फिर भी न तनाव, न उतावलापन और न झुंझलाहट। बीच-बीच में किसी को रोकना, किसी को टोकना, किसी को उपालम्भ देना और किसी को प्रोत्साहन देना, पर सबमें भीतरी संतुलन सधा हुआ। लगता है मस्तिष्क के सारे प्रकोष्ठ खुले हुए हैं। कहीं कोई अवरोध नहीं है।**''

कुछ अनुदार, अधीर और आग्रही मनोवृत्ति के अध्यापक विद्यार्थी द्वारा की गई जिज्ञासा या विचार-भेद उपस्थित होते ही बौखला कर आपे से बाहर हो जाते हैं लेकिन पूज्य गुरुदेव विरोधी प्रश्न एवं विचारधारा को भी शांत एवं अविचल भाव से सुनते थे। यदि उसमें तथ्य या सत्य का अंश होता तो उसे स्वीकार करते अन्यथा अपनी बात को दूसरे तरीके से समझाने का प्रयत्न करते थे।

---

१. सफल शिक्षण कला पृ. ३४।

एक बार प्रसिद्ध साहित्यकार यशपाल जैन अपने मित्र के साथ पूज्य गुरुदेव की सन्निधि में उपस्थित हुए। वार्ता के दौरान उस जैन भाई ने अनेक बार अपनी बात को सिद्ध करने के लिए गुरुदेव की बात का विरोध किया लेकिन आचार्य तुलसी प्रसन्नता के साथ उसकी बात सुनते रहे। वहां से जाने के बाद उस जैन भाई ने यशपालजी को कहा—''मैंने अपने जीवन में पहली बार इतने महान् और धैर्यशील व्यक्तित्व को देखा है। मैंने पूरी शक्ति के साथ उनका विरोध किया लेकिन वे एक बार भी विचलित नहीं हुए। आज मेरे मन में उनके प्रति स्वत: ही एक अप्रतिम छवि अंकित हो गई है।''

डॉ. विष्णुकान्त शास्त्री के अनुसार गुरु दो प्रकार के होते हैं—आकाशधर्मी और शिलाधर्मी। शिलाधर्मी गुरु उस पत्थर की शिला के समान होते हैं, जिसके नीचे दबी घास कुछ दिनों में पीली, निस्तेज एवं विकलांग हो जाती है। शिलाधर्मी गुरु विद्यार्थी पर यह दबाव डालता है कि मैं जो कुछ कहता हूं, वही तुमको मानना पड़ेगा। इसके कारण वह विद्यार्थियों का स्वतंत्र विकास नहीं कर सकता। आकाशधर्मी अध्यापक विशालहृदय और धैर्यसम्पन्न होता है। वह चाहता है कि उसके नीचे जो वनस्पतियां हैं, वे विकसित हों। वह सबके लिए प्रकाश और वायु का अवकाश रखता है तथा शिष्य की योग्यता को समझकर उसे विकसित करने का प्रयत्न करता है। वह शिष्यों के मतभेद को भी प्रसन्नता के साथ सुनकर उनको समाहित करता है। **पूज्य गुरुदेव तुलसी आकाशधर्मी गुरु थे, जिनकी छत्रछाया में सैकड़ों विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों ने अपनी प्रतिभा का उन्मुक्त विकास किया।**

गहरी ग्रहणशीलता

अध्यापक को ग्रहणशील होना अत्यन्त आवश्यक है। ग्रहणशीलता का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति अपने अच्छे संस्कारों को भूलकर दूसरों के गलत संस्कारों को स्वीकार कर ले। ग्रहणशीलता का तात्पर्य है कहीं से भी अच्छाई को ग्रहण कर लेना। ग्रहणशील अध्यापक हर परिस्थिति से नई प्रेरणा प्राप्त कर विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकता है तथा दूसरों में भी प्रेरणा का दीप जला सकता है। ग्रहणशील वृत्ति के कारण विकास का कोई अवसर

उसके हाथ से नहीं छूटता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में आचार्य तुलसी की जिस विशेषता ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया, वह है उनकी ग्रहणशीलता। व्यवहारबोध में भी उन्होंने उनके इसी वैशिष्ट्य को उजागर किया है—**ग्रहणशीलता गुरु तुलसी की, जीवन अनबोला संदेश**[१]। पूज्य गुरुदेव अनेक बार इस स्वर को अभिव्यक्ति देते थे—''अच्छी बात विरोधी से भी ग्रहण कर लेनी चाहिए।'' ……**अत्यन्त सद्यस्क विचार जब मेरे सामने आते हैं तो चाहे मैं उन्हें स्वीकारूं या न स्वीकारूं किन्तु खुले दिमाग से उन्हें सुनना अवश्य चाहता हूं।**''[२]

लाडनूं प्रवास के दौरान पूना से डॉ. आर. के. गंगवाल ने पूज्यप्रवर के दर्शन किए। बातचीत के दौरान उन्होंने बताया—''सन्मति तीर्थ पूना संस्थान में २०० महिलाएं प्राकृत भाषा का अध्ययन कर रही हैं।'' जैसे ही गुरुदेव ने यह बात सुनी, उनकी ग्रहणशीलता ने इस बात को गहराई से पकड़ लिया। दूसरे दिन प्रात: वंदना के समय महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी को गुरुदेव ने फरमाया—''पूना में प्राकृत भाषा का इतना अध्ययन हो रहा है। क्या अपने यहां यह क्रम प्रांरभ नहीं किया जा सकता? मैं चाहता हूं बुजुर्ग बहिनों को, लड़कियों को, भाइयों को, सबको प्राकृत पढ़ाई जाए। प्राकृत भाषा के बिना जैन दर्शन और जैन संस्कृति को समझना मुश्किल है। इस संदर्भ में आज एक गोष्ठी करनी है, जिसमें यह तय किया जाए कि अध्यापन कैसे कराया जाए। पहले प्राकृत प्रशिक्षण कार्यशाला का आयोजन किया जाए, जिससे सबको प्रशिक्षण की विधि ज्ञात हो सके। मेरी अभीप्सा है कि इस उपक्रम से गृहस्थ समाज में भी अनेक प्राकृत के विद्वान् तैयार हों, जिससे वे महावीर-वाणी का लाभ उठा सकें।''

२८ सितबर १९९६ को पूज्य गुरुदेव और आचार्य महाप्रज्ञ की सन्निधि में प्राकृत प्रशिक्षण कार्यशाला का प्रारंभ हुआ। अध्यापन की प्राचीन विद्या का प्रयोग करते हुए गुरुदेव ने फरमाया—

---

१. व्यवहार बोध पृ. ९४।

२. एक बूंद..... भा. ३ पृ. १३१९।

संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः।
चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्येयं षड्विधा मता॥

अध्यापन में इन छह प्रक्रियाओं को जानना आवश्यक है। आचार्यवर ने स्वयं दशवैकालिक की प्रथम गाथा का अध्यापन प्रथम चार बिन्दुओं के आधार पर करवाया। सर्वप्रथम संहिता अर्थात् शुद्ध पाठ का उच्चारण करवाया। फिर पद अर्थात् गाथा में आए पदों की गणना करवाई। तदनन्तर पदार्थ अर्थात् पद के अर्थ की अवगति दी तथा पद-विग्रह में व्याकरण की सामान्य जानकारी दी। उस दिन आचार्यवर ने दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा का इतना सुंदर विश्लेषण किया कि अबोध और सुबोध सभी को आत्मसात् हो गया। बाद में पूज्य गुरुदेव ने अपनी उपस्थिति में युवाचार्य महाप्रज्ञ के निर्देशन में अनेक दिनों तक इस क्रम को चलाया तथा साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों को यह प्रेरणा दी कि वे व्यापक स्तर पर प्राकृत भाषा के इस क्रम को चलाएं। एक छोटी-सी बात ने उनके मस्तिष्क में क्रांति की लहर पैदा कर दी।

इसी प्रकार एक बार आचार्य तुलसी ने बौद्ध साहित्य का 'थेर गाथा' ग्रंथ देखा। उसमें बौद्ध भिक्षुओं की पाली भाषा में सहज अनुभूतियां एवं संक्षिप्त जीवन परिचय लिखा हुआ है। उसे देखकर गुरुदेव के मन में एक प्रेरणा जागी और साधुओं को आह्वान करते हुए कहा—''थेर गाथा की भांति साधु अपनी अनुभूतियों को संस्कृत एवं प्राकृत श्लोकों में गुम्फित करें। उनको संकलित करके 'निग्गंथगाथा' का रूप दिया जा सकता है।'' गुरुदेव की प्रेरणा से प्रेरित होकर कुछ साधु-साध्वियों ने श्लोकों की रचना की। गुरुदेव ने प्रातःकालीन प्रवचन में उन अनुभूतियों को प्रस्तुत करने का अवसर दिया। सभी रचनाओं में संस्मरणों की मिठास थी। यद्यपि वह ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ लेकिन सबको प्राकृत भाषा में नई रचना करने तथा अपनी अनुभूतियां लिखने का अवसर मिल गया।

समय-समय पर पूज्य गुरुदेव साधु-साध्वियों एवं समण-समणीवर्ग को भी ग्रहणशील बने रहने की प्रेरणा देते रहते थे। सन् १९६७ अहमदाबाद में विद्वानों के समक्ष 'मनोविकास की भूमिकाएं' विषय पर मुनि नथमलजी

(आचार्य महाप्रज्ञ) का विशेष प्रवचन हुआ। श्रोताओं में संतों की उपस्थिति बहुत कम थी। गोष्ठी के पश्चात् सभी संतों को बुलाकर बाढ़-स्वर में उपालम्भ देते हुए गुरुदेव ने कहा—''तुम लोग ग्राहक नहीं हो इसीलिए विकास नहीं कर पा रहे हो। बड़े-बड़े विद्वान् जिस विषय को सुनना चाहते हैं, उसके प्रति तुम उपेक्षा बरतते हो। तुम्हारी उदासीनता और लापरवाही देखकर मुझे आगम का एक वाक्य याद आ रहा है—'अयहारव्व झूरह'—अर्थात् प्राप्त अवसर का लाभ न उठाने वाले को लोहवणिक्[१] की भांति अनुताप करना पड़ता है। ऐसे गंभीर प्रवचन का सबको लाभ उठाना चाहिए।'' अपनी डायरी में अनुभव लिखते हुए गुरुदेव ने कहा—''इस बात को मैंने तेज भाषा में कहा। धीरे बोलकर भी यह बात कही जा सकती थी पर उसका प्रभाव कम होता। मैं संतों को सक्रिय शिक्षा देना चाहता था अत: बाढ़स्वर का सहारा लिया।''[२] पूज्य गुरुदेव की उस सामयिक प्रेरणा से सबके भीतर कुछ नया सुनने, नया पढ़ने एवं नया ग्रहण करने का उत्साह जागृत हो गया।

समाधायक चेतना

जो शिक्षक समस्याओं से घबराकर उससे पलायन कर देता है, वह ऊर्जस्वल और तेजस्वी व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर सकता। स्वामी विवेकानंद

१. चार वणिक् मित्र अर्थार्जन के लिए गए। मार्ग में उन्हें लोहे की खान मिली। चारों ने अपनी शक्ति के अनुसार लोहा उठा लिया। थोड़ी दूर चलने पर चांदी की खान आई। तीन मित्रों ने लोहा छोड़कर चांदी की गठरियां बांध लीं। चौथा मित्र बोला—''मैंने प्रथम बार में जो ले लिया, वही ठीक है बार-बार बदलना ठीक नहीं है। कुछ देर चलने पर मित्रों ने चांदी छोड़कर सोने की खान से सोना ले लिया। आगे चलने पर हीरे की खान आई। तीनों मित्रों ने सोना छोड़कर हीरे से अपनी गठरियां भर लीं। मित्रों ने उस चौथे मित्र को बहुत समझाया लेकिन वह अपने विचारों पर दृढ़ रहा और बोला—''तुम लोग अस्थिर चित्त वाले हो, बार-बार अपना निर्णय बदलते हो। मैं तुम्हारी बातों में नहीं आऊंगा।'' शहर पहुंचने पर वणिक् ने लोहा बेचकर बहुत कम धन-राशि प्राप्त की। वह चने बेचकर आजीविका चलाने लगा। वे तीनों वणिक् हीरे बेचकर धनाढ्य बन गए। एक दिन जब वह चने बेच रहा था तो मित्रों ने उसे पहचान लिया। उन्होंने उसे अपना परिचय दिया तो लोहवणिक् को गहरा आघात लगा। वह अपने आग्रह और अज्ञान पर पाश्चात्ताप करने लगा।

२. मेरा जीवन : मेरा दर्शन भाग ७, पृ. २६६।

का अभिमत था कि शिक्षक का कार्य है विद्यार्थी के भीतर अन्तर्दृष्टि जागृत करना, जिससे जीवन की समस्याओं का हल प्राप्त किया जा सके। आचार्य तुलसी प्रत्येक साधु-साध्वी के कल्याण और विकास के बारे में सोचते रहते थे। वे हर एक की समस्या का श्रेष्ठतम हल प्रस्तुत करते थे। शिष्य के चित्त को समाहित और गतिशील बनाने के कार्य को वे अपनी साधना का ही अंग मानते थे। अध्ययन की दृष्टि से भी वे सतत इस दिशा में चिंतन करते रहते थे कि अमुक विद्यार्थी सीखने में त्रुटियां क्यों करता है, अमुक सीखने में रुचि क्यों नहीं ले रहा है, अमुक नींद ज्यादा क्यों लेता है? अमुक हल्का-फुल्का साहित्य तो नहीं पढ़ रहा है? इन सबका वे विद्यार्थी साधु-साध्वी की प्रकृति के अनुकूल युक्तिपुरस्सर भिन्न-भिन्न समाधान प्रस्तुत करते थे।

उत्साह और आशावादिता

रास्क के अनुसार शिक्षक का उत्साह और आशावादिता विद्यार्थियों में संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। आचार्य तुलसी अध्यापक के रूप में उत्साह के जीवन्त प्रतीक थे। किसी भी परिस्थिति में अकर्मण्य और निराश होना उनकी प्रकृति के प्रतिकूल था। निम्न अभिव्यक्तियां उनके इसी चारित्रिक वैशिष्ट्य को प्रकट करने वाली हैं—

* मैं हर क्षण उत्साह की सांस लेता हूं इसलिए सदैव प्रसन्न रहता हूं।
* मैं कहूंगा कि मैं राम नहीं, कृष्ण नहीं, बुद्ध नहीं, महावीर नहीं, मिट्टी के दीए की भांति छोटा दीया हूं। मैं जलूंगा और जीवन भर समाज के अंधकार को मिटाने का प्रयास करूंगा।

अध्यापन के दौरान विद्यार्थियों के अवचेतन मन में भी वे आशा और उत्साह का संचार करते रहते थे, वे कहते थे —''मेरी प्रकृति ही कुछ इस तरह की निर्मित हो गई है कि मैं अपने सामने किसी को निष्क्रिय देखता हूं तो अनायास ही उसे प्रेरित करने की इच्छा हो जाती है।''

४. बालवय में अध्यापक

आचार्य तुलसी जन्मजात अध्यापक थे। '**मेरा जीवनः मेरा दर्शन**' पुस्तक में स्कूली जीवन का अनुभव लिखते हुए वे कहते हैं—'स्कूल में अध्यापक एक ही थे इसलिए अध्यापन-कार्य में कुछ चुने हुए विद्यार्थियों का सहयोग लिया जाता था। इस अर्थ में भी मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता था क्योंकि उन विद्यार्थियों में एक नाम मेरा भी था। मुझे अपने क्लास का मानीटर बना दिया गया। अमुक-अमुक बच्चों का ध्यान रखने की मुझ पर विशेष जिम्मेदारी थी। उन्हें पढ़ाने के साथ-साथ मैं उन पर अनुशासन भी करता था। स्कूल मे जितने लड़के पढ़ते, उनके द्वारा छोटी-बड़ी कोई भी गलती हो जाती, उसे लिखकर रखा जाता था। शाम को वह लिखित सूचना मास्टरजी के पास पहुंचाई जाती। इस काम का दायित्व भी मेरे पास था.....। अनुशासन और अध्यापन—ये दो कार्य बचपन से ही मेरे आदत रूप बन गए थे।''[१]

गुरुदेव तुलसी में अध्यापन की रुचि बचपन से ही जाग गई थी। उनकी ज्येष्ठा भगिनी लाडांजी को अक्षरज्ञान नहीं था। विवाह के कुछ समय पश्चात् ही उनके जीवन में वैधव्य का पहाड़ टूट पड़ा। उन्होंने अपने छोटे भाई तुलसी को कहा—''मुझे भी कुछ पढ़ना-लिखना सिखा दो, जिससे मैं अपने समय का सार्थक उपयोग कर सकूं।'' उस समय बालक तुलसी की उम्र मात्र सात वर्ष की थी फिर भी प्रतिदिन लाडांजी के ससुराल जाकर उन्हें अक्षरज्ञान कराते थे। कुछ ही दिनों के उपक्रम से लाडांजी साक्षर बन गईं।

दीक्षित होने के तीसरे साल वि. सं. १९८५ छापर में पूज्य कालूगणी ने मुनि तुलसी को बुलाकर निर्देश दिया—''तुलसी! इन वर्षों में दीक्षित होने वाले बालकों की संख्या काफी बढ़ रही है। साधुचर्या में इनकी सजगता बढ़े,

---

१. मेरा जीवन : .....भा. १, पृ. ३५, ३६।

यह आवश्यक है। पर जब तक इनका अध्ययन व्यवस्थित नहीं होगा, इनका आध्यात्मिक विकास भी सीमित रहेगा। **ज्ञानपूर्वक की जाने वाली साधना से संघ की तेजस्विता और प्रभावना बढ़ती है इसलिए मैं चाहता हूं कि कुछ साधुओं को विशेष रूप से तैयार किया जाए। उन्हें तैयार करने और पढ़ाने की जिम्मेदारी तुम संभालो।** डूंगरगढ़ का मुनि सोहन छोटी उम्र में दीक्षित हुआ है, उसकी बुद्धि अच्छी है अत:उसे तुम पढ़ाया करो।''[१]

गुरु का निर्देश प्राप्त होने के बाद की मन:स्थिति का चित्रण करते हुए आचार्य तुलसी लिखते हैं—''उस समय गुरुदेव की सन्निधि में अनेक प्रतिभा सम्पन्न साधु थे। वे अवस्था में मुझसे काफी बड़े थे। बाल साधुओं को पढ़ाने की जिम्मेदारी उन्हें न सौंपकर उस काम में मुझे नियोजित करने की बात मेरी समझ में नहीं आई। आती भी कैसे? **मैं उस समय मात्र चौदह वर्ष का था। उस समय न तो मुझे अपने पर पूरा भरोसा था और न ही मेरे चिंतन में कोई नई स्फुरणा थी। मैं स्वयं पढ़ रहा था। पढ़ने की उम्र में पढ़ाने का दायित्व अटपटा सा लगा। किन्तु गुरुदेव से कुछ निवेदन नहीं कर पाया। मैंने उस निर्देश को गुरु का अनुग्रह मानकर स्वीकार कर लिया।** मुनि सोहनलालजी मेरे पास अध्ययन की बात सुन बहुत प्रसन्न हुए। मैंने उनको दशवैकालिक, भक्तामर, सिंदूरप्रकर आदि सिखाने शुरू कर दिए। मेरी अध्यापन-यात्रा का वह प्रथम चरण था।''[२]

चौदह वर्ष की अल्पवय में अपने पास अध्ययनरत साधुओं की सार-संभाल करना, उनके खान-पान एवं स्वास्थ्य का ध्यान रखना, आवश्यकता एवं रुचि का ध्यान रखना, उन्हें इधर-उधर भटकने नहीं देना, परस्पर बातों में समय व्यर्थ नहीं गंवाने देना, संघर्ष सहने एवं विधायक भाव बढ़ाने की प्रेरणा देना, वृत्तियों को संयत बनाने का प्रतिबोध देना, उन्हें चरित्रनिष्ठ और कार्यपटु बनाना—ये सब उनके अध्यापन के अंग थे।

---

१. मेरा जीवन भा. १, पृ. १५२।
२. मेरा जीवन भा. १ पृ. १४७, १४८।

इस क्रम में बाल मुनि तुलसी की देखरेख में अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के भीतर नवीन पुरुषार्थ, स्फूर्ति और अटूट आस्था का प्रादुर्भाव हो गया। अपने अध्यापन कौशल से मुनि तुलसी ने उस वय में यह सिद्ध कर दिया कि 'न खलु वयस्तेजसो हेतुः।' आचार्य तुलसी के प्रभावी व्यक्तित्व के कारण थोड़े ही वर्षों में उनकी पाठशाला में सोलह स्थायी विद्यार्थी हो गए। तुलसी पोशाल (पाठशाला) में पढ़ने वाले साधु अपने भाग्य की सराहना करते रहते थे। बाल साधुओं में उनकी पाठशाला में प्रवेश लेने की प्रतिस्पर्धा- सी रहती थी किंतु मुनि तुलसी हर एक विद्यार्थी को अपनी पाठशाला में प्रवेश नहीं देते थे। किस साधु को अपनी पाठशाला में प्रवेश देना—चयन का यह अधिकार भी कालूगणी ने मुनि तुलसी को दे रखा था। जब कभी होनहार या योग्य बालकों की दीक्षा होती, उन्हें 'तुलसी पोशाल' में प्रवेश मिल जाता था। इस संदर्भ में पूज्य गुरुदेव अपना अनुभव लिखते हुए कहते हैं कि इस प्रक्रिया से तीन बातें फलित हुईं—

* आचार्य कालूगणी बाल साधुओं की ओर से काफी निश्चिंत हो गए।
* विद्यार्थी साधुओं के अध्ययन का क्रम व्यवस्थित हो गया।
* साधुओं में मेरा प्रभाव बढ़ गया। बड़े-बड़े साधु समझने लगे कि पूज्य कालूगणी की मुझ पर विशेष कृपा है। इससे उन्होंने भी मुझे महत्त्व देना शुरू कर दिया।''[१]

मुनि अवस्था में पूज्य गुरुदेव अपने बहुमूल्य समय का अधिकांश भाग दूसरों को पढ़ाने एवं उनके व्यक्तित्व-निर्माण में लगा देते थे। उनके ज्येष्ठ भ्राता मुनिश्री चम्पालालजी अनेक बार उन्हें प्रतिबोध देते थे कि तुम अपना सारा समय दूसरों को पढ़ाने में लगा दोगे तो तुम स्वयं कब पढ़ोगे? मुनि तुलसी सहज विनम्रता से इसका उत्तर देते हुए कहते—''चम्पालालजी स्वामी! **आपका**

१. मेरा जीवन भा. १ पृ. १५०।

कथन बिल्कुल सत्य है कि इस समय मुझे अपना विकास करना चाहिए किन्तु आप मुझे बताएं कि दूसरे हैं कौन? सब अपने ही तो हैं। उनका विकास भी तो अपना ही विकास है। मैं अध्यापन को स्वयं के अध्ययन से कम नहीं मानता। इनको पढ़ाने से मेरा अध्ययन स्वतः हो जाता है।'' मुनि जीवन की इस उदार सोच व उदात्त भाव ने उनको व्यापक और प्रशंसनीय बना दिया। गुरुदेव तुलसी केवल प्रतिभा से ही लघुवय में अध्यापक नहीं बने, दूसरों को आत्मवत् मानने की वृत्ति ने भी उनके प्रति सबके मन में सम्मान के भाव पैदा कर दिए।

तुलसी पाठशाला के विद्यार्थी आचार्य महाप्रज्ञ उस समय का अनुभव 'यात्रा : एक अकिञ्चन की' पुस्तक में लिखते हुए कहते हैं—''षोडशवर्षीय युवा शिक्षक की योग्यता को देखकर हम विद्यार्थी साधुओं के अंतस् में एक निष्ठा पैदा हो गई।..... छोटे-बड़े सभी मुनियों की दृष्टि में आप सम्मानित थे। मैंने अनेक बार यह साक्षात् अनुभव किया कि अधिक अवस्था वाले मुनि भी आपके सामने गौरवपूर्ण संकोच का अनुभव करते थे।''[१]

अत्यधिक व्यस्त क्षणों में अनेक बार जब मुनि उन्हें अध्यापन के श्रम से विरत होने का निवेदन करते तो पूज्य गुरुदेव का यही उत्तर होता कि **अध्यापन के कारण मुझे प्रसन्नता रहती है और प्रसन्नता के कारण श्वास की बीमारी भी ठीक रहती है। मैंने अनेक बार देखा है कि श्वास के भारीपन की स्थिति में भी जब मैं अध्यापन करता हूँ तो श्वास ठीक हो जाता है।''**

आचार्य पद पर आसीन होने के तीन दिन बाद ही पूज्य गुरुदेव ने साधुओं की भांति साध्वियों को भी पढ़ाना शुरू कर दिया। तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों के कारण महिलाओं को अक्षरज्ञान से अधिक शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी अत: प्राय: साध्वियां बहुत साधारण पढ़ी-

---

१. यात्रा : एक अकिञ्चन की पृ. ५१।

लिखी थीं। वैसी स्थिति में उन्हें संस्कृत व्याकरण और कोश कंठस्थ करवाना असंभव नहीं तो सरल कार्य भी नहीं था। आचार्य तुलसी को लगभग एक दशक का समय शिक्षा के प्रति साध्वियों की मानसिकता का निर्माण करने में लगा। उस समय अध्ययनरत साध्वियों ने अपना अनुभव बताते हुए कहा—''गुरुदेव ने पदारोहण के तीसरे दिन कालू कौमुदी के पूर्वार्द्ध की प्रति हमें पकड़वा दी। उसे देखकर सभी साध्वियां भयभीत हो गईं। संस्कृत के सूत्रों को याद करना हमारे लिए इतना सरल कार्य नहीं था। प्रारंभ में एक ही प्रति से १५-२० साध्वियां पढ़ती थीं। हस्तलिखित प्रति थोड़ी-थोड़ी देर सबके पास घूमती थी। गुरुदेव ने चयनित साध्वियों को कौमुदी के सूत्र रेत में लिख-लिखकर याद करने की प्रेरणा दी। पढ़ने वाली साध्वियों के साथ साध्वी सोनांजी आया करती थीं। एक दिन अध्ययन करने वाली साध्वियों के साथ साध्वीप्रमुखा झमकूजी पधारीं। गुरुदेव ने सबसे कौमुदी के सूत्र एवं संस्कृत का शुद्ध पाठ सुनना प्रारम्भ किया। साध्वियां प्रति के सहारे से बोल रही थीं। साध्वीप्रमुखा झमकूजी ने गुरुदेव को निवेदन किया—''ये साध्वियां देख-देख कर बोलती हैं।'' गुरुदेव तुलसी ने स्मित हास्य के साथ कहा—''कोई बात नहीं, बोलना तो सीख रही हैं, यह भी अच्छा है।''

उन्हीं दिनों का एक और प्रसंग उनके उदार और विशिष्ट अध्यापन-कौशल को प्रकट करने वाला है। अध्ययन के अभाव में तत्कालीन साध्वियों का उच्चारण शुद्ध नहीं था। अत: गुरुदेव अपने बहुमूल्य समय का नियोजन उनकी उच्चारण-शुद्धि में करते थे। **प्रथम दिन उच्चारण-शुद्ध करवाया जाता, दूसरे दिन फिर वैसा ही अशुद्ध उच्चारण हो जाता। कभी-कभी संयुक्त अक्षरों का उच्चारण इतना अशुद्ध होता कि साध्वियां आपस में हंसने लगती थीं।** एक दिन एक साध्वी ने बहुत अटपटा उच्चारण किया। उसे सुनकर सभी साध्वियां सशब्द हंसने लगीं। कुछ देर तक गुरुदेव साध्वियों की बाल सुलभ चपलता को देखते रहे लेकिन जब हंसी बंद ही नहीं हुई तो

अनुशासनात्मक कार्यवाही करते हुए कहा—''गुरु से विद्या ग्रहण करने का क्या यही तरीका होता है ? विद्या ग्रहण करने वाले को अधिक हास्य से दूर रहना चाहिए। अधिक या अनावश्यक हंसने वाले का व्यक्तित्व गंभीर नहीं बन सकता। किसी के वक्तव्य या उच्चारण में हास्य करने से शालीनता भंग होती है। उत्तराध्ययन का यह सूक्त सदैव याद रखो—**हासं कीडं च वज्जए**[१]।'' गुरुदेव के अनुशासनात्मक कठोर रूप को देखकर सभी साध्वियां सहम गईं और उनका मन अनुताप से भर गया। उनके मन में इतना भय समा गया कि दो दिन तक साध्वियां गुरुदेव के पास अध्ययन हेतु नहीं गईं। प्रात:काल दर्शन भी दूर से करके आ गईं। तीसरे दिन अध्ययन का समय होने पर गुरुदेव ने मुनि श्री मीठालालजी को साध्वियों को बुलाने के लिए भेजा। आचार्यवर के संदेश को प्राप्त कर साध्वियों का मन और अधिक भयभीत हो गया। साध्वीप्रमुखाश्री झमकूजी के समझाने पर वे गुरुदेव की सन्निधि में पहुंचीं। कोई भी साध्वी आंख उठाने का साहस नहीं कर पा रही थी। उन्हें भय था कि आचार्यवर का कड़ा उपालम्भ सुनना पड़ेगा। लेकिन आचार्यवर तो महान् दूरद्रष्टा थे, वे साध्वियों के कोमल मन को आहत करना नहीं चाहते थे अत: उन्होंने साध्वियों को न उपालम्भ दिया और न ही अनुपस्थित रहने का प्रायश्चित्त। वात्सल्य के साथ भविष्य के लिए प्रतिबोध देते हुए गुरुदेव ने कहा—''**अध्ययन से पूर्व यह सीखना आवश्यक है कि गुरु के समक्ष कैसे बैठना चाहिए? कैसे बोलना चाहिए? कैसे व्यवहार करना चाहिए? आदि।**'' गुरुदेव के इस प्रतिबोध से सभी साध्वियां भविष्य के लिए सजग हो गईं।

आचार्य महाश्रमणजी के शब्दों में पश्चिम रात्रि में गुरुदेव तुलसी का प्रशिक्षण का क्रम लगभग बराबर चलता रहता था। उसमें प्रौढ़ ज्ञान वाले विद्यार्थी भी होते थे और अल्पज्ञान वाले भी। अध्यापन के समय वे अन्य सब बातों को भूलकर उसी में तन्मय हो जाते थे।'' व्यवहारबोध में पूज्य गुरुदेव की

---

१. उ १/९।

आत्माभिव्यक्ति उनकी नैसर्गिक अध्यापन अभिरुचि को प्रकट करने वाली है—''**शिक्षण और प्रशिक्षण की, नैसर्गिक वृत्ति रही मेरी।**'' आचार्य तुलसी इस सत्य को स्वीकार करते थे कि स्वयं पढ़ने से उतना ज्ञान प्राप्त नहीं होता, जितना अध्यापन से होता है। यही कारण है कि वे स्वयं महाविद्यालय में नहीं पढ़े लेकिन महाविद्यालय एवं स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों को अध्यापन करवाया। लाडनूं में गौतम ज्ञानशाला में प्रारम्भ किए गए महिला महाविद्यालय की कन्याओं का लम्बे समय तक गुरुदेव ने अध्यापन किया। उस समय प्रवचन से पूर्व अध्यापन करवाने से शरीर और गले पर अतिरिक्त बोझ पड़ने लगा। दुर्बलता का अनुभव होने लगा, गुरुदेव ने अध्यापन न छोड़कर उनका समय बदल दिया। उन्होंने कन्याओं को सायं चार से पौने पांच तक अध्यापन करवाया। गुरुदेव संस्मरणों के वातायन में अपना अनुभव लिखते हुए कहते हैं कि परिवर्तित क्रम से अध्यापन करना ठीक रहा और मुझे भी प्रसन्नता की अनुभूति हुई।''

किशोरवय में प्रारम्भ किया गया उनका अध्यापन कार्य जीवन के अंतिम समय तक अनवरत चलता रहा। पूज्य गुरुदेव अनेक बार अपनी आंतरिक अभिरुचि व्यक्त करते हुए कहते थे—''और सब कार्य तो मुझे करने पड़ते हैं लेकिन अध्यापन मेरी रुचि का विषय है।'' एक बार आमेट में भगवती सूत्र के वाचन के समय गुरुदेव ने कहा—''**कई बार मन करता है कि अन्यान्य सारे कार्यक्रमों को छोड़कर विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं अंतरंग परिषद् की ओर विशेष रूप से ध्यान दूं, उन्हें प्रशिक्षित करने का कार्य मैं स्वयं करूं। जैसे बचपन में मेरी पाठशाला चलती थी, वैसी ही अब भी चले।**'' स्वास्थ्य की अनुकूलता न होने पर भी सन् १९९६ लाडनूं में गुरुदेव तुलसी के प्रतिदिन के अध्ययन-अध्यापन और वाचन का क्रम इस प्रकार था—

व्यक्तिगत अध्ययन	**अध्यापन**
उत्तराध्ययन	कालू कौमुदी

दशवैकालिक	शान्त सुधारस भावना
आचारांग	नीति शतक
ठाणं	प्राकृत कार्यशाला प्रशिक्षण
समवाओ	रामचरित्र की राग-रागिनियों
	का प्रशिक्षण
योगशास्त्र	व्यवहार बोध
	श्रावक सम्बोध
	अर्हत् वाणी
	सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति

महाप्रयाण के दिन प्रातः ९ बजे गुरुदेव ने विद्यार्थी साधुओं को अपने निकट बुलाया। मुनिश्री दिनेशकुमारजी एवं कुमारश्रमणजी आदि संत गुरुदेव की सन्निधि में बैठ गए। गुरुदेव ने फरमाया—''जंबू कहां है ? वह क्या कर रहा है ?'' जंबू मुनि ने गुरुदेव के निकट आकर निवेदन किया—''आज तेरापंथ भवन जाना है अतः विहार की तैयारी कर रहा हूं।'' गुरुदेव ने कहा—''अभी इतनी जल्दी क्या है ?'' फिर संतों को दशवैकालिक (६/११) के अप्पणट्ठा परट्ठा वा गाथा की विस्तृत अर्थ सहित वाचना देते हुए साधु जीवन में असत्य-भाषण से बचने की प्रेरणा दी। गुरुदेव तुलसी ने प्रेरणा देते हुए कहा—''ऐसे प्रेरक पद्य बाल साधुओं को कंठस्थ हो जाएं तो कितना अच्छा रहे।'' फिर कुमारश्रमणजी से लोगस्स पाठ का उच्चारण सुना और उसे शुद्ध करवाया। इस घटना के लगभग दो घंटे पश्चात् ही गुरुदेव महाप्रयाण कर गए। उनके रोम-रोम में समाया संकल्प फलित हो गया कि मैं जब तक जीऊं, कार्य करता रहूं।''

पूज्य गुरुदेव के मन में विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समणियों के प्रति विशेष वात्सल्य का भाव था क्योंकि **उनका मानना था कि विद्यार्थी जीवन में जो बीज बो दिए जाते हैं, वे जीवन पर्यन्त पुष्पित-फलित होते रहते हैं इसीलिए अन्य कार्यों को गौण करके भी वे विद्यार्थियों के बीच बोलना**

अधिक पसंद करते थे। विद्यार्थियों के जीवन-निर्माण के प्रति उदग्र अभिरुचि को प्रकट करने वाली निम्न पंक्तियां उनके व्यक्तित्व के इसी पहलू को प्रकट करने वाली हैं—

* विद्यार्थी जीवन में मेरी रुचि है। मैं उन्हें जीवन की नई दिशा और यथार्थ लक्ष्य का बोध कराना चाहता हूँ।

* मैं शिक्षा का सदा उपासक रहा हूँ। शिक्षा-संस्थानों में जाकर विद्यार्थियों के बीच अपनी बात कहने में मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होती है।''[१]

बालवय में प्रारम्भ किया गया उनका अध्यापन जीवन के अंतिम क्षणों तक पूर्ण ताजगी और संजीदगी के साथ चलता रहा। विविध विषयों में अनवरत चलने वाला उनका अध्यापन-कौशल वर्तमान पीढ़ी के अध्यापकों को नई ऊर्जा और ताजगी देने वाला है।

जो शिक्षा या विद्या शांति, तुष्टि, पवित्रता एवं आनंद—इन चारों तत्त्वों का जीवन में संचार नहीं करती, वह वास्तव में शिक्षा नहीं, अशिक्षा है, विद्या नहीं अविद्या है।

आचार्य तुलसी

ज्यादा अच्छी है नहीं, सुख-सुविधा की चाह।
शास्ता के नाते तुम्हें, 'तुलसी' नेक सलाह।।

आचार्य तुलसी

---

१. १४/४/६९ के प्रवचन से उद्धृत।

५. सतत सीखने में अभिरुचि

एक समय सीमा तक औपचारिक शिक्षा होती है लेकिन अनौपचारिक शिक्षा के लिए कोई समय-सीमा या आयु-सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। व्यक्ति को जीवन भर कुछ न कुछ सीखते रहना चाहिए। तैत्तिरीय उपनिषद् में 'स्वाध्यायान्मा प्रमद:' कहकर ऋषियों ने सतत स्वाध्याय की प्रेरणा दी है। जे. एस. मेकेञ्जी के अनुसार शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जो आजीवन चलती रहती है और जीवन के प्रत्येक अनुभव से उसके भंडार में वृद्धि होती है।''[१] सतत अध्ययन से निर्णायक क्षमता एवं कार्यकुशलता का विकास होता है। सतत स्वाध्यायी अध्यापक निषेधात्मक भावों से कोसों दूर रहता है।''[२] एक विचारक के अनुसार हर शिक्षक के भीतर एक विद्यार्थी होता है, उसे कभी मरने नहीं देना चाहिए। जब तक वह जिंदा रहे, कुछ न कुछ सीखते रहना चाहिए।'' शिक्षक प्रतिवर्ष, प्रतिमास, प्रतिदिन यहां तक कि प्रतिक्षण कुछ नया स्वाध्याय करता रहे, तभी वह विद्यार्थी को संतुष्ट कर सकता है अथवा नया ज्ञान देकर स्वयं को आधुनिक बनाए रखने की चेष्टा कर सकता है। सतत अधिगम में अभिरुचि रखने वाला अध्यापक ही विद्यार्थी के मस्तिष्क को प्रखर और सृजनशील बना सकता है तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक समस्याओं में संतुलन स्थापित कर सकता है। अध्ययन को इतिश्री मानने वाले अध्यापक के मस्तिष्क में जंग लग जाती है। **ज्ञान की बढ़ती हुई शाखाओं के युग में वही अध्यापक अपनी योग्यता बढ़ाकर अध्यापन के साथ न्याय कर सकता है, जिसमें सीखने की प्रबलतम अभिरुचि हो तथा जो पुस्तकालय का अधिकतम प्रयोग करता हो।**

रवीन्द्रनाथ टैगोर इसी मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं—''एक अध्यापक तब तक अपने विद्यार्थियों को सही रूप में नहीं पढ़ा सकता, जबकि

---

१. शिक्षा की आवश्यकताएं पृ. १०।

२. शिक्षा में नए आयाम, पृ. ९८ प्रो. एम. पारीक, डॉ. अशोक।

वह स्वयं अध्ययनशील न हो। जैसे एक दीपक दूसरे दीपक की लौ को तब तक प्रज्वलित नहीं कर सकता, जब तक कि वह स्वयं की लौ को प्रज्वलित नहीं रखता। वह अध्यापक जो अपने विषय की समाप्ति पर पहुंच गया है, जो ज्ञान से जीवन का तादात्म्य न रखकर केवल पाठों की पुनरावृत्ति करता है, वह छात्रों के मस्तिष्क को बोझ से लाद रहा है, वह उन्हें और उद्दीप्त नहीं कर पाता।''[१] उपन्यासकार जैनेन्द्रजी के शब्दों में सामान्यत: कहा जाता है कि शिक्षक देता है और शिक्षार्थी लेता है लेकिन ऐसा नहीं है। शिक्षक यदि अपनी शिक्षा के द्वारा खुद नहीं सीखता तो वह कैसी शिक्षा है ?''[२] आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में ''सौ गुणा पढ़ने वाला अध्यापक ही सम्यक् अध्यापन कर सकता है।'' आचार्य महाप्रज्ञ स्वयं एक कुशल अध्यापक थे। अपने जीवन का अनुभव बताते हुए वे कहते थे—''गृहस्थ जीवन के दस वर्षों को छोड़ दिया जाए तो भी ८० वर्षों से मैं लगातार अध्ययन कर रहा हूं फिर भी लगता है कि अभी बहुत कुछ पढ़ना बाकी है। ज्ञान के प्रति, विद्या के प्रति इतना असंतोष हो जाए—ज्ञान-प्राप्ति की अभीप्सा निरंतर बनी रहे, तब कहीं जाकर इस क्षेत्र में कुछ उपलब्धि होती है।''[३] आचार्य विनोबाभावे के शब्दों में नित्य नयी तालीम का अर्थ है—सतत नवीन बने रहना, जैसे नदी का पानी। **नदी बहती रहती है लेकिन प्रतिक्षण उसका पानी नया होता है, वैसे ही प्रतिदिन शिक्षा के द्वारा जो अनुभव प्राप्त होते है, वह है नित्य नयी तालीम**।''[४]

---

१. **Personality ; A teacher can never truly teach unless he is still learning himself. A lamp can never light another lamp unless it continues to burn its own flame. The teacher who has come to the end of his subject, who has no living traffic with knowledge, but merely repeat his lesson to his students can only load their minds, he cannot quicken them.**

२. शिक्षा और संस्कृति पृ. १८।

३. अणु १-१५ जुलाई २००८ पृ. ४।

४. शिक्षा में नए आयाम पृ. ९५।

स्वामी विवेकानंद का अभिमत था कि शिक्षक को यह कभी नहीं समझना चाहिए कि वह बालक को शिक्षा दे रहा है क्योंकि इससे शिक्षा का उद्देश्य पूर्णतया नष्ट हो जाता है। भारत में सीखना और सिखाने के लिए अलग-अलग शब्द या धातु नहीं है, जैसे अंग्रेजी में learn और teach—ये दो अलग-अलग क्रियापद हैं। इसका अर्थ है सिखाना स्वयं सीखना है।''[१] आचार्य तुलसी अध्यापन के समय स्वयं अध्ययन करने का अनुभव करते थे। एक बार गुरुदेव ने मुनिश्री बुद्धमलजी स्वामी की ओर संकेत करते हुए कहा—''**ये हमें पढ़ाने वाले हैं। वस्तुतः दूसरों को पढ़ाने से ही अपनी पढ़ाई होती है क्योंकि पढ़ाने वाला पहले स्वयं हर चीज को गंभीरता से पढ़ता है।**'' इस प्रसंग पर मुनिश्री बुद्धमलजी ने उपस्थित संतों को पूज्य गुरुदेव का एक संस्मरण सुनाते हुए कहा—''एक बार पिलानी के एक कॉलेज में प्रवचन करते हुए गुरुदेव ने कहा—''वास्तविक प्रोफेसर तो छात्र होते हैं क्योंकि छात्रों को पढ़ाने के लिए शिक्षकों को स्वयं पढ़ना पड़ता है।'' इस बात को सुनकर सब छात्र बहुत खुश हुए और विनोद में कहने लगे—''हम तो प्रोफेसर हैं।''

पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी इस तथ्य को स्वीकार करते थे कि ज्ञान-प्राप्ति और विकास की गति कभी रुकनी नहीं चाहिए। अध्यापक को जहां भी उपयोगी तथ्य मिले, उसे जीवन-पर्यन्त निःसंकोच भाव से ग्रहण करते रहना चाहिए, जिससे उसके कौशल और योग्यता में वृद्धि हो सके। अन्यथा वह अपने कार्य के प्रति प्रामाणिक नहीं रह सकता।'' कुछ न कुछ नया ग्रहण करने के लिए पूज्य गुरुदेव सतत पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों का स्वाध्याय करते रहते थे और जो कुछ पढ़ते, वह साधु-साध्वियों में वितरित करते रहते थे। गुरुदेव तुलसी अनेक बार इस अनुभूति को प्रकट करते थे—''अध्यापन के समय भी मैं अपने आपको विद्यार्थी ही अनुभव करता हूँ। मुझे विद्वान् से ज्यादा विद्यार्थी बनने में आनंद आता है। विद्यार्थी बनकर रहना सतत विकास की यात्रा है। इसमें नये-नये तत्त्व मिलते हैं और अहं नहीं आता। आज भी मेरे मन

१. शिक्षा विचार पृ. २, विनोबा भावे।

में नया जानने की भावना रहती है। जहां कहीं भी कोई उपयोगी बात या नई अवधारणा मेरे ध्यान में आती है, मैं उसे ग्रहण करने का प्रयत्न करता रहता हूं।''[१]

स्वयं के साथ विद्यार्थी के भीतर भी सतत नया ज्ञान प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प पैदा करना शिक्षक का पुनीत कर्तव्य होता है। पाश्चात्य विचारक मैन के अनुसार जो शिक्षक छात्र को सीखने की इच्छा से प्रेरित किए बिना ही सिखाने का प्रयास करता है, वह केवल ठंडे लोहे पर हथौड़ा बजाता है।''[२] अध्यापक द्वारा अभिप्रेरित और जागृत विद्यार्थी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सतत सीखने में प्रयत्नशील रहता है। पूज्य गुरुदेव तुलसी अध्यापन-काल में विद्यार्थी साधु-साध्वियों और समण-समणियों के अवचेतन मन में सतत सीखते रहने के संस्कार भरते रहते थे। सतत शिक्षा से उनका तात्पर्य यह नहीं था कि विद्यार्थी साधु-साध्वी जीवन भर डिग्री के रूप में पाठ्यक्रम की शिक्षा प्राप्त करते रहें। उनकी प्रेरणा यह थी कि जीवन की विविध समस्याओं के समाधान, सामर्थ्य और आनंदवृद्धि हेतु व्यक्ति को जीवन पर्यन्त कुछ न कुछ पढ़ते रहना चाहिए, जिससे वह जीवन के विविध क्षेत्रों में आने वाली परिस्थितियों का सम्यक् समायोजन कर सके। वे समय-समय पर प्रेरणा देते रहते थे—

* लोक-धारणा ऐसी है कि व्यक्ति पहले विद्यार्थी बनता है और बाद में शिक्षक। पर मैं समझता हूं कि व्यक्ति पहले शिक्षक बनता है और फिर विद्यार्थी। जब विद्यार्थी विद्यार्थी रहता है, तब शिक्षक उसको पढ़ाने के निमित्त स्वयं पढ़ता है, इस नाते विद्यार्थी शिक्षक है। इसी प्रकार जब वह शिक्षक होता है, तब वह विद्यार्थियों से पढ़ता है, इस नाते तब वह सच्चा विद्यार्थी होता है।

* ''व्यक्ति को आजीवन विद्यार्थी बने रहना चाहिए। 'विद्यार्थी हूँ, विद्वान् बनने का प्रयत्न कर रहा हूँ,' ऐसा सोचने से विकास एवं कुछ नया प्राप्त करने

---

१. विज्ञप्ति १०८८।

२. सफल शिक्षण कला पृ. ४४।

का द्वार सदैव खुला मिलेगा। स्वयं को विद्वान् मानने के बाद ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है अत: स्वयं को सदैव विकसित नहीं अपितु विकासशील मानना चाहिए।''

*''ज्ञान अनंत है अत: सतत ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करते रहना चाहिए। अध्ययनरत किसी साधु-साध्वी या समण-समणी के दिमाग में यह अहं नहीं आना चाहिए कि अब तो मैं पंडित बन गया हूं, निष्णात बन गया हूं, मैंने पूर्णता प्राप्त कर ली है। यह पूर्णता की अनुभूति अध्ययन की गति को अवरुद्ध कर देती है।''

आचार्य बनने के बाद अत्यंत व्यस्तता के क्षणों में भी पूज्य गुरुदेव नए-नए ग्रंथों के अध्ययन हेतु समय निकाल लेते थे। आचार्य बनते ही बीकानेर चातुर्मास में पूज्य गुरुदेव तुलसी के मन में उदग्र भावना जागी कि कुछ दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन करना है। अध्ययन हेतु प्रमाणनयतत्त्वा-लोकालंकार की टीका 'रत्नाकरावतारिका' का चयन किया गया। समस्या यह उपस्थित हुई कि उस गंभीर ग्रंथ को पढ़ाएगा कौन ? साधुचर्या के कारण किसी वेतनभोगी पंडित से वह ग्रंथ पढ़ना संभव नहीं था। उस समय की अनुभूति लिखते हुए पूज्य गुरुदेव '**मेरा जीवन : मेरा दर्शन**' में कहते हैं—''मेरी प्रकृति भी विचित्र है। कोई काम करने की इच्छा हो जाती है तो जैसे-तैसे उसे पूरा करने पर ही शांति मिलती है। अध्ययन की तड़प गहरी थी अत: मैंने पंडित रघुनंदनजी से कहा—''पंडितजी ! एक बार आप रत्नाकरावतारिका ग्रंथ देख लें। संस्कृत का अर्थ आप करें, दार्शनिक दृष्टि से विवेचन हम करेंगे।'' पंडितजी ने पुस्तक देखनी शुरू कर दी और पुस्तक के सहारे पढ़ाना शुरू किया....वे संस्कृत की दृष्टि से सांगोपांग अर्थ कर देते थे। उसके आधार पर हम ग्रंथ का प्रतिपाद्य पकड़ लेते थे। उस अध्ययन में श्रम बहुत हुआ पर एक नया रास्ता प्रशस्त हो गया।.....लगातार कई वर्षों तक गंभीरता के साथ पढ़कर उस ग्रंथ को पूरा किया। **उसे पढ़ने में जितना आनंद मिला, पढ़ाने में वह आनंद बहुगुणित हो गया। अध्यापन में विशेष रुचि होने के कारण मैंने**

अनेक साधु-साध्वियों को वह ग्रंथ पढ़ा दिया।''[१] यद्यपि विषय की दुरूहता और जटिलता के कारण विद्यार्थी संतों ने पहले अन्यमनस्कता दिखाई तथा सरल और छोटा ग्रंथ पढ़ाने का निवेदन किया लेकिन गुरुदेव का संकल्प पक्का था, पढ़ाने का तरीका सरस था अत: वह दुरूह और अगम्य विषय भी सरल और सुगम्य बन गया। **मेरा जीवन: मेरा दर्शन** ग्रंथ में पूज्य गुरुदेव ने अपना अनुभव लिखते हुए कहा—''मैं विद्यार्थियों को गंभीर ग्रंथ पढ़ाता ही नहीं था, स्वयं पढ़ने के प्रति उनका अनुराग भी जगाता था।''

पूज्य गुरुदेव मनोवैज्ञानिक तरीके से बाल साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों को अपने जीवन के अनुभवों से गंभीर ज्ञान प्राप्त करने के प्रति प्रेरित करते रहते थे। एक बार छोटे से गांव में पूज्य गुरुदेव साधु-साध्वियों का अध्यापन कर रहे थे। प्रेरणा देते हुए गुरुदेव ने कहा—''यह हमारी कमी है कि थोड़े से ज्ञान में ही हम स्वयं को सर्वज्ञ मान लेते हैं। मैं अपने बचपन की बात बताता हूं। जब मैं पूज्य कालूगणी के पास पढ़ता था तो मैं समझता था कि मैंने संस्कृत का पूरा अध्ययन कर लिया है। मैंने सिंदूरप्रकर काव्य अन्वय और भावार्थ सहित कंठस्थ कर लिया। उस समय मैं समझने लगा कि मैंने संस्कृत के सबसे बड़े काव्य का अध्ययन कर लिया किन्तु कुछ सालों के बाद जब माघ, कालिदास आदि के काव्यों को देखा तो मुझे ज्ञात हुआ कि जिसे मैं काव्य मानकर अपने को संस्कृत का ज्ञाता मान बैठा था, वह तो बच्चों को सिखाने वाली एक छोटी सी पुस्तिका है। सचमुच मुझे अपने अज्ञान पर बड़ा तरस आया। **मैं अपने जीवन के अनुभव के आधार पर कह सकता हूं कि जैसे-जैसे मैं आगे बढ़ रहा हूं, वैसे-वैसे मुझे जीवन-विकास के लिए बहुत अवकाश दिखाई दे रहा है। मैं सदैव कुछ नया सीखने एवं गहन ज्ञान के लिए लालायित रहता हूं। तुम लोगों को भी गंभीर ग्रंथ पढ़ने के लिए सतत लालायित रहना चाहिए।**''

इसी संदर्भ में निम्न वक्तव्य भी उनकी महानता का सूचक है—''मैं

---

१. मेरा जीवन : भा. २ पृ. ७९, ८०।

साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों से कहना चाहता हूं कि अपने आपको बड़ा मत मानो, यह अज्ञता का सूचक है। **जब मैं बालक था तब कालूगणी ने मुझे भक्तामर सीखने की प्रेरणा दी। जब भक्तामर कंठस्थ कर लिया तो मुझे लगा मैंने बहुत बड़ा ग्रन्थ सीख लिया। इससे बड़े बहुत ग्रंथ है, यह मेरी समझ से परे था। ज्यों-ज्यों ज्ञान की दिशा में कदम आगे बढ़ाए, ज्ञान का मद अपने आप दूर हो गया। आज सुदीर्घ काल की साधना के पश्चात् मैं आत्मविश्वास के साथ कह सकता हूं, अहं की सलवटों से मेरा मस्तिष्क खाली है। न मैं कभी निराश हुआ हूं और न किसी को निराश देखना चाहता हूं। मेरा यह अनुभव तुम लोगों के लिए भी प्रेरक बन सकेगा।''**

महात्मा गांधी के अनुसार—''यदि अध्यापक और विद्यार्थियों में ज्ञान के प्रति गहरा रुझान और सतत अध्यवसाय नहीं होगा तो आने वाले वर्षों में भारत नई चुनौतियों का सामना नहीं कर सकेगा।'' महात्मा गांधी की बात को जैन दर्शन की भाषा में कहा जा सकता है कि विकास के लिए अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की चेतना जगाना अत्यन्त आवश्यक है।

आचार्यश्री तुलसी की दिनचर्या के प्रमुख कामों में एक था—अध्यापन। उनका यह विश्वास था कि अध्यापन स्वयं का अध्ययन है, विकास का माध्यम है। इस विश्वास के कारण ही अध्यापन-कार्य उनके लिए कभी भार नहीं बना। आगम, दर्शन, व्याकरण, संस्कृत-साहित्य आदि कोई भी विषय हो, वे पूरी गंभीरता एवं तन्मयता के साथ पढ़ाते थे। पढ़ाने में उनको आनन्द की अनुभूति होती थी। प्राथमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ाने में वे जितना रस लेते थे, उतना ही रस स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों को पढ़ाने में लेते थे। यह काम उन्हें थकाने वाला नहीं लगता था। इससे उनमें नई ताजगी और ऊर्जा का संचार परिलक्षित होता था। यही कारण है कि आचार्यश्री अपने जीवन के अन्तिम दिन तक एक शिक्षक के रूप में प्रशिक्षण देते रहे।

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

६. प्रेरणा देने की कला

प्रगति और विकास का विशिष्ट उपक्रम है—प्रेरणा। अध्ययन और अध्यापन के क्षेत्र में प्रेरणा एक ऐसा शक्तिशाली माध्यम है, जिसके द्वारा विद्यार्थी के व्यवहार को प्रभावित कर उसमें जीवट क्रियाशीलता, नई स्फूर्ति और नई आकांक्षाए भरी जा सकती हैं। एस. एस. माथुर का अभिमत है कि एक कुशल अध्यापक बालक के अंतर में झांककर उसे ऐसे आदर्श की अनुभूति करा सकता है, जिससे प्रोत्साहित होकर वह एक उत्तम मानव बन सके।''[१] प्रेरणादायक व्यक्तित्व के अभाव में अध्यापन अव्यवस्थित और प्रभावहीन हो जाता है।[२] डॉ. एस. एस. चौहान के अनुसार प्रेरणा से विद्यार्थी लक्ष्योन्मुख बनता है। अध्ययन से निराश विद्यार्थी को भी अभिप्रेरणा से भविष्य के प्रति आशावान् और उत्साहित बनाकर उसे अतिरिक्त अध्ययन के लिए प्रेरित किया जा सकता है। गैटे ने प्रेरणा के तीन लाभ स्वीकार किए हैं—

* उचित व्यवहार को चुनने की क्षमता।
* व्यवहार को शक्ति सम्पन्न बनाने की कला।
* त्याज्य को छोड़कर व्यवहार को सही दिशा में संचालित करने की योग्यता।

मनोवैज्ञानिक विद्वान् पाठक एवं त्यागी के अनुसार—**यदि विद्यार्थी को किसी अध्ययन या पाठ के लिए उचित रूप से प्रेरित कर दिया जाता है तो शिक्षक द्वारा शिक्षण का आधा युद्ध जीत लिया जाता है क्योंकि प्रेरित होने पर विद्यार्थी में अध्ययन के प्रति रुचि जागृत हो जाती है। अध्ययन में ध्यान केन्द्रित हो जाता है तथा क्रियाशीलता उत्पन्न हो जाती है।''**[३]

महात्मा गांधी के अभिमत से एक आध्यात्मिक रूप से समर्थ शिक्षक

---

१. शिक्षण कला पृ. १५।

२. Yokam and Simpson : op. cit. p. 14।

३. शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त, पृ. ६२६।

सैकड़ों मील दूर रहकर भी विद्यार्थियों को प्रेरित कर सकता है। पूज्य गुरुदेव तुलसी आध्यात्मिक ऊर्जा से सम्पन्न महान् प्रेरणास्रोत अध्यापक थे। उनकी प्रेरणा, प्रशिक्षण और प्रयोग से सबमें सहज स्फुरणा जाग जाती थी। वे विद्यार्थी साधु-साध्वियों को अभिप्रेरित करने के अनेक उपायों के विज्ञाता थे। अपने गुरु कालूगणी से प्राप्त प्रेरणाओं को भी उन्होंने विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समणियों में संक्रान्त कर दिया। 'संस्मरणों का वातायन' में वे कहते हैं—''पूज्य कालूगणी ने मुझे अपनी दीक्षा के प्रारंभिक दिनों में तीन पाठ पढ़ाए—१. विद्याध्ययन करो। २. आचारनिष्ठ बनो। ३. श्रमशील बने रहो। गुरुदेव द्वारा पढ़ाए गए प्रथम पाठ के परिणामस्वरूप मैं विद्यारसिक बन गया। यह भी कहा जा सकता है कि मैं विद्याव्यसनी बन गया। दूसरे पाठ ने मुझे कदम-दर-कदम आचार के क्षेत्र में जागरूक रहने की प्रेरणा दी। तीसरे पाठ ने मेरे जीवन को श्रमनिष्ठा के संस्कारों से संस्कारित किया। उम्र के आठवें दशक में प्रवेश करके भी मैं दिन-रात परिश्रम करता हूं, यह उसी समय की प्रेरणा का सुफल है। तुम लोग भी इन प्रेरणाओं को लेकर विकास के पथ पर आगे बढ़ो।''

एक दिन में ही गुरुदेव तुलसी सैकड़ों लोगों के जीवन में नए आत्मविश्वास का संचार कर देते थे। अनेक छिपी प्रतिभाओं को उभारने, निखारने या उनमें जोश भरने में उनकी प्रेरणा ने संजीवनी का कार्य किया। महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्रीजी के शब्दों में—''**आचार्यश्री की प्रेरणा में कहीं प्रबोधन का प्रद्योत उगता दिखाई देता है तो कहीं प्रोत्साहन का दरिया लहरा रहा है। कहीं आह्वान का नाद सुनाई देता है तो कहीं उत्साहवर्धन की प्रयोगधर्मिता दृष्टिगत होती है। कहीं इतिहास और परम्परा को सहेजकर रखने की हिदायतें हैं तो कहीं नई लकीरें खींचने का साहस जगमगा रहा है।**''

प्रेरणा यदि केवल औपदेशिक होती है तो उतनी प्रभावी नहीं होती। यह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और व्यक्ति को देखकर बदलती रहनी चाहिए। पूज्य गुरुदेव की प्रेरणाएं इतनी विविधमुखी थीं कि यदि उन सबका संकलन

किया जाए तो एक बृहत्काय ग्रंथ की रचना हो सकती है। वे कभी घटना से, कभी शब्दों से, कभी क्रिया से, कभी पत्रों से तथा कभी किसी उदाहरण या संस्मरण से व्यक्ति की चेतना को झकझोर कर ज्ञान के प्रति अनुराग और जोश जगाते रहते थे। वे इस कला में निष्णात थे कि कब किसको किन शब्दों में उचित प्रेरणा दी जाए। यहां उनके प्रेरणास्रोत व्यक्तित्व के कुछ सजीव संस्मरण प्रस्तुत हैं—

* वि. सं. २०१८ का प्रसंग है। साध्वी कंचनप्रभाजी को दीक्षित हुए दो मास ही बीते थे। एक दिन वे साध्वीप्रमुखा लाडांजी के साथ गुरुदेव तुलसी की सन्निधि में बैठी थीं। एक मुनि भिक्षा में सेके हुए गेहूं लेकर आए। गुरुदेव ने बाल साध्वी को गेहूं के दानों का ग्रास देते हुए कहा—''लो, देखता हूं, इनको कैसे उगाओगी ?'' साध्वी कंचनप्रभाजी गुरुदेव के करकमलों से ग्रास प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न थी लेकिन उनका मन गुरुदेव द्वारा कहे गए वाक्य की अनुप्रेक्षा करने लगा। गेहूं के दाने धरती में बोने से एक दाने से अनेक दाने प्राप्त हो जाते हैं। मैं इन दानों को कैसे उगाऊंगी ?'' अनुप्रेक्षा करते-करते उन्होंने सोचा—''गुरुदेव ने मुझे ज्ञान को विस्तार देने की प्रेरणा दी है।'' प्रेरित होकर उस समय उन्होंने गुरुदेव को निवेदन किया—''गुरुदेव! मुझे संकल्प कराएं कि आज तक मैंने जो कंठस्थ ज्ञान किया है, उनका बार-बार पुनरावर्तन करती रहूं, कभी भूलूं नहीं।'' गुरुदेव के इंगित से यह संकल्प उनके लिए गेहूं के दानों की भांति सदा हरा-भरा रखने वाला प्रमाणित हुआ।

* एक बार अध्यापन के दौरान अध्ययन के प्रति जागरूकता की प्रेरणा देने के लिए एक सूफी संत का संस्मरण सुनाते हुए गुरुदेव ने कहा—''अन्य संतों के साथ सूफी संत हाफिज अपने गुरु के पास साधना कर रहा था। एक दिन गुरु ने सबको आदेश दिया—''शिष्यों! ध्यानमग्न हो जाओ और तब तक ध्यानमग्न रहो, जब तक मैं आवाज न दूं।'' गुरु के आदेश से सभी शिष्य ध्यानमग्न हो गए। अर्धरात्रि के बाद गुरु ने हाफिज को पुकारा। वह तत्काल गुरु के पास पहुंच गया। गुरु ने उसे ध्यान की विशेष विधि बताई।

वहां से लौटकर वह पुन: ध्यानमग्न हो गया। आधा घंटे बाद गुरु ने दूसरे शिष्य का नाम लेकर पुकारा लेकिन इस बार भी हाफिज ही गुरु-चरणों में पहुंचा। सुबह तक गुरु ने दस बारह बार दूसरे-दूसरे शिष्यों को बुलाया लेकिन दूसरा कोई शिष्य नहीं आया। हर बार हाफिज ही उपस्थित हुआ और उसने जीवन के अनेक अनावृत रहस्यों की जानकारी प्राप्त की। इस घटना के माध्यम से विद्यार्थी साधु-साध्वियों को प्रेरणा देते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''हर बार हाफिज ही उपस्थित हुआ, इसका मतलब यह नहीं है कि दूसरे-दूसरे शिष्य उच्छृंखल थे, वे ज्ञान प्राप्त नहीं करना चाहते थे या वे आदेश के प्रति सजग नहीं थे। मूलत: वे सब गहरी नींद में चले गए। जो जागृत और अप्रमत्त रहा, उसने गुरु से सारे रहस्यों को जान लिया। **तुम लोग भी जितने जागरूक और अप्रमत्त रहोगे, उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकोगे। इसिभासियाइं का यह सूक्त सदैव याद रखो ''जागरह नरा! निच्चं, जागरमाणस्स जागरति सुत्तं''[१] अर्थात् व्यक्ति को सदैव जागृत रहना चाहिए। जो जागृत रहता है, उसका सूत्र—ज्ञान भी जागृत रहता है।''**

* राजेन्द्र मुनि संकोचशील, सेवाभावी, विनम्र और परिश्रमी संत हैं। एक बार उन्होंने अध्ययन के संबंध में गुरुदेव से निराशाजनक बात कही। गुरुदेव ने उनके मन पर छाई निराशा की परत को दूर करते हुए कहा—''मुझे तुम्हारी निराशावादी मनोवृत्ति बिल्कुल पसंद नहीं है। तुम्हारा कंठस्थ ज्ञान व्यवस्थित है, उच्चारण शुद्ध है, लेखन और अध्ययन का क्रम भी अच्छा चल रहा है, फिर निराशा क्यों? यदि थोड़ी बहुत शिथिलता है तो उसे पुरुषार्थ से दूर करो, अभ्यास से सब कुछ ठीक हो जाएगा।'' गुरुदेव तुलसी के इस उत्साह-वर्धन से उनकी निराशा और कुंठा समाप्त हो गई तथा उनमें नई चेतना का संचार हो गया।

अनेक बार इतिहास के जीवन्त पात्रों के जीवन-चरित्र और उनके गुणानुवाद से भी प्रेरणा देने का क्रम चलता रहता था। एक बार बाल साधु-

१. इसि ३५/२३।

साध्वियों की गोष्ठी में पूज्य गुरुदेव ने दो संतों का उदाहरण प्रस्तुत किया— ''चर्या में जागरूकता रखने वाले संतों में एक हुए हैं—भींवराजजी स्वामी। वे चलते समय कभी बात नहीं करते थे। बैठते व बोलते हुए अपनी गतिविधि में सजग रहते थे। वे कर्तव्यनिष्ठ और सेवाभावी थे। वे जिस कार्य को प्रारम्भ करते, उसको पूरी निष्ठा के साथ सम्पन्न करते थे। मुनि भीमजी स्वामी (आमेट) आचारनिष्ठ, स्वामिभक्त, आज्ञा-मर्यादा में सजग और बात को पचाने में सक्षम थे। उनका अध्ययन गंभीर था। वे शास्त्रीय तथ्यों को तार्किक कसौटी पर कसना जानते थे। आगम का अध्यापन उनकी रुचि का विषय था। आगमों के गंभीर रहस्यों (आंटियों) के वे अच्छे ज्ञाता थे। मेरे समकालीन अनेक साधुओं ने उनसे आगम पढ़े। वे आधुनिक वैज्ञानिक विचारों से पूरे परिचित रहते थे। अच्छे विचारों को दूसरों में संप्रेषित करने की कला में वे निष्णात थे। वे शासनभक्त थे। गुरु के प्रति समर्पित थे। आचार्यों के विश्वासपात्र थे। जब कभी शीतकाल में साधुओं की संख्या अधिक होने पर इधर-उधर रखना पड़ता, व्यवस्था का दायित्व उन्हें सौंपा जाता था। वे छोटे साधुओं को भी 'जी' लगाकर संबोधित करते थे।'' ऐसे पुराने साधुओं के उदाहरण प्रस्तुत करने के पीछे गुरुदेव का एक ही लक्ष्य था कि संघ में ऐसे संतों की परम्परा चले, अन्य लोग भी उससे प्रेरणा ले सकें।

अध्यापक यदि वैयक्तिक रूप से प्रेरणा देता है तो विद्यार्थी का ध्यान उस ओर अधिक सक्रिय होता है। सामूहिक रूप से दी गयी प्रेरणा से कुछ सजग विद्यार्थी ही लाभ उठा सकते हैं। किस व्यक्ति को कहां, क्या, कैसे व्यक्तिगत सीख देनी, इस कला में गुरुदेव तुलसी अत्यधिक निष्णात थे। इसी कारण संघ में चतुर्मुखी प्रतिभाओं का विकास हो सका। जब कभी किसी विद्यार्थी साधु के मस्तिष्क पर निराशा की बदली छा जाती तो पूज्य गुरुदेव प्रेरणा देकर उसके उत्साह को पुनः जागृत कर देते थे। यहां उनके द्वारा वैयक्तिक रूप से प्रेरणा देने के कुछ प्रेरक प्रसंग प्रस्तुत हैं—

मुनि दिनेशकुमारजी संघनिष्ठ, आचारनिष्ठ और गंभीर प्रकृति के साधु हैं। एक दिन सायंकाल गुरुदेव ने मुनि दिनेशकुमारजी से कहा—''तुम इतिहास लिखने के क्षेत्र में गति करो।'' उन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहा—''इतिहास का विषय कठिन है अत: आप किसी अन्य मुनि को इस कार्य में नियुक्त करें। मुझे इस विषय में विशेष जानकारी भी नहीं है।'' गुरुदेव ने उनकी पीठ थपथपाते हुए कहा—''कठिन क्या होता है ? ज्यों-ज्यों प्रयत्न करोगे, विषय का लेखन सरल होता चला जाएगा।'' मुनि श्री ने पुन: निवेदन किया—''इतिहास लेखन में गलतियां क्षम्य नहीं होतीं। मुझे प्रामाणिक जानकारी भी नहीं है।'' गुरुदेव ने प्रेरणा देते हुए कहा—'लिखोगे तो गलतियां भी संभव हैं। गलती होगी तभी तो सुधार होगा। तुमने तो वही बात कर दी कि जब तक तैरना नही सीखूंगा, तब तक पानी में पैर नहीं रखूंगा। पानी में पैर रखोगे, तभी तो तैरना सीख सकोगे। घबराओ मत, प्रयत्न चालू रखो। अभ्यास करते-करते इतिहास के विषय में निष्णात हो जाओगे।''

मुनिश्री ऋषभकुमारजी अत्यन्त शान्त, विनम्र, सहज, पुरुषार्थी और निर्जरार्थी संत हैं। उन्हें प्रारंभ से ही आचार्य श्री महाश्रमणजी की सेवा करने का अवसर मिला। एक दिन गुरुदेव तुलसी ने उनको व्याख्यान कंठस्थ करने की प्रेरणा दी। गुरुदेव की प्रेरणा के साथ ही उन्होंने व्याख्यान कंठस्थ करना प्रारंभ कर दिया। कुछ दिनों पश्चात् गुरुदेव ने उन्हें पूछा—''बोलो, व्याख्यान कंठस्थ करने का क्या हालचाल है ? कितना कंठस्थ किया है ?'' उन्होंने सकुचाते हुए उत्तर दिया—''बीस पद्य ही कंठस्थ हुए हैं।'' गुरुदेव ने फरमाया—''बहुत कम किया है। थोड़ी गति बढ़ाओ और कंठस्थ करके मुझे सुनाओ। बिना सुने हम नहीं मानेंगे।'' आत्मीयता से भरे गुरुदेव के इन शब्दों ने जादू का सा काम किया और वे तन्मय होकर कंठस्थ करने लगे। थोड़े दिनों में उन्होंने 'मैं तिरूँ म्हांरी नाव तिरै' पुस्तक के अधिकांश व्याख्यान याद कर लिए।

सामने बैठे बाल साधु-साध्वियों की हर गतिविधि पर गुरुदेव का ध्यान रहता था। वे छोटी से छोटी प्रवृत्ति को लक्ष्य करके उन्हें सजग रहने की

प्रेरणा देते रहते थे। मध्याह्न के समय पूज्य गुरुदेव संतों को संस्कृत व्याकरण पढ़ा रहे थे। प्रक्रिया को ठीक से समझने के लिए वे उसे कॉपी में लिख रहे थे। गुरुदेव की दृष्टि उनकी कॉपी पर पड़ी। उन्होंने बालमुनि को प्रेरणा देते हुए कहा—''जो शब्द एक पंक्ति में आ सकते थे, उनके लिए दो पंक्तियां क्यों खराब कीं ?'' तत्रस्थ एक मुनि ने कहा—''गुरुदेव की दृष्टि अत्यन्त पैनी है। हमें बात-बात में कोई न कोई शिक्षा मिल ही जाती है।'' गुरुदेव ने फरमाया—''प्रेरणा मिलनी ही चाहिए। अपव्यय तो अपव्यय ही है। पानी का हो या कागज का अथवा किसी अन्य वस्तु का। गृहस्थों से अपव्यय होता रहता है पर हम तो संयमी हैं। हमें हर कार्य में संयम को सामने रखना चाहिए।''

पूज्य गुरुदेव तुलसी अध्यापन में तल्लीन थे। एक ग्रामीण भाई साध्वियों की पंक्ति को चीरकर आगे बढ़ने लगा। गुरुदेव ने उसे रोका तो वह लौट गया। गुरुदेव तुलसी ने विद्यार्थी साधु-साध्वियों को प्रेरणा देते हुए कहा—''इन लक्षणों से व्यक्ति गंवार कहलाता है। आगे जाने का रास्ता नहीं था फिर भी वह चीरकर आगे बढ़ने लगा। वस्तुत: व्यक्ति जाति से गंवार नहीं कहलाता, नासमझी से गंवार होता है।'' इसी प्रकार एक दिन प्रज्ञा हॉल को पार करते हुए एक भाई के शरीर से साधु के पैर का स्पर्श हो गया। गुरुदेव की पैनी दृष्टि ने यह देख लिया। तत्काल श्रावकों के समक्ष साधु को भूल का अहसास कराते हुए गुरुदेव ने कहा—''देखते नहीं हो, तुम्हारे पैर से उस भाई को ठोकर लग गई और तुम बिना क्षमा मांगे ही आगे बढ़ गए।'' मुनि ने उसी क्षण लौटकर विनम्रता पूर्वक श्रावक से क्षमा मांगी। गुरुदेव ने प्रतिबोध देते हुए कहा—''साधु-साध्वियों की भांति आगम में श्रावक-श्राविकाओं की आशातना का भी उल्लेख मिलता है अत: इस संदर्भ में जागरूकता रखनी आवश्यक है।''

पूज्य गुरुदेव विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों को घटना विशेष के माध्यम से भी प्रेरणा देते रहते थे। जयपुर के सुराणा फार्म में कुछ विद्यार्थी साधु गुरुदेव तुलसी के उपपात में बैठे थे। नवदीक्षित साध्वियां भी

वहां उपस्थित हो गयीं। गुरुदेव ने गांधीजी के तीन बंदरों का प्रसंग सुनाकर संस्कार-निर्माण की प्रेरणा देते हुए कहा—''गांधीजी के बंदरों की भांति अनावश्यक मत देखो, अनावश्यक मत सुनो और अनावश्यक मत बोलो। शक्ति का अनावश्यक व्यय न हो इसलिए भावक्रिया का अभ्यास करो।....अनावश्यक प्रवृत्ति से बचने वाला विद्यार्थी गंभीर बन जाता है। गंभीरता जीवन का विशेष गुण है। कहीं कुछ सुन या देख लेने के बाद भी उसे स्वयं तक सीमित रखने का अभ्यास गंभीरता है। जिस प्रकार गरिष्ठ भोजन को पचाना कठिन होता है, वैसे ही किसी बात को पचाना बहुत कठिन होता है। बात करने की आदत बात सुनने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है। इधर-उधर की बात करने और सुनने में जिसका मन लग जाता है, वह अध्ययन और अध्यात्म में मन नहीं लगा सकता इसलिए अनावश्यक काम न करने का संकल्प लेकर करणीय कार्यों में अपनी शक्ति का उपयोग करो और प्रसन्न रहो।''

जब भी समणीवृंद या पारमार्थिक शिक्षण संस्था की बहिनें गुरुदेव तुलसी के उपपात में पहुंच जातीं तो गुरुदेव उनके व्यक्तित्व-निर्माण की दृष्टि से कुछ न कुछ बोधपाठ दे देते थे। अनेक बार यह क्रम आगम के सूक्तों के माध्यम से भी चलता रहता था। लाडनूं का प्रसंग है। अर्हत् वंदना में कुछ देरी थी। गुरुदेव ने 'आयारो' का एक सूक्त ''**जे महं अबहिमणे**'' का शुद्ध उच्चारण करवाकर उसका अर्थ पूछा। बहिनें संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकीं। साधुओं ने सही अर्थ बता दिया। उसकी व्याख्या करके प्रेरणा देते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''**वह महान् होता है, जो अन्तर्मुखी और आत्म-संयमी होता है। जिसका मन बाहर भटकता है, भौतिकता में आकृष्ट रहता है, वह कभी महान् नहीं बन सकता। शिक्षा के योग्य भी वही होता है, जो बहिर्मुखी नहीं होता। अपने मन पर संयम करके ही सुसंस्कृत बना जा सकता है।**'' मुमुक्षुओं को यह सूक्त कंठस्थ करवाकर गुरुदेव ने फरमाया—''मन तो करता है कि यह क्रम अनवरत चलता रहे पर तन कभी-कभी कठिनाई पैदा कर देता है।''

सन् १९८५ का घटना प्रसंग है। आसींद में मच्छरों की बहुलता के कारण पूज्य गुरुदेव को रात्रि में नींद नहीं आई। सवेरे गुरुदेव ने फरमाया—''उत्तराध्ययन (२/१०) का पद्य '**पुट्ठो य दंसमसगेहिं, समरेव महामुणी**' रात्रि में बहुत याद आया।'' उस समय गुरुदेव तुलसी ने उस पद्य में आए 'समरेव' शब्द का अर्थ बाल संतों से पूछा। प्राय: संतों ने समरेव का अर्थ समर अर्थात् युद्ध किया। अंत में स्वयं गुरुदेव तुलसी ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा—''यहां सम एव शब्द है। रकार अलाक्षणिक है।'' गुरुदेव ने गाथा की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए सबको मच्छर दंश आदि प्रतिकूल परिस्थितियों को समता से सहने की प्रेरणा दी।

समय-समय पर पूज्य गुरुदेव द्वारा विद्यार्थी साधु-साध्वियों को प्रदत्त प्रेरणाओं के कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं, जो आंतरिक ऊर्जा का प्रस्फोट करने वाले हैं—

* अपने भीतर असीम ऊर्जा का अनुभव करो। अनवरत कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए, उन्हें सहन करते हुए, परम लक्ष्य की ओर बढ़ते जाओ। एक स्वर्णिम प्रभात तुम्हारी प्रतीक्षा करता हुआ मिलेगा।

* यह सोचना भूल है कि हम क्या कर सकते हैं, हमारी उम्र पक गई, हम दूसरे-दूसरे कामों में नियोजित हैं, हमारी पृष्ठभूमि बहुत कमजोर है, हम शिक्षा के योग्य नहीं हैं। ये सब विकल्प एक अकर्मण्य व्यक्ति के दिमाग में उठते हैं।

* जीवन में सफलता के लिए अभ्युत्थान बहुत आवश्यक है। मैं चाहता हूं कि तुम लोग आलस्य में मत रहो, अनावश्यक नींद मत लो, निर्लक्ष्य मत बैठे रहो। अभ्युत्थान करो, जिससे सफलता तुम्हारा वरण कर सके।

विविधमुखी प्रेरणाओं से पूज्य गुरुदेव ने अपने शासनकाल में शिक्षा की नई लहर पैदा कर दी। विविध आयामों से शिक्षा को समृद्ध करने का प्रयत्न किया। शिक्षा के विकास के संदर्भ में वे कहते थे—''**आने वाले युग की तस्वीर मेरी आंखों के सामने थी इसलिए मैंने अनेक महत्त्वपूर्ण कामों**

को गौण कर एक बुनियादी काम हाथ में लिया। वह काम था शिक्षा के बहुआयामी विकास का।'' अन्य दर्शनों तथा ज्ञान की अन्य शाखाओं के अध्ययन की प्रेरणा देने से साधु-साध्वी एवं समण-समणी समाज में बहुमुखी प्रतिभा का विकास हो गया। तुलनात्मक एवं ज्ञान की अन्य लौकिक शाखाओं के अध्ययन की प्रेरणा ने भी उनके व्यापक और उदार व्यक्तित्व को उजागर कर दिया। समय-समय पर वे साधु-साध्वियों को प्रेरणा देते हुए कहते थे— ''मैं चाहता हूं कि व्याकरण, गणित, इतिहास, विज्ञान, दर्शन, सिद्धान्त आदि विषयों में हमारे साधु विशेषज्ञ बनें। इन विषयों पर उनका अपना विशेष अधिकार हो। जिस साधु की जिस विषय में रुचि हो, वह मुझे कहे। मैं उसके समुचित अध्यापन की व्यवस्था करने का प्रयास करूंगा। **पश्चिमी विद्वान् एक विषय के विशेषज्ञ बनने में अपना पूरा जीवन खपा देते हैं। इस क्षेत्र में उनका अनुकरण करने में संकोच नहीं करना चाहिए। साधु-साध्वियों और समण-समणियों के ज्ञान का धरातल ठोस हो, यह मेरी वर्षों की आकांक्षा है।** आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उनका प्रवेश मुझे कुछ आशावादी बनाता है। पर इनमें भी अधिकृत विद्वान् कितने हैं ? नए-नए विषयों में चंचुपात करने मात्र से तो हमारा काम पूरा नहीं हो जाएगा। आधुनिक विषयों में प्रवेश का अर्थ यह तो नहीं है कि हमारा परम्परागत ज्ञान उपेक्षित हो जाए। जैन दर्शन और जैन आगमों का गंभीर अध्ययन संघ के विकास की आधारशिला है। इसके लिए संस्कृत आदि भाषाओं का गहरा ज्ञान आवश्यक है। अंग्रेजी भाषा का भी अपना उपयोग है। मैं पूछना चाहता हूं कि इस दृष्टि से कितने साधु-साध्वियों ने दक्षता प्राप्त की है ?''

मिस पार्वाहर्स्ट का कथन है कि प्रेरणा द्वारा बालक में रुचि पैदा करने पर वह उस विषय में अधिक उत्सुक, अधिक सावधान और अधिक जागरूक हो जाता है। वह उस अध्ययन के दौरान होने वाली कठिनाई का सामना करने में भी समर्थ हो जाता है।'' पूज्य गुरुदेव का कठिन एवं नीरस ग्रंथों को अध्ययन करने की प्रेरणा देने का तरीका भी निराला था। इस संदर्भ में कुछ

घटना प्रसंग यहां प्रस्तुत हैं—

सन् १९७४ का घटना प्रसंग है। अपर रात्रि का समय था। पूज्य गुरुदेव की सन्निधि में उन दिनों स्याद्वादमंजरी का पाठ चल रहा था। उन्होंने संतों को प्रेरित करते हुए कहा—''मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ) का 'स्याद्वाद और जगत्' लेख पठनीय एवं मननीय है।'' एक साधु जो दर्शन जैसे नीरस विषय में कम रुचि रखते थे, उनकी ओर इंगित करते हुए गुरुदेव ने कहा—तुम तो उस लेख को छोड़ दोगे।'' सकुचाते हुए मुनिश्री बोले—''जब ऐसे गहन विषय समझ में ही नहीं आते तो क्या करें?'' गुरुदेव ने प्रतिबोध देते हुए कहा—''यदि वैज्ञानिक तुम्हारी तरह निराश हो जाते तो सफलता कैसे पाते? कठिन विषय में प्रवेश करना ही तो विकास का पथ है। कूप से पानी पाने की आशा करने वाले क्या चट्टान के मध्य में आ जाने पर जमीन खोदना छोड़ देते हैं? यदि कठिन विषय को नहीं पढ़ा जाए तो बुद्धि का उपयोग ही क्या है? **तरल पदार्थ प्रतिदिन लेने से दांतों का व्यायाम नहीं होता। दांतों की स्वस्थता हेतु तरल व ठोस दोनों पदार्थ आवश्यक हैं, वैसे ही बुद्धि के विकास हेतु सरल व कठिन दोनों विषय आवश्यक हैं।**'' पूज्य गुरुदेव की इस प्रेरणा से उनमें दर्शन जैसे गहन विषय को पढ़ने की अभिरुचि जागृत हो गयी। इस प्रकार गुरुदेव तुलसी शिष्यों की सोयी शक्ति जगा देते थे।

व्याकरण की दुरूहता को देखते हुए वे विद्यार्थी साधु-संतों के समक्ष अनेक बार निम्न पद्य का उच्चारण करते थे—

खान-पान चिन्ता तजै, निश्चय मांडे मरण।
घो ची पू ली करतो रहै, जद आवै व्याकरण॥

जब विद्यार्थी खान-पान की चिन्ता छोड़कर केवल व्याकरण में ही अपनी पूरी शक्ति लगाता है, सूत्रों को घोटने, चितारने, पूछताछ करने एवं लिखने में दत्तचित्त होता है, तब व्याकरण हृदयंगम होता है। इस पद्य को गुरुदेव के मुखारविंद से सुनकर विद्यार्थी साधु संतों के भीतर दृढ़ संकल्प और आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता था।

बीदासर का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव ने अध्यापन के दौरान 'सिद्धाणं नमो किच्चा' पद्य का अर्थ पूछा। कोई भी इस पद का सही अर्थ नहीं बता सका। उस समय पूज्य गुरुदेव ने कहा—''आगम हमारी मूल निधि है। इसमें जितने गहरे उतरेंगे, उतने ही लाभान्वित होंगे। मैं चाहता हूं कि साधु-साध्वियां इस दिशा में गति करें। आज कोई विद्यार्थी इस सामान्य पद्य का अर्थ (सिद्धों को नमस्कार करके) नहीं बता सका, यह आगम-साहित्य के गंभीर अध्ययन के प्रति उपेक्षा प्रकट करता है। उपेक्षा भाव ही व्यक्ति के आगे बढ़ने में बाधक तत्त्व है। मैं सभी साधु-साध्वियों से अपेक्षा करता हूं कि वे आगम-ग्रंथों का गंभीर अध्ययन करें।''

महाप्रयाण वाले दिन का प्रसंग है। मुनि गिरीशकुमारजी अंत:कक्ष से बाहर की ओर जा रहे थे। गुरुदेव ने उन्हें सम्बोधित किया तो उनके चरण रुक गए। वे बद्धाञ्जलि खड़े हो गए। गुरुदेव ने प्रश्नायित आंखों से पूछा—''आजकल क्या करते हो? अखबार ही पढ़ते हो या कुछ गंभीर ज्ञान भी करते हो?'' मुनि गिरीशकुमारजी ने उत्तर दिया—''आजकल मैं तीन सौ गाथाओं का स्वाध्याय करता हूं और कुछ पुस्तकें भी पढ़ता हूँ।'' गुरुदेव ने पुन: उनको प्रेरणा देते हुए कहा—''**अखबार में अधिक समय लगाना ठीक नहीं है। इस उम्र में गंभीर पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिए, जिससे व्यक्तित्व का विकास हो सके। नए चिंतन का स्फुरण गंभीर ग्रंथों को पढ़ने से ही संभव है।**'' गुरुदेव तुलसी की इस प्रेरणा से उनकी गंभीर ज्ञान में अभिरुचि पैदा हो गई।

पूज्य गुरुदेव सबको संस्कृत के गंभीर अध्ययन की प्रेरणा दे रहे थे। आचार्य तुलसी के प्रवचन-साहित्य के सम्पादक मुनिश्री धर्मरुचिजी ने कहा—''मुझे संस्कृत पढ़ने का अभ्यास नहीं है।'' गुरुदेव ने फरमाया—''प्रयत्न करोगे तभी तो ज्ञान होगा। श्रीचन्दजी रामपुरिया संस्कृत के ज्ञाता नहीं थे पर अभ्यास करते-करते अब टीका, भाष्य आदि समझ लेते हैं। जैसे हिंदी में तुम्हारी गति हुई है, वैसे ही संस्कृत में भी पढ़ते-पढ़ते गति आ जाएगी।'' गुरुदेव ने उसी समय धर्मबिंदुप्रकरण ग्रन्थ उनके हाथ में देकर कहा—''तुम्हारा

नाम धर्मरुचि है। इस ग्रन्थ का नाम धर्मबिन्दुप्रकरण है। इसे तन्मयता से पढ़ो, संस्कृत का अभ्यास हो जाएगा।''

जब गुरुदेव तुलसी स्वयं विद्यार्थी के साथ अध्यापक की भूमिका अदा कर रहे थे, तब अपने पास अध्ययनरत बाल साधुओं को मृदु स्वर में प्रेरणा देते हुए वे कहते थे—''अगर तुम अभी गहन अध्ययन नहीं करोगे तो तुम्हारा जीवन कैसे बनेगा? **अभी तुम्हारा बातों का समय नहीं है, बचपन में ध्यान से पढ़ो फिर आगे चलकर खूब बातें करना। अगर अभी अनुशासन में रहना नहीं सीखोगे तो जीवन भर परतंत्र बने रहोगे। मेरा दायित्व है तुम्हें यथार्थ बोध कराना फिर तुम्हें जैसा उचित लगे, वही पथ अपनाना।**'' कालूयशोविलास की निम्न पंक्तियां भी इसकी संवादी हैं—

आ वय है लिखणै-पढ़णै री, संयम जंती स्यूं कढ़णै री।
विद्या विवेक पथ बढ़णै री...

पूज्य गुरुदेव का मंतव्य था कि जीवन के प्रारिम्भक काल में जो गंभीर पुस्तकों एवं विषयों का अध्ययन कर लेता है, उसका मन फिर बाह्य प्रलोभनों या बातों में नहीं अटक सकता। जब कभी गुरुदेव तुलसी को ज्ञात होता कि अमुक साध्वी या संत हल्के-फुलके साहित्य को पढ़ने में अधिक समय लगाते हैं तो वे तत्काल उसे प्रतिबोध देकर उसका मार्गान्तरीकरण कर देते थे। इस संदर्भ में अपनी डायरी के पृष्ठों में मुनिश्री विजयकुमारजी के लिए लिखा गया वक्तव्य उनके इसी वैशिष्ट्य को प्रकट करने वाला है—''मुनि विजयकुमार अच्छा गायक है। उसका गला अच्छा है। वह सबको गीत सुनाना पसंद करता है पर इस दृष्टि से उस पर नियंत्रण करना चाहिए क्योंकि उसे अभी कई दिशाओं में आगे बढ़ना है।''[१] अनेक बार वे बाल साधुओं द्वारा पुस्तकालय से लाई गई पुस्तकों का निरीक्षण इसी दृष्टि से करते थे कि वे पुस्तक गंभीर हैं अथवा सामान्य। वे बाल साधुओं को अनेक बार यह प्रतिबोध देते थे—''हम लोग सदा नहीं रहेंगे, तुम लोग गहन अध्ययन करो, जिससे

१. संस्मरणों का वातायन।

तुम्हारा जीवन बनेगा।''

मुनि जिनेशकुमारजी के मन में ज्योतिष् का अध्ययन करने की इच्छा जागृत हुई। उन्होंने कुछ अध्ययन करके तिथिपत्रक तैयार करना सीख लिया। तिथिपत्रक तैयार करके वे पूज्य गुरुदेव की सन्निधि में पहुंचे। तिथिपत्रक देखकर एक बार गुरुदेव ने प्रसन्नता व्यक्त की। साथ ही भविष्य के लिए दिशादर्शन देते हुए कहा—''**जिनेश! ज्योतिषी और कुण्डली के चक्कर में मत फंसना। यह मुझे पसंद नहीं है। बचपन में इन सब बातों में पड़ने से गंभीर अध्ययन में मन नहीं लगता और व्यक्तिगत साधना भी गौण हो जाती है। गृहस्थ विद्यार्थी का लक्ष्य प्रेयस्-विद्या की प्राप्ति हो सकता है लेकिन मुमुक्षु विद्यार्थी को प्रारम्भ में इन सबसे कोसों दूर रहना चाहिए।**''

जीवन से सम्बन्धित विशिष्ट अवसरों पर भी पूज्य गुरुदेव प्रशस्ति की अपेक्षा प्रस्तुति को अधिक पसंद करते थे। जन्मोत्सव या पट्टोत्सव के अवसर पर वे साधु-साध्वियों एवं समणियों को प्रेरणा देते हुए कहते थे—''मैं चाहता हूँ कि मेरे जन्मदिन को निमित्त बनाकर तुम लोग साहित्य, कला और गंभीर अध्ययन के क्षेत्र में विकास करो। अपनी प्रतिभा को नई स्फुरणा दो और सृजनात्मक चेतना को जगाओ।''

पाश्चात्य विद्वान् शैफर ने प्रेरणा के चार प्रकार स्वीकार किए हैं—१. अनुमोदना, २. निष्णातता, ३. आदत, ४. संवेग। अध्यापक का अनुमोदन विद्यार्थी को बार-बार उस कार्य को करने के लिए प्रेरित करता है। गुरुदेव तुलसी साधु-साध्वियों के सही कार्य एवं अध्यवसाय का प्रशंसात्मक अनुमोदन करते थे ताकि वे हर कार्य पूर्ण अध्यवसाय एवं सावधानी से करते रहें। गुरुदेव तुलसी को जब कभी आगम-कार्य की फाइल दिखाई जाती, उस समय न केवल उनके रोम-रोम से प्रसन्नता व्यक्त होती, अपितु वाणी की अनुमोदना एवं अनुग्रह से वे असीम ऊर्जा का संचार कर देते थे। उनका वह अनुग्रह भविष्य में और अधिक उत्साह और शक्ति से कार्य करने की प्रेरणा देता था।

निष्णातता या नैपुण्य प्राप्ति से सामाजिक प्रतिष्ठा-प्राप्ति का सुख

मिलता है। इसलिए यह विद्यार्थी को कठिन परिश्रम करने के लिए अभिप्रेरित करती है। गुरुदेव समय-समय पर विद्यार्थी साधु-साध्वियों को एक क्षेत्र में निष्णात बनने के लिए अभिप्रेरित करते रहते थे इसके लिए वे उसे तत्संबंधी निरवद्य सुविधाएं भी उपलब्ध करवाते थे।

यदि अध्यापक विद्यार्थी के जीवन में सही आदतों को विकसित करने में सफल हो जाता है तो फिर बार-बार प्रेरणा देने की आवश्यकता नहीं रहती। इस संदर्भ में प्लेटो का अभिमत था—''शिक्षा से मेरा तात्पर्य उस प्रशिक्षण से है, जो बालकों के सद्गुण की मूल प्रवृत्ति के लिए उपयुक्त आदतों के निर्माण द्वारा प्रदान किया जाता है।'' गुरुदेव तुलसी आदत डालने के लिए हर कार्य को एकाग्रता और सावधानी से करने की प्रेरणा देते रहते थे। वे बाल साधुओं की चार बजे उठने की आदत डाल देते थे। इसके लिए वे अपने मुनि जीवन के बाल्यकाल के संस्मरण भी बाल साधुओं को सुनाते रहते थे। जब कभी वे देखते अमुक बाल साधु समय पर नहीं पहुंचा तो उसके अभिभावक साधु से उसके संदर्भ में पूछ लेते थे कि अमुक साधु आज प्रातःकालीन स्वाध्याय में उपस्थित क्यों नहीं हुआ। इस प्रकार उनके पास रहने वाले साधुओं की आदतों में स्वतः परिष्कार होता रहता था।

अभिप्रेरणा का चौथा प्रकार है—संवेग पैदा करना। जिस स्थिति से विद्यार्थी का संवेगात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, उसके प्रति वह सहज रूप से सक्रिय हो जाता है। जैसे देशप्रेम का संवेग पैदा करने पर वह देश के लिए मर मिटने को तैयार हो जाता है। चीन की शिक्षा पद्धति में प्रारम्भ से ही पांच प्रकार के प्रेम सिखाए जाते हैं, वे संवेग बनकर उनके रोम-रोम में समा जाते हैं। वे पांच प्रेम इस प्रकार हैं—

१. देश से प्रेम
२. जनता से प्रेम
३. श्रम से प्रेम
४. शिक्षा से प्रेम

५. सार्वजनिक सम्पत्ति से प्रेम।

पूज्य गुरुदेव को जिन बातों को संस्कारगत करवाना होता, उन बातों के लिए वे बार-बार प्रेरित करते रहते थे, जिससे वह संवेग बनकर साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों के मस्तिष्क में छा जाता था। सहिष्णुता का संवेग पैदा करने के लिए वे बार-बार सहिष्णु रहने की प्रेरणा देते रहते थे। फिर चाहे वह प्रकृतिजन्य परिस्थिति को सहने की बात हो या पुरुषजन्य परिस्थिति। सन् १९६३ के जून मास का प्रसंग है। प्रात:काल का समय होने पर भी गर्मी और ऊमस बहुत अधिक थी। गुरुदेव के पास विद्यार्थी साधु बैठे थे। ग्रीष्म ऋतु की भीषणता देखकर बाल साधुओं को प्रेरणा देते हुए गुरुदेव ने कहा—''**गर्मी, सर्दी, वर्षा आदि प्राकृतिक प्रतिकूलताओं में अधीर होना कायरता का प्रतीक है। प्रकृति पर किसी का नियंत्रण नहीं हो सकता। ग्रीष्म ऋतु की उच्छृंखल लू और अत्यन्त कड़ी धूप दुर्बल व्यक्ति को व्यथित बना सकती है पर विद्यार्थी को मौसम के हर तेवर को समता से सहन करना चाहिए। अभी जून मास में गर्मी नहीं आएगी तो क्या नवम्बर में आएगी?** जिस समय प्रकृति का जो रूप सामने आता है, उसका वैसा होना ही उचित है अन्यथा प्राकृतिक असंतुलन की समस्या पैदा हो सकती है। पशुओं को भी तो देखो, उन्हें कौन एयरकंडीशन में रखता है। साधक हर स्थिति में संतुलित रहे, यही उसकी साधना है।''

इसके विपरीत एक दिन मौसम बहुत सुहावना था। ठंडी और मंद बयार चल रही थी। बूंदाबांदी भी हो रही थी। तप्त आतप और शरीर को चीरने वाली लू से एक बार सबको राहत मिल गई थी। बाल संत मौसम को देखकर अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे। गुरुदेव ने उन्हें प्रेरित करते हुए कहा—''**इस मौसम को सदाबहार मत मान लेना। सर्दी-गर्मी तो धूप छांह का खेल है। आती-जाती रहती है। हर मौसम में अपने आपको अनुकूल बना लेने वाला व्यक्ति ही सुखी रह सकता है।**''

अध्यापक का प्रमुख कार्य है—परिष्कार और विद्यार्थी के भीतर अपना व्यक्तित्व-निर्माण करने की उत्सुकता जगा देना। उत्सुकता जगाने के बाद प्रतिबोध और प्रशिक्षण का कार्य सरल हो जाता है। संवेग और औत्सुक्य पैदा करने के लिए पूज्य गुरुदेव मनोवैज्ञानिक तरीकों को काम में लेते थे। एक बार आगम-वाचन के दौरान मेघकुमार के जीवन से प्रेरणा देते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''भगवान् महावीर ने मेघकुमार को चलना, बोलना, खाना, सोना आदि क्रियाओं को जागरूकता से करने का निर्देश दिया। उन्होंने जीवन-शैली की हर प्रवृत्ति के साथ संयम को जोड़कर स्वस्थ जीवन जीने की कला सिखाई, मेघकुमार ने भी उस रूप में स्वयं को ढाला और महान् बन गए।....प्रशिक्षण कोई भी दे सकता है, महत्त्वपूर्ण है पात्रता और ग्रहणशीलता बढ़ाने की। अब बताओ, तुम लोगों में मेघकुमार बनने हेतु कौन-कौन तैयार है ?''

यदि गुरुदेव तुलसी उस समय यह प्रेरणा देते कि तुम लोगों को मेघकुमार की भांति जागरूक बनना है तो संभवत: यह वाक्य संवेग पैदा करता या नहीं लेकिन व्यक्तिगत आह्वान ने वहां बैठे सभी विद्यार्थी साधु-साध्वियों के मस्तिष्क को मेघकुमार बनने के लिए सोचने हेतु विवश कर दिया और कुछ को भविष्य के लिए कृतसंकल्प भी। इस प्रकार आचार्य तुलसी अध्यापन के दौरान विविधमुखी प्रेरणाएं देकर विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों को लक्ष्य-प्रतिबद्ध बना देते थे, जिससे उनकी भावी यात्रा सार्थक, सुखद और आनंदमयी हो जाती थी।

> शिक्षक को बालकों के कदम ऐसे मार्ग पर चला देने चाहिए जो सच्चा, ईमानदार, न्याय, दोषहीन, सुंदर और शिव की ओर ले जाता है।
>
> **डॉ. रास**

७. संभावनाओं की परख एवं नियोजन

नेपोलियन का कहना था कि संसार में असंभव नाम की कोई चीज नहीं है। पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी कहते थे—''हर असंभव संभव बन सकता है, यदि उसके साथ पुरुषार्थ और आत्मविश्वास जोड़ दिया जाए। केवल वर्तमान पर्याय के आधार पर किसी व्यक्ति के बारे में निर्णय लेकर भविष्य में संभावना के द्वार को बंद नहीं करना चाहिए।'' योग्य अध्यापक शिष्य की क्षमता पर विश्वास करके उसकी कुशलता, योग्यता और अर्हता को उजागर करने का प्रयत्न करता है तथा उसकी शक्ति को सार्वजनिक क्षेत्र में मोड़कर निर्माणकारी कार्यों में नियोजित करता है। संभावनाओं को अस्वीकार करने वाला अध्यापक नकारात्मक प्रताड़ना के द्वारा विद्यार्थी को हतोत्साहित करके उसके जीवन को अंधकारमय बना देता है, जैसे— तुम मूर्ख हो, तुम कुछ नहीं समझ सकते हो, तुमको पढ़ाना अत्यन्त कठिन है, तुम्हारी बुद्धि में गोबर भरा हुआ है आदि आदि।'' ऐसे शब्दों से अनेक छिपी प्रतिभाएं उजागर होने से पहले कुंठित हो जाती हैं। श्री अरविन्द का मानना था कि प्रत्येक बालक में कुछ न कुछ विशिष्ट क्षमता एवं सृजन के अंकुर होते हैं। शिक्षक का दायित्व है कि वह प्रत्येक विद्यार्थी की रुचियों, अभिवृत्तियों, योग्यताओं, क्षमताओं एवं बुद्धि की तरतमता को जानकर उसके विकास एवं पल्लवन में सहयोग दे, जिससे वह अपने भीतर छिपी दिव्यता का बोध कर सके।'' सक्रिय एवं रचनात्मक विचारों के द्वारा शिष्य के भीतर सोई हुई संभावनाओं को जगाने वाला अध्यापक ही श्रेष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण कर सकता है। एक ओर वह प्रतिभाशाली छात्रों को प्रेरित करता है तो दूसरी ओर मानसिक दृष्टि से पिछड़े छात्रों के साथ सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करके उनकी भीतरी शक्ति को जगाने का प्रयत्न करता है, जिससे वे हीनता की ग्रंथि से बच सकें और अपनी सृजनात्मक क्षमता की पहचान कर सकें।

बोपदेव के जीवन का प्रसंग है। बचपन में वे बहुत मंद बुद्धि छात्र थे। प्राय: प्रतिदिन उन्हें अपने गुरु से प्रताड़ना मिलती रहती थी। एक दिन क्लास से बाहर निकालने के कारण निराश होकर वे गांव के बाहर कूप पर पहुंच गए। वहां एक महिला ने उन्हें पानी पिलाया। उन्होंने देखा कि जिस स्थान पर महिला का घड़ा रखा था, वहां पत्थर पर घड़ा रखते-रखते गोल जगह बन गई थी। इस दृश्य को देखकर उनके भीतर नई चेतना का संचार हो गया। उन्होंने अपने भीतर सोई संभावनाओं को परख लिया और संकल्प किया कि जब निरंतर घड़ा रखने से पत्थर में जगह हो सकती है तो फिर सतत परिश्रम व अभ्यास से मेरी बुद्धि और स्मरणशक्ति का विकास क्यों नहीं हो सकता? गहरी लगन एवं कड़ी मेहनत से वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् बन गए और उन्होंने विश्व प्रसिद्ध 'मुक्ति बोध' व्याकरण की रचना कर दी।

पूज्य गुरुदेव के चुम्बकीय व्यक्तित्व में विकास की अनंत संभावनाओं को उभारने की विलक्षण क्षमता थी। उन्होंने अपने चुम्बकीय व्यक्तित्व से उन व्यक्तित्वों को छुआ, जिनमें सृजन की शक्ति सोई पड़ी थी। भावी संभावनाओं के आधार पर सैकड़ों प्रतिभाओं की खोज करके पुरुषार्थ और श्रम से उनको तराशा और नया निखार लाने का प्रयत्न किया। आचार्य महाप्रज्ञ कहते थे—'' बाल्य अवस्था में मैं इतना कमजोर था कि एक पद्य कंठस्थ करने में अनेक दिन लग जाते थे। मेरे पढ़ने और ग्रहण करने की स्थिति देखकर मुनि तुलसी यदि मुझे अयोग्य मान बैठते, श्रम नहीं करते तो क्या यह संभव था कि मैं इस स्थिति में पहुंच पाता? गुरुदेव ने मुझ पर बहुत श्रम किया और अनेक संभावनाओं को उजागर कर दिया। कुछ दिनों के पश्चात् मैं एक दिन में अनेक श्लोक सीखने लगा। **मेरा अध्ययन न पाठशाला-कॉलेज में हुआ और न ही विश्वविद्यालय में। मैंने जो कुछ भी प्राप्त किया है, उसका सारा श्रेय पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी को है। मैं एक बिन्दु बनकर उनके पास आया था, उन्होंने मुझे अपने कर्तृत्व के चमत्कार से सिंधु बना दिया।**''

इस संदर्भ में साध्वी कमलश्री जी (टमकोर) का अनुभव उन्हीं की भाषा में पठनीय है—''मैं बचपन में मंदबुद्धि वाली अबोध बालिका थी। संस्था में रतनकंवरजी (लाडनूं) को कंठस्थ कराने एवं सिखाने की जिम्मेवारी दी गई। एक माह के पश्चात् उन्होंने साध्वीप्रमुखा लाडांजी को निवेदन किया—'इस बहिन की बुद्धि पत्थर से बढ़कर है। पत्थर तो पानी डालने पर गीला होता है लेकिन इसका मस्तिष्क कुछ भी ग्रहण नहीं करता। इसे संस्था से वापस भेज दो। यह साधना में भी सफल नहीं हो सकेगी।' लाडांजी ने कहा—''निराश होने की आवश्यकता नहीं है। किसी की बुद्धि जल्दी प्रस्फुटित होती है, किसी की देर से, संभव है कभी यह तुमको भी पढ़ा दे।'' दीक्षित होने के बाद भी मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ) ने भी आचार्य तुलसी को निवेदन किया कि कमलश्रीजी को पढ़ाना व्यर्थ है, इनको कुछ समझ में नहीं आता। आचार्य तुलसी ने कहा—''कोई भी व्यक्ति अयोग्य नहीं होता। उसका नियोजन किया जाए तो जड़बुद्धि विद्यार्थी भी विद्वान् बन सकता है।'' आचार्य तुलसी ने मुझे अनेक बार प्रोत्साहित और प्रेरित किया। मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) को कहा कि यह तुम्हारी चचेरी बहिन लगती है, इसे १५ मिनिट रोज पढ़ाओगे तो यह संस्कृत में तैयार हो जाएगी।'' मुनिश्री ने मुझे प्रतिदिन पांच मिनिट पढ़ाना प्रारम्भ किया। कुछ ही समय में मैं संस्कृत और प्राकृत भाषा में निष्णात बन गई और समय आने पर भरत बाहुबलि महाकाव्य जैसे ग्रंथ साध्वियों को पढ़ाने लगी। 'भिक्षु शब्दानुशासन' जैसे ग्रंथ रत्न को भी मैंने आचार्य तुलसी से पढ़ा। यदि किसी कारण से अनुपस्थित रहती तो गुरुदेव संतों को भेजकर बुला लेते थे। गुरुदेव तुलसी कक्षा में अनपढ़, बुद्धिहीन और आलसी साध्वियों पर अधिक ध्यान देते थे। किस साधु-साध्वी की प्रतिभा भविष्य में प्रकट होने वाली है, इसे वे वर्तमान में जान लेते थे।''

वि. सं. २००५ के छापर चातुर्मास का प्रसंग है। अनेक साध्वियां पूज्य गुरुदेव के पास संस्कृत का अध्ययन करती थीं। संस्कृत श्लोक-रचना के अभ्यास हेतु पूज्य गुरुदेव उन्हें समय-समय पर समस्या-पूर्ति दिया करते थे।

साध्वी मोहनांजी (राजलदेसर) आदि चार साध्वियों की इच्छा हुई कि वे भी पूज्य गुरुदेव की सन्निधि में अध्ययन करें। उन्हें संस्कृत श्लोक बनाने का अभ्यास नहीं था फिर भी भक्तामर के श्लोक की एक पंक्ति पर परिश्रम से दो श्लोक बनाए। बड़ी साध्वियों की श्लोक-रचना देखने के बाद गुरुदेव ने बाल-साध्वियों के श्लोक देखे तो मंद-मंद मुस्कराने लगे क्योंकि पद्यों में न छंदशुद्धि थी, न पदशुद्धि और न ही भाषा और भावों की संगति। पूज्य गुरुदेव उनकी पद्य रचना देखकर समस्या-पूर्ति के लिए उन्हें अयोग्य घोषित कर सकते थे लेकिन गुरुदेव ने बाल-साध्वियों के उत्साह को बढ़ाते हुए कहा—**''तुम लोगों को निराश होने की आवश्यकता नहीं है। लो, मैं तुम्हें सरल समस्या-पूर्ति देता हूं। पहले तुम लोग बसन्ततिलका में नहीं अपितु अनुष्टुप् छंद में समस्या-पूर्ति का अभ्यास करो—धन्यं मन्ये धरातले। धीरे-धीरे अभ्यास से मात्रिक एवं बड़े छंदों में भी श्लोक रचना संभव है।''**

बाल साध्वियों की समस्या-पूर्ति का अभ्यास जारी रहा। गुरुदेव स्वयं उसमें आवश्यक संशोधन एवं सुझाव देते थे। दो महीनों में उन्होंने अच्छा अभ्यास कर लिया। एक दिन उनके श्लोकों में अशुद्धियां नहीं थीं। गुरुदेव ने प्रसन्न स्वरों में कहा—''देखो, अब ये पंछी भी आकाश में उड़ने लगे हैं।''

प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता, रुचि और सामर्थ्य में अंतर होता है। संभावनाओं को प्रकट करने में अध्यापक के पास पैनी परख आवश्यक है, जो विद्यार्थी के भीतर छिपी रुचि और इच्छा को जानकर उसे उसी रूप में उजागर कर सके। पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी की परख अत्यन्त सूक्ष्म थी। वे प्रथम दर्शन में ही व्यक्तित्व की पहचान कर लेते थे कि कौन साधु-साध्वी या समणी आगे जाकर किस क्षेत्र में विकास करेगी। वे मिट्टी में से हीरों की खोज कर लेने वाले कुशल पारखी थे। समस्त दुर्बलताओं को चीरकर उनकी पैनी दृष्टि व्यक्ति की विशेषताओं और अच्छाइयों को देख लेती थी इसीलिए दो विरोधी व्यक्ति उनके पास एक ही कार्य को बहुत प्रसन्नता से सम्पादित कर देते थे। उनकी यह परख बचपन से ही जागृत थी। इस संदर्भ में गुरुदेव

तुलसी का निम्न वक्तव्य पठनीय है—''**स्खलना करने पर मैं अपने विद्यार्थी मुनियों को टोकता हूं, सावधान करता हूं। इसके साथ ही मैं उनके चेहरों को भी पढ़ता रहता हूं। किस साधु ने मेरे अनुशासन को मन से सहन किया है, किसने केवल वाणी से सहन किया है और किसने मन व वाणी दोनों से सहन किया है। इस आधार पर मैं परीक्षा कर लेता हूं कि कौन होनहार है और कौन कम होनहार।**'' अच्छाई की प्रशंसा और प्रमाद की ओर अंगुलिनिर्देश—इस क्रम से पूज्य गुरुदेव ने अनेक अनगढ़ पत्थरों को तराशकर उनमें नई संभावनाओं को जगा दिया।

छिपी संभावनाओं का उपयोग करने के लिए पूज्य गुरुदेव विशिष्ट प्रतिभाओं को एक निश्चित दिशा में नियोजित करते रहते थे। वे अनेक बार कहते थे—''एक-एक विषय में कुछ साधु-साध्वियां एवं समणियां विशेषज्ञ बनें, जिससे उनके व्यक्तित्व-निर्माण के साथ धर्मसंघ की प्रभावना भी बढ़ सके।'' इसके लिए उन्होंने समय-समय पर अनेक साधु-साध्वियों को एक दिशा में नियोजित करने के कई उपक्रम किए। महाप्रयाण से कुछ दिनों पूर्व गुरुदेव ने पांच समणियों को जैन दर्शन के विशेष अध्ययन हेतु नियुक्त किया। इस उपक्रम से तैयार हुई समणियों में समणी मंगलप्रज्ञा जैन विश्वभारती संस्थान की भूतपूर्व कुलपति, समणी चैतन्यप्रज्ञा जैन दर्शन विभाग की भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, समणी ऋजुप्रज्ञा एवं ऋतुप्रज्ञा कालू कन्या महाविद्यालय की भूतपूर्व प्राचार्या तथा समणी शारदाप्रज्ञा देश-विदेश में जन-जागरण का कार्य कर रही है।

वर्तमान में लायनोव नामक वैज्ञानिक ने प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिया कि प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में सुपर लर्निंग प्रणाली है। उसमें सीखने की अनंत क्षमता है। आचार्य तुलसी ने प्रयोगशाला में जाकर प्रयोग नहीं किए लेकिन वे विद्यार्थी के सुप्त ज्ञान और पराक्रम को जगाने में सिद्धहस्त थे। अध्ययन से निराश, अस्वस्थ एवं मानसिक दृष्टि से परीक्षा देने में हताश और निराश साधु-साध्वियों के भीतर भी वे उत्साह और आत्मविश्वास की नई

लहर पैदा कर देते थे, जिससे उनके भीतर सोयी संभावनाएं करवट लेने लगतीं और वे अपने ध्येय में सफल हो जाते थे। वि. सं. २०२० में साध्वी कनकश्रीजी संघीय पाठ्यक्रम के अंतिम वर्ष की परीक्षा दे रही थीं। दो पेपर देने के बाद अचानक उनका स्वास्थ्य प्रतिकूल हो गया। साध्वियों के सुझाव पर स्वास्थ्य को प्रमुखता देते हुए उन्होंने परीक्षा न देने का मानस बनाया। जब अन्य विद्यार्थी मंगलपाठ सुनकर आशीर्वाद लेने हेतु गुरुदेव के चरणों में उपस्थित हुए तो गुरुदेव ने पूछा—''कनकश्री कहां है?'' साध्वी कनकश्रीजी वहीं बैठी थीं। उन्होंने अपनी शारीरिक स्थिति का निवेदन करते हुए परीक्षा देने की असमर्थता प्रकट कर दी। साथ ही यह भी निवेदन किया कि मेरी परीक्षा देने की तैयारी भी नहीं है। गुरुदेव ने उनकी आत्मशक्ति को जगाते हुए कहा—''देखो, यह तुम्हारी अंतिम वर्ष की परीक्षा है। वर्ष भर तुमने परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया है। इस बार परीक्षा नहीं दोगी तो सहपाठियों से पीछे रह जाओगी और पूरा वर्ष भी खराब हो जाएगा। हिम्मत रखो, आत्मविश्वास जगाओ, सब ठीक होगा।'' गुरुदेव ने उनकी सुप्त शक्ति को जगा दिया। अब अस्वास्थ्य उनके लिए गौण और परीक्षा मुख्य बन गई। परीक्षा के दो सप्ताह के दौरान गुरुदेव बार-बार उन पर अनुग्रह की वर्षा करते रहे। गुरु-कृपा से उनकी परीक्षा निर्विघ्न सम्पन्न हो गई।

जैन विश्व भारती संस्थान को जब विश्वविद्यालय की मान्यता मिली तो अधिकांश समणीजी ने एम.ए. करने का लक्ष्य बनाया। एक दिन गुरुदेव ने मुझसे (समणी कुसुमप्रज्ञा) पूछा—''तुमने एम.ए. का फार्म भरा या नहीं?'' मैंने उत्तर दिया—''अब परीक्षा देकर डिग्री प्राप्त करने की मानसिकता कम है। गुरुदेव ने आगम-कार्य में नियुक्त कर रखा है, वही ठीक है।'' पूज्य गुरुदेव ने वात्सल्य के साथ प्रतिबोध देते हुए कहा—''**केवल वर्तमान को ही देखती हो या सुदूर भविष्य पर भी दृष्टिपात करती हो? तुम क्या जानो, भविष्य में इस डिग्री का कितना मूल्य होगा? इसमें इच्छा या अनिच्छा का प्रश्न नहीं है। जिनमें अर्हता है, उन सभी समणियों को एम.ए. का अध्ययन**

करना चाहिए। उच्चस्तरीय अध्ययन से बौद्धिक क्षमता के साथ-साथ आत्मविश्वास बढ़ता है और संघ की प्रभावना भी होती है।''

गुरुदेव की प्रेरणा से मैंने प्राकृत एवं जैनागम विभाग में एम.ए. का फार्म भरकर अध्ययन चालू कर दिया। आज जब मैं छोटी-छोटी समणियों को एम.ए. और पीएच.डी. की उपाधि ग्रहण करते देखती हूं तो गुरुदेव की दूरदर्शिता का अनुभव हो जाता है क्योंकि बड़ी-बड़ी कांफ्रेस या सेमीनार में जब परिचय दिया जाता है तो डिग्री का भी अपना मूल्य होता है।

दीक्षित होने के बाद कुछ वर्षों तक प्रत्येक साधु के कंठस्थ ज्ञान, स्वाध्याय एवं अध्ययन की जानकारी पूज्य गुरुदेव स्वयं रखते थे और उसकी सम्यग् व्यवस्था भी करते थे। दीक्षित होने के बाद मुनिश्री राजेन्द्रकुमारजी अकेले स्वाध्याय नहीं कर पाते थे। अकेले बैठते ही उनको नींद आने लगती थी। एक बार गुरुदेव जब रात्रिकालीन प्रवचन के बाद अपने कमरे में पधार रहे थे तो उन्होंने मुनि राजेन्द्रकुमारजी को नींद लेते हुए देखा। गुरुदेव ने रजोहरण की डंडी से उन्हें जागृत करते हुए कहा—''स्वाध्याय के समय नींद क्यों ले रहे हो?'' उन्होंने सरलता से निवेदन किया—''गुरुदेव! मुझे कोई स्वाध्याय करवाने वाला नहीं है।'' गुरुदेव ने तत्काल उनके अभिभावक मुनि श्री दुलहराजजी को बुलाया। मुनिश्री उस समय अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों में व्यस्त थे। गुरुदेव ने उनसे पूछा कि रात्रि में क्या करते हो? उत्तर में उन्होंने दो तीन कार्य बता दिए। गुरुदेव ने फरमाया—''ये काम महत्त्वपूर्ण हैं पर तुम्हारे व्यक्तिगत हैं। आजकल रात्रियां लम्बी होती हैं अत: एक घंटे का समय राजेन्द्र के लिए लगाना है।'' मुनिश्री दुलहराजजी ने वह निर्देश स्वीकृत कर लिया। गुरुदेव ने राजेन्द्र मुनि को प्रेरणा देते हुए कहा—''आज से तुम्हारे स्वाध्याय की व्यवस्था हो गई है। अब प्रमाद मत करना।'' गुरुदेव की प्रेरणा से तब से लेकर सन् २०१० तक मुनि राजेन्द्रकुमारजी नियमित रूप से मुनिश्री दुलहराजजी के साथ स्वाध्याय करते थे।

वि. सं. २०१० बीकानेर का प्रसंग है। एक दिन साध्वी मंजुलाजी एवं साध्वी कमलश्रीजी गुरु-वंदना करके वापस लौट रही थीं। आचार्यवर ने संकेत से उन्हें रुकने का निर्देश दिया और एक संत को भेजकर मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) को अपने पास बुलाकर पूछा—''इन दोनों साध्वियों से संसार पक्ष में तुम्हारा क्या संबंध है?'' मुनि श्री ने कहा—''एक संसारपक्षीया चचेरी बहिन है और दूसरी भानजी है।'' गुरुदेव ने फरमाया—''ज्ञाति साध्वियों के प्रति तुम्हारा क्या दायित्व होना चाहिए? क्या कभी तुमने इनको अध्ययन करवाया?'' मुनिश्री ने फरमाया—''गुरुदेव! अन्य कार्यों में व्यस्त होने के कारण समय नहीं मिलता।'' आचार्यवर ने आदेश की भाषा में कहा—''जितना समय है, उसी में से पन्द्रह मिनिट का समय निकालो, इनमें प्रतिभा है अत: संस्कृत का अभ्यास करवाओ।'' गुरुदेव की प्रेरणा से मुनिश्री ने लगभग ५० दिनों तक संस्कृत का अध्यापन किया। मुनिश्री की अध्यापन शैली ने साध्वियों के विकास के द्वार खोल दिए। समय पर अच्छा नियोजक मिल जाता है तो छिपी प्रतिभा को निखरने का अवसर प्राप्त हो जाता है। पूज्य गुरुदेव के नियोजन एवं आचार्य महाप्रज्ञ के प्रशिक्षण का ही प्रभाव है कि आज साध्वी कमलश्रीजी संस्कृत में आशु गीत का निर्माण भी कर सकती हैं।

पूज्य गुरुदेव अनेक बार इस बात को दोहराते थे—''**दीक्षित होने के बाद जब साधु या साध्वी किसी विशेष अध्ययन या कार्य में जुट जाते हैं तो मैं उनके भविष्य के प्रति निश्चिन्त हो जाता हूं अन्यथा मुझे उनके विकास के लिए सचिन्त रहना पड़ता है।**''

पूज्य गुरुदेव व्यक्ति-प्रबन्धन की कला में मर्मज्ञ थे। उनकी पैनी दृष्टि हर व्यक्ति के आंतरिक व्यक्तित्व को पकड़ लेती थी। कौन व्यक्ति किस विषय में आगे बढ़ सकता है अथवा किस कला में निष्णात हो सकता है, इस समायोजन में उनकी पकड़ बहुत तेज थी। अमुक गाने में विकास कर सकता है, अमुक की लेखन के क्षेत्र में प्रगति हो सकती है, अमुक का

वक्तृत्व एवं संयोजन मंज सकता है, अमुक ध्यान में गति कर सकता है, अमुक अध्यापन में नियुक्त हो सकता है तथा अमुक स्वाध्याय में पटु बन सकता है। यह परख करके उस व्यक्ति को उसी प्रकार की प्रेरणा देकर वे उसके पथ को आलोकित कर देते थे, साथ ही यह लक्ष्य भी रखते थे कि अन्य क्षेत्र में वह नितान्त अपरिपक्व न रहे। उनकी एक प्रेरणा भी विद्यार्थी साधु-साध्वी के भविष्य की अमूल्य निधि बन जाती थी। इस संदर्भ में मुनिश्री हीरालालजी (बीदासर) का उदाहरण प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा। जब वे दीक्षित हुए, तब विशेष शिक्षा प्राप्त नहीं थे। गुरुदेव ने सोचा इसको किस कार्य में जोड़ा जाए, जिससे इसकी उपयोगिता बढ़ जाए। अन्य संत यह सोचते थे कि ये अपने जीवन में क्या कर सकेंगे? गुरुदेव ने उनको आगम-कार्य में जोड़ा। कुछ ही दिनों में गुरुदेव की प्रेरणा एवं अपने अनवरत अध्यवसाय से उन्होंने ऐसा विकास किया कि सभी आश्चर्यचकित रह गए। गुरुदेव अनेक बार फरमाते थे— **''हमको कभी आगमपाठ खोजना हो तो हम स्वयं मुनि हीरालाल को याद करते हैं। यह आगम-पाठ खोजने में अत्यन्त दक्ष है। पाठ को तत्काल ऐसे प्रस्तुत कर देता है मानो कंठस्थ हो। कोई विषय अविलम्ब ध्यान में नहीं आता तो उसकी खोज में संलग्न हो जाता है और परिश्रमपूर्वक पाठ निकाल देता है। संस्कृत-प्राकृत के विशेष अध्येताओं के लिए भी यह कार्य कठिन पड़ता है। पाठ खोजने में इसकी जोड़ी मिलना मुश्किल है।''** यह सब गुरुदेव के व्यक्ति-प्रबंधन एवं परख से ही संभव हुआ।

जहां संगठन होता है, वहां हर प्रकार के व्यक्तियों की अपेक्षा रहती है। जब गुरुदेव को यह अनुभव होता कि अत्यन्त परिश्रम करने पर भी अमुक व्यक्ति की अध्ययन में गति नहीं हो पा रही है तो वे उसकी शक्ति को दूसरी दिशा में नियोजित करने का प्रयत्न करते थे। सन् १९८२ में समणीवृंद को दी गई प्रेरणा उनके इसी वैशिष्ट्य को प्रकट करने वाली है—''सभी व्यक्तियों में अध्ययन की समान क्षमता हो, यह संभव नहीं है। अध्ययन के प्रति रुचि या क्षमता न हो तो दूसरे क्षेत्र जैसे सेवा, कला या साधना में विकास होना चाहिए।

अध्ययन हमारा अंतिम लक्ष्य नहीं है।'' कहा जा सकता है कि पूज्य गुरुदेव चेतना के उस स्तर पर जीते थे, जहां छिपी संभावनाओं को प्रकाशित किया जा सके। यही कारण है कि उन्होंने स्व और पर दोनों की सुप्त संभावनाओं का सम्पूर्ण उपयोग करके धर्मसंघ को अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर प्रतिष्ठित कर दिया।

अब्दुल कलाम द्वारा ५ सितम्बर २००८ को शिक्षकों को कराए गए ग्यारह संकल्प—

१. विद्यार्थियों का विकास मेरा ध्येय है।
२. मुझे औसत विद्यार्थियों को भी महानता की दिशा में अग्रसर करना है।
३. मेरा व्यवहार विद्यार्थियों के प्रति सहृदयतापूर्ण रहेगा।
४. मेरा जीवन और आचरण विद्यार्थियों के लिए सन्देश बनेगा।
५. मैं विद्यार्थियों को प्रश्न पूछने के लिए प्रेरित करूंगा और उन्हें प्रबुद्ध नागरिक बनाऊंगा।
६. मैं विद्यार्थियों के साथ धर्म, भाषा, सम्प्रदाय आदि के नाम पर कोई भेदभाव नहीं करूंगा।
७. मैं निरन्तर स्वयं का विकास करूंगा।
८. मैं अपने विद्यार्थियों की सफलता पर जश्न मनाऊंगा।
९. मैं देश के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान दूंगा।
१०. मैं अपने दिमाग में महान् विचार भरूंगा और अपने विचारों व कार्यों में पवित्रता रखूंगा।

८. अध्यापन के साथ जीवन-मूल्यों का समावेश

मूल्य ऐसी आचार संहिता या सद्गुण है, जिसके प्रशिक्षण से व्यक्ति अपने लक्ष्य-प्राप्ति हेतु प्रशस्त जीवन-पद्धति का निर्माण करके अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। भारतीय शिक्षा-पद्धति प्राचीन काल से मूल्यों पर आधृत है लेकिन पाश्चात्य जगत् में सर्वप्रथम हरमन लौत्से ने १८८५ में इसके बारे में चिन्तन प्रस्तुत किया।

वर्तमान शिक्षा पद्धति के आगे अनेक प्रश्नचिह्न टंग गए हैं। उनके समाधान में आचार्य तुलसी कहते थे—''वर्तमान शिक्षा-प्रणाली दोषपूर्ण नहीं, अपितु अधूरी है। यदि अध्यापक उसमें भावनात्मक मूल्यों के विकास की ओर ध्यान दे तो संवेदनशील डॉक्टर, इंजीनियर और वकील पैदा हो सकेंगे, जिनके समक्ष मानवता प्रमुख होगी, जन-सेवा आदर्श होगा तथा राष्ट्र की उन्नति विशेष लक्ष्य होगा।'' डॉ. पवन कुमार खरे के अनुसार शिक्षक विद्यार्थी के अंदर ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाले जीवन मूल्यों का प्रखर प्रहरी होता है अत: शिक्षक को मानवीय मूल्यों का मूर्तिमान् स्वरूप बनना चाहिए।''[१] यदि अध्यापक जीवन-मूल्यों के संप्रेषण के प्रति जागरूक नहीं है तो उसकी शिक्षा अधूरी या विकलांग रह जाती है। आचार्य तुलसी ने इस संदर्भ में यहां तक कह दिया कि यदि शिक्षा का आधार नैतिक बोध नहीं हुआ तो वह अशिक्षा से भी अधिक भयंकर हो जाएगी। शिक्षण संस्थानों की पवित्रता बनाए रखने के लिए वे तीन बातों को अनिवार्य मानते हैं—

* साम्प्रदायिकता से मुक्ति।
* दलगत राजनीति से मुक्ति।
* अनैतिकता से मुक्ति।

अध्यापक की नैतिक और व्यावहारिक शिक्षा से छात्र मूल्यों एवं आदर्शों के अन्वेषण की ओर उन्मुख होता है तथा सबके प्रति नम्र, अनुशासनशील

१. अणुव्रत १-१५ अप्रैल, २००६, पृ. २०।

और सचरित्र बनता है। महान् शिक्षाशास्त्री हर्बर्ट का मानना था कि शिक्षा का एकमात्र कार्य अथवा सम्पूर्ण कार्य यही है कि विद्यार्थी में नैतिकता का विकास किया जाए।''[१] सामान्यत: विद्यालयों में नैतिक शिक्षा के लिए एक कालांश निर्धारित कर दिया जाता है लेकिन उसका वह प्रभाव नहीं पड़ सकता, जो प्रसंग के साथ हर विषय के अध्यापन में मूल्यों की बात जोड़कर सिखाया जाता है। जापान के प्रमुख शिक्षाशास्त्री मेकावुचि ने अध्यापकों को सम्बोधित करते हुए कहा—''मूल्य की केवल बात ही नहीं, उसे जीवंत करके दिखाओ।'' महात्मा गांधी भी प्रकारान्तर से इसी सत्य को अभिव्यक्ति देते हैं—''अध्यापक बालकों को पहले मनुष्य बनाए फिर अक्षरज्ञान दें।''[२] मूल्य बाहर से नहीं भरे जाते, भीतर से उभरते हैं। शिक्षा का काम उन्हें विकसित करना होता है। संकीर्णता, अंधविश्वास, जातिगत भेदभाव, धर्मान्धता एवं साम्प्रदायिकता आदि से ऊपर उठकर शिक्षा व्यक्ति को एक पूर्ण मानव बनाती है।''[३] सन् १९७० में राष्ट्रीय शिक्षक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (N.C.E.R.T.) ने एक संगोष्ठी में शिक्षा में इन मूल्यों के विकास पर बल दिया—

* श्रम का महत्त्व।
* सामाजिक जागरूकता एवं उत्तरदायित्व की भावना का विकास।
* दूसरे धर्मों के प्रति आदर की भावना।
* निर्भयता, सत्यवादिता, पवित्रता, सेवा, अहिंसा।[४]

बर्ट्रेंड रसल का मानना था कि अध्यापक को विद्यार्थी के भीतर चार जीवन-मूल्यों का संप्रेषण अवश्य करना चाहिए—१. शक्ति २. साहस ३. बुद्धि ४. सहानुभूति। शक्ति का संबंध शारीरिक स्वास्थ्य से, बुद्धि का

---

१. शिक्षा के दार्शनिक तथा सामाजिक आधार पृ. २७७।
२. शिक्षा में विवेक पृ. ६३।
३. शिक्षा : एक सार्थक परिसंवाद।
४. शिक्षा के सिद्धान्त पृ. ४१२, पाठक एवं त्यागी।

मानसिक स्वास्थ्य से, साहस और सहानुभूति का संबंध भावनात्मक स्वास्थ्य से है।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी शिक्षा के साथ ऐसे नैतिक मूल्यों को संक्रमित करना चाहते थे, जो विद्यार्थी के अन्तर्मन से उद्‌भूत हों। जो स्वार्थ चेतना को तिरोहित करके परार्थ या परमार्थ का हित सम्पादन कर सकें। इस संदर्भ में उनके जीवन का एक घटना प्रसंग अत्यन्त मार्मिक और हृदयग्राही है। वर्धा में एक बार के. टी. ने बापू से पूछा—''आपके अभिमत से शिक्षा कैसी होनी चाहिए?'' गांधीजी ने कहा—''अगर मैं किसी कक्षा में जाकर यह पूछूं कि मैंने एक सेव चार आने में खरीदा और एक रुपए में बेच दिया तो मुझे क्या मिलेगा? इस प्रश्न पर पूरी कक्षा यदि यह कह दे कि आपको जेल की सजा मिलेगी तो मैं मानूंगा कि यह आजाद भारत की सही शिक्षा है। अन्यथा केवल पुस्तकीय ज्ञान व्यक्तित्व को वह ऊंचाई और गहराई नहीं दे सकता।'' गांधी के इस उत्तर को सुनकर सब दंग थे पर यह यथार्थ था कि चार आने की चीज पर बारह आने का लाभ नैतिक मूल्यों के विपरीत है।

इस संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ के विचार भी चिन्तन की नई दिशा प्रस्तुत करते हैं—''मैं उस विश्वविद्यालय को महत्त्व नहीं देता, जहां शिक्षा की सैकड़ों शाखाएं हैं किन्तु आजीविका और नैतिक मूल्यों का प्रशिक्षण नहीं मिलता। शिक्षा का काम है कि वह आदमी को प्रेरित करे कि अगर तुम शिक्षा प्राप्ति के बाद आजीविका कमा रहे हो तो इस बात का ध्यान रखो कि तुम अकेले नहीं, साथ में समाज भी है। इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि अकेला हूं कर्म की दृष्टि से और अकेला नहीं हूं, परस्परता की दृष्टि से।''[१]

आचार्य तुलसी अध्ययन के साथ सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का प्रशिक्षण देते रहते थे। पूज्य गुरुदेव साधु-साध्वियों एवं समणियों को अनेक बार प्रेरणा देते हुए कहते थे—''साधु-साध्वियों की शिक्षा का स्तर बढ़े, यह हमें काम्य है लेकिन अध्ययन को ही सब कुछ मानना भूल भरा चिन्तन

१. अणुव्रत १-१५, जुलाई, २००८, पृ. ४।

है। हमें सर्वांगीण दृष्टिकोण को सामने रखकर जीवन-व्यवहार का परिष्कार करना है। सेवा, श्रम, स्वाध्याय और ध्यान को उतना ही महत्त्व देना है, जितना अध्ययन को। विनम्रता हमारा आत्मिक गुण है, उसका जितना विकास होगा, हम ईप्सित लक्ष्य के निकट पहुंचेंगे।'' आचार्य तुलसी के अध्यापन में उनके मूल्यपरक व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती थी।

शिक्षा में मूल्यों के अवतरण हेतु गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा की बात कही। इसके लिए टी. एस. अविनाश लिंगम् ने कहा—''बुनियादी शिक्षा की बात राष्ट्रपिता गांधी का राष्ट्र को अंतिम और सर्वोत्तम उपहार था।''[१] बुनियादी शिक्षा को आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में मूल्यपरक शिक्षा अथवा जीवन विज्ञान युक्त शिक्षा कहा जा सकता है। गांधीजी के अनुसार बुनियादी शिक्षा के लिए उम्र की कोई सीमा निर्धारित नहीं है।

आचार्य तुलसी के जागृत और प्रोन्नत व्यक्तित्व ने अनेक साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों की चेतना में अनुशासन, सत्यनिष्ठा, सहनशीलता, व्यवहार कुशलता, कर्तव्यनिष्ठा आदि मूल्यों को संप्रेषित करके नख शिख सौन्दर्य प्रदान करने का सघन प्रयत्न किया। वे अध्यापन के हर कालांश में प्रसंगोपात्त किसी न किसी जीवन-मूल्य को सजीव कर देते थे। यहां अध्यापन के दौरान उनके मुखारविन्द से नि:सृत कुछ ऐसे ही जीवन-मूल्यों के उद्धरण प्रस्तुत हैं—

* जीवन यापन के लिए जैसे रोटी, कपड़ा, मकान, हवा और पानी आवश्यक है, वैसे ही विद्यार्थी-जीवन के विकास हेतु विनम्रता, सहिष्णुता, संयम और त्याग आवश्यक हैं।

* सर्वप्रथम सेवा को प्राथमिकता देनी चाहिए, फिर साधना और उसके बाद ज्ञान का क्रम आना चाहिए। अध्ययन के साथ यदि सेवाभावना

---

१. Understanding Basic Education, P. 6 ; "Basic Education is the last and perhaps the greatest gift of the father of our nation."

नहीं है तो वह अध्ययन एकांगी है, समूह के लिए उसकी कोई उपयोगिता नहीं है।

अध्यापन के दौरान पूज्य गुरुदेव कभी-कभी विद्यार्थी साधु-साध्वी को ऐसे जीवन-मूल्यों की प्रेरणा देते थे, जिससे वे महान् बनने की दिशा में प्रस्थान कर सकें। सन् १९५० सुनाम में विद्यार्थी साधु-साध्वियों को दिए गए सूत्र सभी विद्यार्थियों के जीवन को नए आलोक से भरने वाले हैं—

* महान् बनने का प्रयत्न करो, पर महत्त्वाकांक्षी मत बनो।
* अनुकूल व प्रतिकूल किसी भी परिस्थिति में अपना धैर्य मत खोओ।
* अकरणीय कार्य हो जाने पर उसे न छिपाओ, न झुठलाओ।
* साधना के प्रतिकूल आचरण हो जाए तो वहां से उसी क्षण अपनी आत्मा को हटाकर यह संकल्प करो कि ऐसी भूल दूसरी बार नहीं होगी।
* दूसरों की आलोचना करने या सुनने में समय का अपव्यय मत करो।
* विद्या के साथ यदि विनय का योग नहीं होगा तो वह भारभूत हो जाएगी।
* व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के व्यामोह में न फंसकर जन-जन में संघीय भावना भरो।''[१]

एक बार स्वाध्याय करते-करते गुरुदेव ने सभी संतों से पूछा—''क्षमा का कितना विकास हुआ?'' सबने अपना आत्मविश्लेषण प्रस्तुत किया—''सामान्यत: तो क्षमा का अभ्यास रहता है लेकिन बिना गलती कोई बात सहन नहीं होती।'' गुरुदेव ने प्रतिबोध देते हुए कहा—''गलती पर डाँट सहन करना अच्छा है पर बिना गलती सहन करने का अभ्यास रहना चाहिए। याद करो, आचार्य भारमल्लजी स्वामी को, जिन्हें गलती पर तो तेला करना ही था पर बिना गलती ईर्यासमिति में स्खलना बताने पर भी उन्हें आचार्य भिक्षु द्वारा तेला

१. पांव पांव पृ. ४३०।

करने का निर्देश था।'' प्रतिबोध का क्रम जारी रखते हुए गुरुदेव ने फरमाया— ''आक्रोश का प्रसंग आने पर निम्न श्लोक की स्मृति रहनी चाहिए—

आक्रुष्टेन मतिमता, मुनिना सम्यग् विकासमानेयः।
यदि सत्यं कः कोपः, यद्यनृतं किन्नु कोपेन?

अर्थात् यदि कोई दूसरा क्रोध करे तो उसके कारण की खोज की जाए। यदि क्रोध सकारण है तो क्रोध क्यों और यदि अकारण है तो फिर क्रोध क्यों?''

लाडनूं का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव उत्तराध्ययन के चौथे अध्ययन का वाचन करवा रहे थे। एक गाथा में 'पाश' शब्द का प्रयोग पढ़कर एक साधु ने उसका अर्थ पूछा। गुरुदेव ने 'पाश' शब्द का अर्थ जाल बताते हुए प्रशिक्षण दिया—''आतंकवादी तो कहीं-कहीं जाल बिछाते हैं लेकिन कर्म वर्गणा का जाल तो पूरे लोक में छाया हुआ है अतः साधक को प्रत्येक क्षण जागरूकता रखनी चाहिए ताकि वह उस जाल में न फंस सके।''

पूज्य गुरुदेव केवल पंक्तिपाठ ही नहीं करवाते थे, जीवन के लिए बहुमूल्य बोधपाठ भी देते रहते थे। एक बार गुरुदेव कर्तव्यषट्त्रिंशिका का अध्यापन कर रहे थे। 'क्वचित् कलाया न मदो विधेयो' इस चरण की व्याख्या करते हुए गुरुदेव ने अभिमान न करने की प्रेरणा दी। विद्यार्थियों ने जिज्ञासा की— ''स्वाभिमान और अभिमान की भेदरेखा क्या है?'' गुरुदेव ने जिज्ञासा को समाहित करते हुए कहा—''मैं कर सकता हूँ, यह स्वाभिमान है, इस आत्मविश्वास से आत्मशक्ति बढ़ती है। पर यह काम मैं ही कर सकता हूं, यह अभिमान है।'' इसके साथ अनुप्रासात्मक शैली में जीवन-निर्माण की प्रेरणा देते हुए गुरुदेव ने फरमाया—'हीनता और दीनता नहीं, जीवन में नवीनता होनी चाहिए।' इसी प्रसंग में अहं विलय की साधना पर एक कथा सुनाते हुए गुरुदेव ने कहा—''एक संत गुरु के पास भेंट लेकर आया। गुरु ने कहा—'ऐसी चीज भेंट में दो जो किसी के काम न आए।' संत मिट्टी लेकर आया। गुरु ने कहा—'यह तो बहुत उपयोगी है।' संत ने कहा—'फिर गंदगी लाऊं?' गुरु

ने कहा—'वह धरती को उपजाऊ बनाती है।' शिष्य गहराई में गया और निकम्मी चीज का चिंतन करने लगा। आखिर उसने कहा—''मेरे भीतर जो अहं है, वह निकम्मा है। मैं बिना मतलब इसका भार ढो रहा हूं।'' यह सुनते ही गुरु प्रसन्न हो गए क्योंकि वे शिष्य को मंजिल तक पहुंचने की दृष्टि दे चुके थे। कथा का उपसंहार करते हुए गुरुदेव ने कहा—'मैं चाहता हूं कि मेरे साधु-साध्वियां अहं-विलय और ममकार-विलय की सलक्ष्य साधना करें और निरन्तर आध्यात्मिक विकास की दिशा में आगे बढ़ते रहें।'

पूज्य गुरुदेव अध्यापन कर रहे थे। करीब एक घंटा अध्यापन कार्य होने पर भी लोगों के आवागमन के कारण पाठ बहुत कम चला। साध्वियों ने कहा—''आज आगंतुकों के कारण पाठ में बहुत व्याघात हुआ।'' गुरुदेव ने स्मित हास्य के साथ प्रतिबोध देते हुए कहा—''अगर उन्हें नहीं आने दिया जाता तो क्या तुम उनके लिये व्याघात नहीं बनतीं। आचार्य के पास आने का सबको अधिकार है। हमारा हृदय उदार होना चाहिए। केवल स्वार्थ ही नहीं, परार्थ के लिए भी अपने समय का नियोजन होना चाहिए, तभी अध्ययन की सार्थकता है।''

उक्त संस्मरण अध्यापन के साथ-साथ संस्कार-निर्माण की कला का वैशिष्ट्य प्रदर्शित करने वाले हैं। पूज्य गुरुदेव कहते थे—''वही अध्यापन पूर्ण होता है, जिसमें जीवन को उच्च बनाने के संस्कार भी दिए जाएं।''

अध्यापन में कहावत, मुहावरे तथा कबीर, रहीम और बिहारी आदि के पद्य सिखाकर भी गुरुदेव बाल साधुओं के चित्त में मूल्यों को संक्रान्त करते रहते थे। एक बार कुछ समणियां गुरुदेव के उपपात में अध्ययन कर रही थीं। गुरुदेव ने विनम्र रहने की जीवन्त प्रेरणा दी और अंत में निम्न पद्य सिखाया—

नर की अरु नल-नीर की, गती एक कर जोय।
जेतो नीचो ह्वै चले, तेतो ऊंचो होय॥

इसी प्रकार निम्न पद्य भी अनेक बार अध्यापन के दौरान उनके मुख से निःसृत होते रहते थे—

* **निंदंतु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु,**
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्यायात् पथा : प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।

* **शान्तं तुष्टं पवित्रं च, सानंदमिति तत्त्वतः।**
जीवनं जीवनं प्राहुः, भारतीयसुसंस्कृतौ।।

जो शिक्षा हृदय का स्पर्श नहीं करती, विद्यार्थी के भीतर जीवन-मूल्यों का संचरण नहीं करती, वह बौद्धिक शिक्षा समाज के लिए समस्या बन जाती है। विंस्टन चर्चिल के अनुसार यूनिवर्सिटी की पहली जिम्मेदारी ज्ञान के द्वारा उच्च चरित्र-निर्माण करना है, न कि व्यापारिक और तकनीकी शिक्षा देना। वर्तमान की शिक्षा पद्धति और मूल्यों में कोई समन्वय न देखकर आचार्य तुलसी अनेक बार अध्यापकों को प्रेरित करते हुए कहते थे—''शिक्षा के साथ जीवन-मूल्यों की शिक्षा नहीं देने वाला अध्यापक शिक्षा की जीवन्तता के आगे प्रश्नचिह्न लगा देता है अतः शिक्षा का उद्देश्य है—मूल्यों को समझना, उसे पाने की योग्यता हासिल करना तथा संवेगों को नियंत्रित करने की कला सिखाना।''

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि शिक्षक शिक्षा के द्वारा न केवल अतीत के गौरव को प्रकट करता है अपितु वर्तमान को सुंदर और भविष्य को सुनहला बनाने का प्रयत्न भी करता है।

वही शिक्षा अपनी प्रासंगिकता बनाए रख सकती है, जो व्यक्तित्व- निर्माण और सद्जीवन की जरूरतों के अनुसार जीवन-शैली का विकास कर पाए। जिस शिक्षा से अनुशासन, धैर्य, सह-अस्तित्व, जागरूकता आदि जीवन-मूल्यों का विकास नहीं होता, उस शिक्षा की जीवंतता के आगे प्रश्नचिह्न उभर आता है।

आचार्य तुलसी

९. श्रद्धा और आत्मविश्वास का संचरण

आत्मविश्वास व्यक्तित्व-विकास का महत्त्वपूर्ण पहलू है। उसके अभाव में शिक्षा सर्वांगीण नहीं बन पाती। स्वामी विवेकानंद कहते थे— **''प्राचीन धर्म में नास्तिक उसे कहा जाता था, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता था। नए धर्म में नास्तिक वह है, जो स्वयं पर विश्वास नहीं करता। मैं मानता हूं, इस नए धर्म को शिक्षा में स्थान मिलना चाहिए।''**[१] वही अध्यापक अपनी शिक्षण-कला में पूर्णतया सफल होता है, जो विद्यार्थियों के भीतर अदम्य आत्मविश्वास और दृढ़ इच्छाशक्ति जागृत कर सके। जो अध्यापक अपने विद्यार्थियों में उत्साह और आत्मविश्वास नहीं जगा सकता, वह स्वयं तो असमय में बूढ़ा हो ही जाता है, उसके पास रहने वाले विद्यार्थी भी **'वृद्धत्वं जरसा विना'** उक्ति को सार्थक कर देते हैं। आत्मविश्वास के अभाव में विद्यार्थी थोड़ी सी विपरीत परिस्थिति में डांवाडोल हो जाता है। उसमें कोई नया और साहसी कार्य करने की क्षमता नहीं जागती। आत्मविश्वास की वृद्धि विद्यार्थी को प्रतिक्षण क्रियाशील बनाए रखती है। पाश्चात्य विद्वान् रास्क के अनुसार—''शिक्षक का आत्मविश्वास विद्यार्थी में संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।''[२]

अमेरिका के लोकप्रिय राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने विद्यालय के प्राचार्य को अपने पुत्र के सर्वांगीण विकास हेतु एक पत्र लिखा, उस पत्र की कुछ पंक्तियां शिक्षा द्वारा आत्मविश्वास के जागरण की कथा कह रही हैं— **''उसे इतनी ताकत दीजिए कि वह लकीर का फकीर होकर भीड़ के साथ न चल पड़े।.....उसे इतना बहादुर बनाइए कि वह आवाज उठा सके, इतना धैर्यवान् बनाइए कि बहादुरी दिखा सके। उसे खुद पर भरोसा करना सिखाइए ताकि वह इंसानियत में भरोसा रख सके।''**

यदि अध्यापक बार-बार इस बात की पुनरावृत्ति करता है कि यह

---

१. राष्ट्र को आह्वान पृ. २०५।

२. Principles and Practices of teaching in secondary schools p. 330।

विषय बहुत कठिन है, तुम लोग इसका अध्ययन कैसे कर पाओगे तो यह बात सुनकर ही विद्यार्थी की आत्मशक्ति क्षीण होने लगती है और क्षमताओं को जंग लग जाता है। आचार्य तुलसी अध्यापन के दौरान अनेक बार प्रगति के लिए आवश्यक जोखिम उठाने की प्रेरणा देते थे। बाल संतों के अंदर वे यह आत्मविश्वास जगा देते थे कि वे जो कुछ कहेंगे, वह उनके भावी हित में होगा भले ही वर्तमान में वह सुखद न लगे।

केवल लीक पर चलने वाला अध्यापक किस प्रकार विद्यार्थी को हतोत्साहित करके उसके जीवन को सर्वनाश की ओर धकेल देता है, इस संदर्भ में एक सत्य घटना को प्रस्तुत करना प्रसंगोचित होगा। एक अध्यापक ने विद्यार्थियों को कुछ लिखने और प्रश्नों का समाधान करने की प्रेरणा दी। कक्षा के एक विद्यार्थी ने पुस्तक में लिखे समाधान से हटकर अपने उर्वर मस्तिष्क से एक नया विकल्प प्रस्तुत किया। अध्यापक ने जब उसकी कापी देखी तो उसे उपालम्भ देते हुए कहा—''क्या तुम इस पाश्चात्य लेखक से अधिक बुद्धिमान हो, जो इस पुस्तक से अलग समाधान प्रस्तुत कर रहे हो। तुमको जो कुछ पढ़ाया जाए, उसी पर ध्यान दो। अपनी बुद्धि को अधिक काम में लेने की आवश्यकता नहीं है।''

विद्यार्थी का मन कुंठित हो गया लेकिन उसको अपने समाधान पर पूरा विश्वास था। उसने पाश्चात्य लेखक के साथ पत्र के माध्यम से सम्पर्क साधा। उस लेखक ने प्रसन्नता के साथ उस विद्यार्थी को पत्र लिखा—''प्रिय विद्यार्थी! तुम्हारे समाधान को पढ़कर मुझे अनुभव हुआ कि तुमने मुझसे अच्छा विकल्प प्रस्तुत किया है। मैं तुम्हारी मेधा को धन्यवाद देता हूं।''

जब उस विद्यार्थी ने अपने अध्यापक को वह पत्र दिखाया तो धन्यवाद देने के बदले आवेश में आकर उसने कहा—''जब तुम इतने प्रबुद्ध हो तो यहां कॉलेज में आकर पढ़ने की क्या आवश्यकता है ? घर पर रहकर ही तुम स्वयं अध्ययन कर सकते हो।'' अध्यापक के इस नीरस और अहंकार युक्त व्यवहार से विद्यार्थी खिन्न हो गया और उसने आत्महत्या कर ली। यदि अध्यापक उसके आत्मविश्वास की प्रशंसा में कुछ शब्दों का प्रयोग कर देता,

उसके उत्साह को शतगुणित कर देता तो वह देश के लिए होनहार नागरिक बन सकता था और अपनी प्रतिभा से किसी भी क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित कर सकता था।

आत्मविश्वास जगने के बाद विद्यार्थी अभय हो जाता है। उसमें नए साहस का संचार हो जाता है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार **जो शिक्षा अभय और इच्छाशक्ति का विकास नहीं कर सकती, सिंह के समान साहस पैदा नहीं कर सकती, क्या उसे शिक्षा या शिक्षण का नाम दिया जा सकता है ?''**[१]

पूज्य गुरुदेव का आत्मविश्वास उत्कृष्ट रूप से जागृत था। उन्होंने अनेक उचित तरीकों से विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों के भीतर आत्मविश्वास संप्रेषित किया। सन् १९९४ का प्रसंग है। अध्यापन के समय कुछ बाल साध्वियां विलम्ब से पहुंचीं। गुरुदेव ने उनको विलम्ब से आने के प्रति अंगुलिनिर्देश किया। उनकी आंखों में संकोच उतर आया। साध्वियों के चेहरे को पढ़कर पूज्य गुरुदेव ने साध्वी कल्पमालाजी को लेखपत्र सुनाने का निर्देश दिया। विलम्ब से पहुंचने से उनके मन में घबराहट थी अत: कांपते हुए स्वर में उन्होंने लेखपत्र सुनाया। कहीं कहीं स्खलना भी हो गई फिर भी गुरुदेव ने उन्हें पांच कल्याणक देकर प्रोत्साहित किया।

बाल मुनियों ने कहा—''हमने भी लेखपत्र सुनाया पर हमें कोई प्रोत्साहन नहीं मिला।'' गुरुदेव ने फरमाया—''तुम रात-दिन हमारे पास रहते हो अत: मौका मिलता ही रहता है। साध्वियों को कम अवसर मिलता है। आज यह नई साध्वी विलम्ब से आने के कारण घबरा गई थी अत: इसकी घबराहट को दूर करने के लिए पुरस्कार दिया गया है।'' गुरुदेव के इस प्रोत्साहन ने बाल साध्वी की प्रसन्नता और आत्मविश्वास को शतगुणित कर दिया।

इसी संदर्भ में एक और प्रसंग प्रस्तुत करना भी प्रासंगिक होगा। एक बार गुरुदेव तुलसी ने बिना पूर्व सूचना के अध्ययनरत साध्वियों की गोष्ठी

---

१. शिक्षा सिद्धान्त एवं आधुनिक भारतीय समाज में शिक्षा पृ. २५३।

बुलाई और संस्कृत भाषा का अध्ययन करने वाली साध्वियों को संस्कृत में भाषण बोलने का निर्देश दिया। गोष्ठी में साध्वी संघमित्राजी सलक्ष्य यह सोचकर पीछे बैठीं थीं कि पीछे बैठने से बोलने में उनका नाम पहले नहीं आएगा। बिना तैयारी सर्वप्रथम बोलने का उनके भीतर आत्मविश्वास जागृत नहीं हो सका था।

गुरुदेव की पैनी नजर सर्वप्रथम साध्वी संघमित्राजी पर ही पड़ी। उन्हें संस्कृत में भाषण बोलने का निर्देश मिला। खड़े होते ही उनका आत्मविश्वास जाग गया। उन्होंने अस्खलित रूप से अपने विचार रख दिए। आचार्यवर ने उनके वक्तव्य पर संतोष व्यक्त किया। इस घटना के बाद उनका आत्मविश्वास बढ़ गया और फिर गुरु की नजर से बचकर पीछे बैठने की आदत सदा के लिए छूट गई।

अध्यापन के दौरान एक दिन गुरुदेव ने चार सूत्रों को अंगीकार करने का आह्वान किया। निम्न चारों सूत्रों का विकास ही आत्मविश्वास का आविर्भाव है। वे सूत्र इस प्रकार हैं—

१. कभी कोई निराश मत बनो, सदैव आशावादी बने रहो। निराशा जीवन के लिए अभिशाप है, भले ही स्वास्थ्य संबंधी हो या अध्ययन के क्षेत्र में।

२. सदैव प्रसन्न रहो।

३. दूसरों की आदतों को सहन करना सीखो। जिन्होंने सहन किया, वे ही कुछ बने हैं।

४. कभी भारभूत मत बनो। सदैव उपयोगी बने रहो। जिसकी जैसी क्षमता है, वह उसका उपयोग करे।

विद्यार्थी साधु-साध्वी या समण-समणी की क्षमता पर विश्वास करके बड़े से बड़ा दायित्व सौंपकर गुरुदेव निश्चिंत हो जाते थे। दूसरे के कहने पर या सुझाव देने पर भी अविश्वास उनके मस्तिष्क को प्रभावित नहीं करता था। यही कारण था कि उन्होंने अनेक व्यक्तियों के भीतर काम करने का आत्मविश्वास पैदा कर दिया।

एक समणी को दीक्षित होने के कुछ वर्षों बाद पूज्य गुरुदेव ने निर्देशिका बनाकर यात्रा में जाने का निर्देश दिया। किसी के द्वारा आशंका व्यक्त करने पर गुरुदेव ने कहा—''गांव स्वयं कोतवाली सिखा देता है। स्वतंत्र रूप से कार्य करने से ही क्षमता का विकास होता है।'' गुरुदेव के इस वाक्य ने उनके आत्मबल को जागृत कर दिया और गुरुदेव द्वारा किया गया विश्वास फलित हो गया।

श्रद्धा आत्मविश्वास की जननी है। यदि ज्ञान के साथ श्रद्धा नहीं है तो कोरा तर्क व्यक्ति को महत्त्वाकांक्षी या विद्रोही बनाकर उसके जीवन की समरसता को समाप्त कर देता है। आचार्य तुलसी के शब्दों में उत्तम तर्क वही है, जो श्रद्धा के प्रकर्ष में फूटता है।''[१] **जो अध्यापक विद्यार्थियों के भीतर प्रारम्भ से श्रद्धाबल जगा देता है, वह उनके जीवन-विकास में नींव का पत्थर रख देता है। श्रद्धाशील विद्यार्थी जीवन के उतार चढ़ाव की स्थिति में भी श्रद्धाबल के आधार पर अपने मनोबल और आत्मबल को बनाए रखता है।** आचार्य तुलसी का प्रबल विश्वास था कि ज्ञान-विज्ञान की भले ही कितनी ही शाखाएं खुल जाएं, यदि उसके साथ श्रद्धा का विकास नहीं होगा तो ज्ञान उसके लिए वरदान नहीं, अपितु अभिशाप सिद्ध होगा। गुरुदेव तुलसी की दृष्टि में श्रद्धा का अर्थ केवल इतना ही नहीं था कि स्वर्ग-नरक, आत्मा और पुनर्जन्म में विश्वास किया जाए। श्रद्धा का वास्तविक अर्थ है—इष्ट के प्रति पूर्ण समर्पण और अपनी शक्तियों पर विश्वास करके उसका सम्यक् उपयोग।

स्वामी विवेकानंद का भी अभिमत था कि शिक्षा के द्वारा छात्रों में श्रद्धा की निष्पत्ति होनी चाहिए क्योंकि श्रद्धा से ही विद्यार्थी का जीवन समृद्धिशाली बनाया जा सकता है। श्रद्धा का उन्मूलन मनुष्य को पतन के गर्त में ढकेलने के समान है। रवीन्द्रनाथ टैगोर के शिक्षा दर्शन के बारे में आर. एस. मनी ने लिखा है कि उनके शिक्षा दर्शन का लक्ष्य इस बात का प्रचार करना था कि लोगों में श्रद्धा और मानसिकवीर्य का प्रचार हो।

---

१. आचार्य तुलसी साहित्य : एक पर्यवेक्षण पृ. ४६।

१०. आचरण और व्यवहार में एकरूपता का शिक्षण

चरित्र-निर्माण के क्षेत्र में अध्यापक का आदर्श आचरण छात्र के लिए अनुकरणीय होता है। वह उपदेश की अपेक्षा अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। वह विद्यार्थी के समक्ष आदर्शों की साक्षात् मूर्ति बन जाता है।''[१] उच्च चरित्र वाले अध्यापक के पास यदि बच्चा कुछ समय भी रहता है तो उसके कोमल मन और जीवन पर उसके चरित्र का अमिट प्रभाव पड़ता है। शिक्षक का कार्य केवल पुस्तकीय ज्ञान देकर किताबी कीड़ा बनाना ही नहीं, बल्कि जीवन को आदर्शों में ढालकर विद्यार्थी को उच्च आचरण की प्रेरणा देना है। जो अध्यापक विद्यार्थी के दृष्टिकोण, व्यवहार, चिन्तन, कषाय और गलत आदतों में परिवर्तन या संशोधन नहीं कर सकता, उसका प्रशिक्षण अधूरा रहता है। अक्षरज्ञान के साथ आचरण में परिवर्तन शिक्षा की प्रथम कसौटी है। स्वामी विवेकानंद का स्पष्ट मंतव्य था कि शिक्षा उस जानकारी का नाम नहीं है, जो विद्यार्थी के मस्तिष्क में भर दी जाती है और वहां पड़े-पड़े जीवन भर बिना पचाए सड़ती रहती है। विद्यार्थी के जीवन में शिक्षा और विचारों को ऐसे आत्मसात् करवा देना चाहिए, जिससे मनुजत्व और चरित्र का निर्माण हो।'' पूज्य गुरुदेव का मंतव्य था कि अक्षरबोध शिक्षा नहीं। शिक्षा से गुण-दोष की परख आती है। हेय-उपादेय की भावना जागृत होती है, हिताहित का ज्ञान होता है तथा सदाचार और अनुशासन के प्रति निष्ठा जागती है।''

योग्य शिक्षक विद्यार्थी को ऐसे सांचे में ढालता है, जिससे उसमें ज्ञान ग्रहण की क्षमता के साथ आचरण की दिव्यता भी प्रकट हो जाए। प्राचीन अध्यापक विद्यार्थियों को प्रेरणा देते थे कि '**यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि**' अर्थात् हमारे आचरण में जो श्रेष्ठताएं हैं, उन्हें स्वीकार करना, अन्य सब बातों को नहीं। प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद के साथ वार्ता करते हुए गुरुदेव तुलसी ने कहा—''**एक हजार टन ज्ञान की तुलना में**

---

१. अच्छा शिक्षक : और अच्छा छात्र, पृ. १६।

ढाई सौ टन चरित्र श्रेष्ठ होता है'—इस कहावत की गंभीरता पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है इसीलिए शिक्षा के क्षेत्र में विसंगतियां पैदा हो रही हैं।''

महाभारत में युधिष्ठिर के जीवन का प्रसंग भी आचरणगत उच्चता की बात प्रकट करता है। द्रोणाचार्य ने अपने विद्यार्थियों को 'क्रोधं मा कुरु' का पाठ याद कराते हुए प्रेरणा दी—''शिक्षा तभी पूर्णता को प्राप्त करती है, जब वह जीवन के आचरण में उतरे अन्यथा केवल पुस्तकीय शिक्षा वाग्विडम्बना बन जाती है।'' अगले दिन जब द्रोणाचार्य ने पाठ सुना तो कौरव और पाण्डवों ने वह पाठ शब्दश: सुना दिया लेकिन युधिष्ठिर चुप खड़े रहे। पूछने पर उन्होंने बताया कि मुझे अभी पाठ याद नहीं हुआ है। दो-तीन दिन तक वे यही उत्तर देते रहे। आखिर द्रोणाचार्य ने उन्हें छड़ी से पीटते हुए कहा—''इतना छोटा पाठ भी तुम याद नहीं कर सके।'' युधिष्ठिर ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया—''अब मुझे पाठ याद हो गया।'' द्रोणाचार्य ने आश्चर्य व्यक्त किया कि इतने स्वल्प समय में पाठ याद कैसे हुआ ? युधिष्ठिर ने कहा—''यद्यपि तीन शब्दों का यह पाठ मुझे उसी समय याद हो गया था लेकिन आपने कहा था कि ज्ञान जब तक आचरण में न उतरे, तब तक अधूरा रहता है अत: इतने दिन से मैं स्वयं को कसौटी पर कस रहा हूँ। आज जब आपने मुझे पीटा तो भी मुझे क्रोध नहीं आया अत: अब मुझे विश्वास हो गया कि पाठ याद हो गया है।''

इस संदर्भ में स्वामी विवेकानन्द का वक्तव्य अत्यन्त मार्मिक है—''**अगर सूचना देना, जानकारी प्राप्त करना या पुस्तक पढ़ाना ही शिक्षा का अर्थ होता तो पुस्तकालय विश्व के महान् संत के रूप में तथा विश्वकोष विश्व के महान् ऋषि के रूप में स्वीकार किए जाते। जिसको पूरा पुस्तकालय कंठस्थ है, उसकी अपेक्षा मैं उस शिक्षक को अधिक शिक्षित और प्रभावी मानता हूँ, जो आदर्शों को आत्मसात् करते हुए अपना तथा विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का निर्माण करता है।**'' रूसो ने अध्यापकों को प्रेरणा देते हुए कहा—''अपने छात्रों को मौखिक पाठ मत पढ़ाओ। जब भी संभव हो, अपने कार्य और उन्नत आचरण द्वारा पढ़ाओ। आचरण और व्यवहार की एकरूपता

और पारदर्शिता ही विद्यार्थी को प्रभावित करती है।''

आचार्य तुलसी के शब्दों में चरित्र का अर्थ इतना-सा है कि सवेरे से लेकर रात को सोने तक कोई भी क्रिया ऐसी न हो, जो दूसरों के लिए घातक और अनिष्टकर हो।'' गुरुदेव तुलसी अपने अध्यापन-काल में पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा आचरणगत या चरित्रगत शिक्षा पर अधिक बल देते थे। वे मानते थे कि अनेक ग्रंथ पढ़ लिए, बड़ी-बड़ी उपाधियां ग्रहण कर लीं, फिर भी यदि चरित्रनिष्ठा नहीं आई, ज्ञान जीवन में नहीं उतरा तो वह ज्ञान निरर्थक है।'' आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि जैसे गधा चंदन का भार ढोता है, वह उसकी सुगंध का आनंद नहीं ले सकता, वैसे ही आचरण रहित ज्ञान केवल भार ढोने के समान है।''[१] आचरणगत शिक्षा के बिना जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता।

कभी-कभी पूज्य गुरुदेव गागर में सागर की भांति थोड़े से शब्दों में आचरण को आत्मगत करने की प्रेरणा दे देते थे। एक बार वे किसी कॉलेज में प्रवचन कर रहे थे। एक विद्यार्थी ने खड़े होकर जिज्ञासा प्रस्तुत की—''हमने अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं और जीवन भर पढ़ते ही जाएंगे। कृपा करके हमें बताएं कि पुस्तकों का सार क्या है? गुरुदेव तुलसी ने सहजता से उत्तर दिया—''हजारों पुस्तकों का सार है जीवन के आचरण को आदर्श बनाना। अनेक बड़े-बड़े पोथे पढ़कर भी यदि व्यक्ति ने यह नहीं सीखा कि उसे आचारनिष्ठ रहना चाहिए तो उसका ज्ञान अनुपयोगी और अनुपादेय है।''

यदि अध्यापक सिखाए कुछ और आचरण कुछ और करे तो प्रशिक्षण और आचरण में विरोधाभास हो जाता है। **जैनेन्द्रजी के अनुसार शिक्षक का व्यवहार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से बालक को बहुत कुछ कह देता है। शब्द यदि उसके जीवन से अनमेल हो तो उसकी वाणी का प्रभाव कम हो**

---

१. आवनि ९४ ;

जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी ण हु चंदणस्स।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सुग्गतीए॥

जाएगा। किताब में आप अच्छी बातें बताएं और सुनाएं लेकिन उन शब्दों की अनुकूलता निःशब्दता द्वारा आपसे बालक को प्राप्त नहीं हुई तो शब्द व्यर्थ हो जाएगा। वह उल्टा परिणाम भी ला सकता है।'[१]

एडम्स का अभिमत था कि शिक्षा एक ऐसी सुनियोजित प्रक्रिया है, जिसमें एक व्यक्तित्व का विकास करने के लिए उस पर दूसरे व्यक्तित्व का मन, वाणी एवं कर्म के द्वारा प्रभाव पड़ता है। अध्यापक के विचार और कार्य की एकरूपता ही विद्यार्थी को अनुसरण की प्रेरणा देती है। सिगरेट स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, इस तथ्य को पढ़ाने वाला अध्यापक जब स्वयं सिगरेट पीता है तो छात्र निषेध करने पर भी धूमपान करना सीख लेगा। पूज्य गुरुदेव का मंतव्य था कि बालक पुस्तकों और अध्यापकों की वाणी से नहीं, वरन् उनके रहन-सहन, व्यवहार और आचरण से पढ़ते हैं। सैकड़ों पुस्तकें पढ़ लेने पर भी एक विद्यार्थी को उतना ज्ञान नहीं हो सकता, जितना कि उसे अध्यापकों के जीवन-व्यवहार से होता है अतः अध्यापक का स्वयं का जीवन विद्यार्थियों के लिए खुली पुस्तक होना चाहिए। गुरुदेव तुलसी ने काव्य के माध्यम से अध्यापकों में यही चेतना भरने का प्रयत्न किया है—

वाणी से पहले जिसका, व्यवहार स्वयं जो बोल उठे,
पुस्तक से पहले जिसका, आचार स्वयं जो बोल उठे,
कार्यों से पहले जिसका, संस्कार स्वयं जो बोल उठे,
जिसके संक्षेपी शब्दों में, विस्तार स्वयं जो बोल उठे
उससे बढ़कर फिर कौन कहो, बच्चों का भाग्य विधाता है
अध्यापक स्वयं पढ़ाता है॥

पुस्तकीय शिक्षा के साथ जीवन जीने की कला का प्रशिक्षण देना अध्यापन का वैशिष्ट्य है। जो अध्यापक केवल पुस्तकीय ज्ञान पढ़ाकर कोर्स पूरा करना ही अपना लक्ष्य समझते हैं, वे अध्यापक विद्यार्थी के सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाते। स्वामी विवेकानंद का निम्न मंतव्य

१. शिक्षा और संस्कृति पृ. ३४।

अध्यापक और विद्यार्थी को नया प्रकाश देने वाला है—''**जो कुछ भी पढ़ो, उसे जीओ। विचारों को ऐसे आत्मसात् करो कि मानो चरित्र को ही आत्मसात् कर रहे हो। तदनुसार चरित्र गठन करोगे तो तुम पुस्तकीय ज्ञान कंठस्थ करने वाले छात्र से कहीं अधिक शिक्षित बन सकोगे।**''

आज की शिक्षा पद्धति को देखकर ही दिनकर के मुख से ये स्वर निकले होंगे—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की॥

योगक्षेम वर्ष के दौरान एक दिन आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व-निर्माण की चर्चा चल रही थी। प्रशिक्षु साध्वियों के हाथ में नोट बुक थी। उन्होंने नोट्स लेने प्रारम्भ कर दिए। सबको नोट लेते देखकर गुरुदेव ने फरमाया—''नोटबुक में नोट्स लेने में जितनी स्फूर्ति है, उतनी ही स्फूर्ति इन बिन्दुओं को जीवन में आत्मसात् करने की आ जाए तो प्रज्ञापर्व के समायोजन की सार्थकता हो जाएगी।''

आचार्य तुलसी का स्पष्ट मंतव्य था कि जीवन में उस शिक्षा की आवश्यकता है, जिसके द्वारा मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, बुद्धि का विकास होता है, संवेगों पर नियंत्रण स्थापित होता है और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होता है।''

पूज्य गुरुदेव छोटे-छोटे प्रसंगों को निमित्त बनाकर आचरण गत शिक्षा की प्रेरणा देते रहते थे। एक शहर में गुरुदेव तुलसी कॉलेज में विद्यार्थियों के बीच प्रवचन करके वापस लौट रहे थे। कई विद्यार्थी पूज्य गुरुदेव का ऑटोग्राफ लेने को उत्सुक थे। उन्होंने पेन और डायरी आगे करके हस्ताक्षर करने को कहा। गुरुदेव ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—''**देखो बच्चों ! मैंने आज जो बातें तुम्हें बताई हैं, उन्हें जीवन में उतारने का प्रयत्न करो। यही सच्चा ऑटोग्राफ होगा। केवल हस्ताक्षर से क्या होगा ?**'' **बच्चों ने देखा कि एक महापुरुष ने छोटे से वाक्य के द्वारा जीवन में आचरण और चरित्र का**

कितना गूढ़ उपदेश दे दिया है।''

दैनंदिन जीवन के सामान्य प्रसंगों से जीवन का बहुत बड़ा बोधपाठ दे देना गुरुदेव के अध्यापन-कर्म की विशिष्टता थी। उनके जीवन के ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जब उन्होंने शिक्षण के साथ बात-बात में या विनोद में उन्नत आचरण की सीख दे दी।

लाडनूं के प्रज्ञालोक हाल में गुरुदेव ध्यान की चर्चा कर रहे थे। उन्होंने बाल मुनियों को इसिभासियाइं सूत्र का निम्न पद्य सिखाना प्रारंभ किया—

सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते॥[१]

कुछ मुनियों ने कहा कि यह पद्य तो इस हाल की दीवार पर लिखा हुआ है। गुरुदेव ने विनोद में प्रेरणा देते हुए कहा—'यहां' (अपने भीतर) लिखा हुआ है या नहीं? हृदय में लिखा हो, तब बात बने।'' मुनि 'तहत्' कहते हुए बोले—'' आपकी कृपा से यहां लिखने का अभ्यास कर रहे हैं।' गुरुदेव ने हंसते हुए फरमाया—'तब ठीक है, यहां लिखने से ही काम बनेगा।'

व्याकरण और दर्शन जैसे गहन और नीरस विषयों के माध्यम से भी वे आचरणगत प्रशिक्षण देते रहते थे। व्याकरण के सूत्रों एवं दर्शन के तर्कों को अपनी विलक्षण बुद्धि से जीवन-व्यवहार में घटित करके वे ऐसा प्रतिबोध देते कि विद्यार्थी उसे कभी भूल नहीं सकते थे। जब-जब वह सूत्र या दार्शनिक तथ्य उनकी आंखों के सामने से गुजरता, गुरुदेव का प्रतिबोध उन्हें याद आ जाता। इस उपक्रम से वे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, सप्तभंगितरंगिणी और कालू कौमुदी जैसे दर्शन और व्याकरण के जटिल ग्रंथ भी उपन्यास जैसी रोचक शैली में पढ़ा देते थे। यहां उनकी इसी अध्यापन शैली के कुछ रोचक प्रसंग प्रस्तुत हैं, जब उन्होंने व्याकरण के माध्यम से जीवन का सही व्याकरण समझा दिया।

---

१. इसि २२/१६।

* सन् १९६१ फरवरी माह का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव विद्यार्थी साधु-साध्वियों को 'वणिज्' शब्द की सिद्धि सिखा रहे थे। क्विप् प्रत्यय से यह शब्द निष्पन्न होता है। क्विप् प्रत्यय आकर शब्द बनाकर चला जाता है। उसका अस्तित्व नहीं रहता। गुरुदेव ने संतों को प्रेरणा देते हुए कहा—''मनुष्य को 'क्विप' प्रत्यय की तरह होना चाहिए। वह दूसरों का काम करके भी स्वयं अज्ञात बना रहे।''

* एक बार पूज्य गुरुदेव संतों को सिन्दूरप्रकर ग्रंथ का अध्यापन कर रहे थे। इसका दूसरा नाम 'सूक्ति-मुक्तावलि' भी है। सूक्ति शब्द की व्याकरण सम्मत व्याख्या करते हुए गुरुदेव ने कहा—''सूक्ति क्ति प्रत्यय का रूप है। इसकी तीन विशेषताएं हैं—

* प्रत्येक क्रिया के साथ होता है।

* स्त्रीलिंग में ही होता है।

* क्रिया में गुणवृद्धि नहीं करता।''

गुण-वृद्धि को व्यवहार में घटित करते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''जैसे दुर्जन किसी की वृद्धि अथवा गुण नहीं देख सकता, वैसे ही यह क्ति प्रत्यय है। यह भी गुण की वृद्धि नहीं होने देता लेकिन हमें दूसरों की गुण-वृद्धि में सहयोग करना चाहिए।''

* एक दिन गुरुदेव बाल साधुओं के बीच उपसर्ग के बारे में अध्यापन कर रहे थे। उपसर्ग लगने पर अर्थ में कितना परिवर्तन आता है, इसका एक उदाहरण बताते हुए गुरुदेव ने कहा—''अधि के आगे यदि आ लगाओ तो आधि, वि लगाओ तो व्याधि, उप लगाओ तो उपाधि तथा सम् लगाओ तो समाधि बन जाता है। तुम लोगों को क्या लगाना है, यह स्वयं सोचो।'' व्याकरण के अध्यापन में ऐसा आत्मगत और व्यावहारिक शिक्षण कोई विशिष्ट अध्यापक ही कर सकता है।

पूज्य गुरुदेव का स्वयं का जीवन इतना कलात्मक और संयत था कि स्वत: ही उनके निकट बैठने वाला व्यक्ति हर क्षण उनसे कोई न कोई प्रेरणा

प्राप्त करता रहता था। आचार्य महाप्रज्ञजी उनके मुनि काल की चारित्रिक विशेषताएं उजागर करते हुए कहते हैं—''सदा अध्ययन में संलग्न रहना, कालूगणी की उपासना करना, कंठस्थ करना, कम बोलना, अनावश्यक भ्रमण न करना, हास्य-कुतूहल न करना—ये मुनि तुलसी की प्रकृतिगत विशेषताएं थीं।''

कुएं से पानी निकालते समय केवल दो अंगुल रस्सी हाथ में रहती है तो भी पूरी रस्सी एवं पानी का डोल बाहर निकाला जा सकता है। पतंग आकाश में उड़ती है, उस समय हाथ में डोर का थोड़ा-सा हिस्सा रहता है। उसी के बल पर वह नभ की ऊंचाइयों को छूती है। इसी प्रकार जितना समय अभिभावकों एवं अध्यापकों की सन्निधि में व्यतीत होता है, उसका समुचित उपयोग किया जाए और अपने आचरणों-व्यवहारों को उदात्त रखा जाए तो बच्चों को सही ढंग से प्रशिक्षित किया जा सकता है। निष्कर्ष के रूप में इतना ही समझा जाए कि केवल किताबी शिक्षा पर्याप्त नहीं है। वास्तविक शिक्षा जीवन से ही मिलती है।

आचार्य तुलसी,

शिक्षा को बनाएं आनंद और विकास की दीक्षा पृ. ४, ५

११. अनुशासन का महत्त्व

अनुशासन विकास का दूसरा नाम है। विद्यार्थी के व्यवहार को नियमित करने में अनुशासन एक महत्त्वपूर्ण कारक तत्त्व है। पाश्चात्य विद्वान् नन मानते थे—''अनुशासन का अर्थ है आवेगों पर नियंत्रण तथा शक्ति का सही उपयोग, जिससे विद्यार्थी में सृजनात्मक शक्ति का प्रादुर्भाव हो।''[१] बच्चों को व्यवस्था, उत्तम आचरण और उनमें निहित सर्वोत्तम गुणों की आदत को प्राप्त करने के लिए अनुशासन का प्रशिक्षण दिया जाता है।''[२]

अनुशासन के बिना अध्यापक बच्चों पर न नियंत्रण रख पाता है और न ही ज्ञान के प्रति गंभीर रह पाता है। जॉन ड्यूवी के अनुसार अनुशासन वह शक्ति है, जो मनुष्य को अपने कार्य में संलग्नता और अभिप्राय-सिद्धि की भावना से प्रेरित करती है, श्रम और शक्ति को नष्ट होने से रोकती है तथा अपूर्णावस्था से लेकर पूर्णावस्था तक के मार्ग में मनुष्य के प्रयत्नों को संचालित करती है।''[३]

अनुशासन का उद्‌गम आत्मशक्ति से होता है इसलिए अध्यापक के जीवन में अनुशासन का विशेष महत्त्व है। प्रसिद्ध उपन्यासकार जैनेन्द्र के अनुसार शिक्षक को सदैव यह याद रखना चाहिए कि अनुशासन से ही अनुशासन आता है। शिक्षक पर यह दायित्व आता है कि पहले उसका स्वयं का व्यवहार अनुशासित हो। इस संदर्भ में आचार्य तुलसी का उद्‌घोष था—''**निज पर शासन, फिर अनुशासन।**'' यदि वह जल्दी अधीर हो जाता है या क्रोध में आ जाता है तो उसके व्यवहार से अनुशासन की शिक्षा कैसे मिल पाएगी ?''[४]

महात्मा गांधी ने कहा था कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है विद्यार्थी में

---

१. T. P. Nunn ; Education, its Data and first Principles, p. 256।

२. सफल शिक्षण कला, पृ. ४१४।

३. शैक्षिक निबंध, पृ. २४५।

४. शिक्षा और संस्कृति पृ. ५०।

अनुशासन के संस्कार डालना तथा अनुशासनहीनता को रोकना। अनुशासन के संदर्भ में शिक्षाशास्त्रियों का अभिमत है कि बाह्य अनुशासन केवल बाल्य अवस्था तक ही रहना चाहिए। पूर्ण परिपक्व होने पर जब अच्छे-बुरे की समझ परिपक्व हो जाए, तब विद्यार्थी पर बाह्य अनुशासन का दबाब कम होकर अंत:प्रेरणा से प्रेरित आत्मानुशासन का विकास कराना चाहिए। विद्यार्थी को यह अनुभूति करवानी चाहिए कि दूसरों के नियंत्रण की अपेक्षा उसके व्यवहार का नियंता वह स्वयं बने। रूपक के माध्यम से अनुशासन को समझाते हुए कॉमेनियस कहते हैं—''जैसे संगीतज्ञ अपने सितार को घूंसे या डंडे से नहीं मारता और न वह उसे दीवार से मारकर तोड़ता है क्योंकि ऐसा करके वह भद्दी ध्वनि निकालता है। इसके विपरीत वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार उसको लययुक्त बनाकर व्यवस्थित बजाता है।'' विद्यार्थी के मन में ज्ञान के प्रति निष्ठा और प्रेम उत्पन्न करने के लिए इसी प्रकार के कुशल एवं सहानुभूतिपूर्ण अनुशासन की आवश्यकता रहती है।

विद्यालयों में अनुशासन बनाए रखने हेतु W. P. शीरिंग ने तीन प्रकार के अनुशासन बताए हैं—

* सृजनात्मक अनुशासन
* प्रतिबन्धात्मक अनुशासन
* उपचारात्मक अनुशासन

सृजनात्मक अनुशासन बालक के भीतर आत्मानुशासन के भाव जागृत करके उसे सृजन की धारा से जोड़ देता है। प्रतिबन्धात्मक अनुशासन में कुछ ऐसे प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं, जिससे विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता नहीं पनपे तथा उपचारात्मक अनुशासन अनुशासनहीनता के कारणों की खोज करके उसका सम्यक् उपचार करता है। शिक्षाशास्त्रियों ने चार प्रकार के अन्य अनुशासन भी स्वीकार किए हैं—

१. प्राकृतिक अनुशासन
२. सामाजिक अनुशासन

३. आधिकारिक अनुशासन

४. वैयक्तिक अनुशासन[१]

प्राकृतिक अनुशासन का समर्थन रूसो और स्पेंसर ने किया है। उसके अनुसार बालक को प्रकृति के सहारे छोड़ देना चाहिए, जिससे वह स्वयं के अनुभव से अच्छे-बुरे का निर्णय करेगा और धीरे-धीरे उसमें स्वाभाविक अनुशासन का विकास हो जाएगा। इस अनुशासन में नियम के विरुद्ध कार्य करने से प्रकृति ही दंड देती है, किसी पुरुष को अनुशासन करने की आवश्यकता नहीं रहती। उम्र के साथ-साथ बालक में दूसरों को देखकर स्वत: सामाजिक अनुशासन विकसित होता चला जाता है। वह समाज के भय से बुरे कार्यों से बचता है एवं अच्छे कार्यों की प्रशंसा एवं प्रोत्साहन पाने के लिए स्वत: अनुशासित जीवन जीने लगता है। आधिकारिक अनुशासन में विद्यार्थी को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं रहती बल्कि अध्यापक और अभिभावक के अनुशासन में कार्य करना होता है। वैयक्तिक अनुशासन को आत्मानुशासन भी कहा जा सकता है। जब बालक पूर्ण रूपेण विकसित और परिपक्व हो जाता है, तब वह अच्छे और बुरे का अंतर समझने लगता है और उसमें आत्मानुशासन विकसित होता जाता है।

प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री एडम्स ने मार्डन डवलपमेंट इन एजूकेशनल प्रेक्टिस में शिक्षा के क्षेत्र में तीन प्रकार के अनुशासनों का उल्लेख किया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं[२]—

(१) दमनात्मक अनुशासन (२) प्रभावात्मक अनुशासन (३) मुक्त अनुशासन। अपनी आज्ञा, आदेश या निर्देश का पालन करवाने हेतु बल एवं शक्ति का प्रयोग करना दमनात्मक अनुशासन है। इसमें विद्यार्थियों की मनोवृत्तियों, इच्छाओं और रुचियों का दमन किया जाता है। इसमें विद्यार्थी को बाध्य होकर शिक्षक को सुनना पड़ता है। दमनात्मक अनुशासन विद्यार्थी के स्वाभाविक

---

१. सफल शिक्षण कला पृ. ४१४, ४१५।

२. शिक्षा के सामान्य सिद्धांत पृ. २३२, जी. एस. डी. त्यागी।

विकास को रोककर कभी-कभी उसे विद्रोही भी बना देता है। इसका प्रभाव सामयिक होता है, स्थायी नहीं। श्री अरविंद घोष कठोर और दमनात्मक अनुशासन के पक्ष में नहीं थे। उनका मानना था कि विद्यार्थी को स्वतंत्रता देकर उनका उचित मार्गदर्शन करना चाहिए, जिससे विद्यार्थी पर अध्यापक का प्रभाव बना रहे।''[१]

प्रभावात्मक अनुशासन में शिक्षक अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से विद्यार्थियों पर अनुशासन करता है। वह अपनी योग्यता, चरित्र, आचरण, विचार और आदर्श के द्वारा विद्यार्थी के मन में एक विशेष आदर का भाव उत्पन्न करता है। इससे विद्यार्थी अध्यापक के अनुशासन का सहज भाव से पालन करता है। इस अनुशासन में विद्यार्थी और शिक्षक का अन्त:सम्बन्ध अच्छा रहता है। शिक्षक मार्गदर्शक के रूप में कार्य करके विद्यार्थी के भीतर आत्मानुशासन की चेतना जगा देता है।

पाश्चात्य विद्वान् ब्रूवेकर के अनुसार मुक्त अनुशासन में शिक्षक मित्र के रूप में विद्यार्थी की समस्या को सुलझाता है। विद्यार्थी को पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। उस पर किसी प्रकार का बाह्य अनुशासन नहीं थोपा जाता। इस अनुशासन में स्वतंत्रता का अनुचित उपयोग भी किया जा सकता है। क्लार्क के अभिमत से मुक्त अनुशासन प्रणाली से छात्रों के व्यवहार में अभीष्ट परिवर्तन लाया जा सकता है।

गुरुदेव श्री तुलसी परिस्थिति, समय और व्यक्ति की अपेक्षा देखकर तीनों प्रकार के अनुशासनों का प्रयोग करते थे। उनके दमनात्मक और कठोर अनुशासन में भी स्वतंत्रता और विवेक संवलित थे। शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन कैसा होना चाहिए, इस संदर्भ में पूज्य गुरुदेव तुलसी के मुनि-जीवन का अनुभव पठनीय है—''**मेरे सामने एक ही लक्ष्य था कि पूज्य गुरुदेव कालूगणी की कल्पना के अनुरूप बाल साधुओं की शिक्षा और साधना का क्रम चलता रहे। ऊपर से मैं उनके प्रति जितना कठोर था, भीतर से**

१. शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त, पृ. २५०।

उतना ही वत्सलभाव भी रखता था। बहुत कड़ा दण्ड और बहुत अधिक वात्सल्य—इन दोनों अतियों के बीच मैंने सामंजस्य बिठा लिया था। इसके पीछे मेरा यह दृष्टिकोण था कि केवल कठोर अनुशासन व्यक्ति को जिद्दी बना देता है और केवल कोमलता उसे उच्छृंखल बनने का रास्ता देती है। विद्यार्थी साधुओं में कोई मनोयोग से नहीं पढ़ता अथवा कोई अन्य गलती कर लेता तो उसे सुधारने के लिए मैं अनुशासन के नए-नए उपाय खोजता रहता था। विद्यार्थी साधुओं पर आवश्यक नियंत्रण रखने पर भी मैं उनके बचपन को सहलाता और अपनी तरफ से उन्हें वात्सल्य देता था। पढ़ाने के साथ-साथ उनके सर्वांगीण निर्माण का दायित्व मुझ पर था।''[१] आचार्य तुलसी के किशोरवय के अध्यापनकालीन अनुशासन के संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ की अनुभूति पठनीय है—''आपमें अनुशासन शक्ति नैसर्गिक थी। आपके भ्रूभंग के दर्शन मात्र से हम शिशु मुनियों के मन कितने आशंकित हो जाते थे। यह शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता।''[२]

पूज्य गुरुदेव के उदार, आदर्श और संयमित व्यक्तित्व का प्रभाव हर क्षण विद्यार्थी साधु संतों को अनुशासित जीवन जीने की प्रेरणा देता रहता था। उनकी हर क्रिया अनुशासन की परिक्रमा करती थी। प्रारम्भकाल में वे विद्यार्थी को पूर्ण स्वतंत्रता देने के पक्ष में नहीं थे। पर निश्चित सीमा में स्वतंत्रता देकर उस विवेक को जगाने के पक्षधर थे, जो स्वयं आत्मानुशासन बन जाए। उसमें न दमन की आवश्यकता रहती है और न ही दबाव की, वहां स्वच्छंदता का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।

शिक्षाशास्त्री हरबर्ट का अभिमत था कि अपरिपक्व मस्तिष्क वाले विद्यार्थियों को बाह्य नियंत्रण की आवश्यकता रहती है। उन पर नियंत्रण रखकर ही उनका उचित पथदर्शन और चरित्र का निर्माण किया जा सकता है। किन्तु नियंत्रण स्वाभाविक और हार्दिक होना चाहिए। कोरा नियंत्रण विद्यार्थी

---

१. मेरा जीवन भा. १.....पृ. १५३, १५४।
२. यात्रा : एक अकिञ्चन की, पृ. २६६।

के मन में वैमनस्य पैदा करता है तथा कोरा वात्सल्य उच्छृंखलता की ओर ले जाता है।''

'न उ सच्छंदता सेया, लोए किमुत उत्तरे' व्यवहारभाष्य (गा. ८९) की यह उक्ति पूज्य गुरुदेव के रोम-रोम में रमी हुई थी। अनुशासन के संदर्भ में उनका स्पष्ट चिंतन था कि **मैं शिक्षा की कमी को सहन कर सकता हूं पर जीवन अनुशासनहीन हो जाए, यह मुझसे नहीं सहा जाता।...कोई साधु साहित्यकार है, कोई संगीतकार है, कोई कलाकार है, कोई प्रवचनकार है। कार ही कार है। अनेक कार होने पर भी जो कार—मर्यादा का लोप कर देता है, वह बेकार की श्रेणी में आ जाता है।**'' स्वयं अनुशासित रहना और दूसरों को अनुशासन में रखना—ये गुरुदेव के जन्मजात गुण थे। मुनि जीवन में अध्यापन का दायित्व स्वीकार करने से पूर्व उन्होंने कालूगणी से निवेदन किया—''नियंत्रण के बिना बाल साधुओं को पढ़ाना संभव नहीं है।'' मुनि तुलसी की प्रार्थना पर कालूगणी ने सहर्ष अनुज्ञा देते हुए कहा—''तुम इन पर नियंत्रण रखो और पढ़ाओ। इनका बैठना, उठना, सोना, जागना, पढ़ना, लिखना आदि सब काम तुम्हारे निर्देशन में चलें।'' बाल साधु के मन में अपने किशोरवय वाले अध्यापक मुनि तुलसी के प्रति भय मिश्रित आदर था क्योंकि वे वात्सल्य देते हुए भी अनुशासनात्मक भय बनाए रखते थे। बाल साधु जब आपस में बातें करते तो सीढ़ियों में चौकीदारी के लिए एक साधु को बिठा देते थे, जिससे मुनि तुलसी के आगमन का पता चलते ही सब गंभीर मुद्रा में अध्ययन करने बैठ जाते थे।

अनुशासन को आत्मसात् कराने के लिए 'पंचसूत्रम्' के 'अनुशास्ति सूत्रम्' में उन्होंने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि सभी साधु ऊर्ध्वलक्ष्य को लेकर दीक्षित हुए हैं, आत्मानुशासन उनका लक्ष्य है फिर उन पर किसी दूसरे के अनुशासन की आवश्यकता क्यों है ? इस प्रश्न को स्वयं ही समाहित करते हुए गुरुदेव तुलसी कहते हैं—''प्रत्येक मुमुक्षु का लक्ष्य आत्मानुशासन का विकास करना है लेकिन सबका विवेक और चिन्तन समान नहीं होता अत:

साधना की प्रथम भूमिका में आत्मानुशासन सिद्ध नहीं होता।''[१] इस संदर्भ में एक बार अध्यापन के दौरान पूज्य गुरुदेव ने एक घटना प्रसंग का उल्लेख भी किया, जिसे प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा। एक बार वरतन्तु ने अपने गुरु सुमेध से पूछा—''विद्याध्ययन का मूल लक्ष्य बौद्धिक उत्कर्ष को प्राप्त करना है फिर उसमें अनुशासन की क्या आवश्यकता है?'' आचार्य ने कहा—''इसका उत्तर आज नहीं, समय आने पर दिया जाएगा।'' कुछ दिनों बाद वरतन्तु गुरु के साथ गंगा नदी के तट पर गया। गुरु ने शिष्य से पूछा—''यदि नदी के दोनों किनारे न हों तो क्या होगा?'' शिष्य ने कहा—''सारी जलराशि बिखर जाएगी। उसका कोई सम्यक् उपयोग नहीं हो सकेगा। कहीं बाढ़ आ जाएगी और कहीं अकाल।'' गुरु ने प्रतिबोध देते हुए कहा—''इसी प्रकार बौद्धिक प्रकर्ष होते हुए भी अनुशासन के अभाव में जीवन-ऊर्जा बिखर जाएगी। शरीर और प्राण निष्प्राण हो जाएंगे अत: अनुशासन विद्याध्ययन को आत्मसात् करने का महान् सूत्र है।''

बिना आत्मनियंत्रण या आत्मानुशासन के कालूगणी जैसे विचक्षण आचार्य उन पर इतना विश्वास करके दायित्व नहीं सौंप सकते थे। इस संदर्भ में मुनि श्री बुद्धमलजी स्वामी का अनुभव पठनीय है—''आप अपने विद्यार्थियों पर कड़ा अनुशासन रखा करते थे। जब आप सामने बैठे रहते तो किसी की हिम्मत नहीं होती थी कि बिना मतलब किसी से बोल भी ले। सब अपना-अपना अध्ययन करते रहते पर यह तभी संभव था जबकि आप स्वयं पर भी उतना ही आत्मनियंत्रण रखते थे। **नवदीक्षित साधु ही नहीं बल्कि बड़े-बड़े साधु भी आपके सामने हंसी-मजाक नहीं कर पाते थे। इतना ही नहीं बल्कि उस अवस्था में भी आप जिधर से गुजरते, उधर हर एक अपने आपको व्यवस्थित करने का प्रयत्न करता। अगर अव्यवस्थित बैठा रहता तो अपने आपको व्यवस्थित कर लेता।**

मुनि तुलसी के अध्यापन-काल का एक प्रसंग उनके इसी वैशिष्ट्य

१. पंचसूत्रम् १/८, ९।

को प्रकट कर रहा है। एक बार मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) एवं मुनि बुद्धमलजी दोनों मुनि उच्चारण-शुद्धि का अभ्यास कर रहे थे। अभिधान चिन्तामणि नाममाला के प्रथम काण्ड में पेढाल: पोट्टिलश्चापि.....पाठ के उच्चारण में दोनों मुनि हंसने लगे। दोनों अपनी हंसी रोक नहीं पा रहे थे। मुनि तुलसी ने उन्हें अपने पास बुलाया और मनोवैज्ञानिक तरीके से समझाते हुए निम्न पद्य सिखाया—

हंसिए नहीं गंवार, हंसिया हलकाई हुवै।
हंसिया दोष अपार, गुण जावै गहलो बजै॥

इस पद्य को सुनते ही दोनों मुनि गंभीरता से अध्ययन करने लगे।

पूज्य गुरुदेव कहते थे—''**अनुशासन मेरे प्रशिक्षण का मुख्य मुद्दा रहा है। जिस किसी ने अनुशासन का अतिक्रमण किया, वह मेरी दृष्टि में शिक्षा के काबिल नहीं है फिर भी मैं इस बात को मानकर चलता हूं कि अनुशासन थोपा हुआ नहीं, भीतर से आना चाहिए।**'' वे विद्यार्थी साधु-साध्वियों को मनोवैज्ञानिक शैली में प्रशिक्षण देते हुए कहते थे—''तुम लोग मनोयोग से नहीं पढ़ोगे तो तुम्हारा जीवन कैसे बनेगा? अध्ययन की दृष्टि से यह समय सबसे अधिक उपयोगी है। अभी तुम मन लगाकर पढ़ोगे तो भविष्य में कुछ बन जाओगे। यह थोड़े समय की परतंत्रता तुम्हें जीवन भर के लिए स्वतंत्र बना देगी। आज ही तुमने स्वतंत्र रहना चाहा तो सदा के लिए किसी न किसी का नियन्त्रण बना रहेगा। विद्यार्थी जीवन में नष्ट किया गया समय जीवन भर के लिए पश्चात्ताप का कारण बनता है अत: अनुशासन को ईमानदारी के साथ जीना सीखो जिससे तुम्हारा जीवन चैतन्य, आनंद और शक्ति से भर जाएगा।''[१] मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) अपने बाल्यकाल में हुए कठोर अनुशासन को याद करते हुए कहते थे—''मुनि तुलसी जो मेरे शिक्षक थे, कंठस्थ न करने पर अक्सर मुझे खड़ा कर देते। किसी से बात नहीं करने देते और कभी-कभी कान भी खींचते। बचपन में मेरे कान स्वभावत: लाल थे तो

१. यात्रा : एक अकिञ्चन की पृ. ६०।

भी मेरे आसपास के मुनि कहते—''आज मुनि तुलसी ने तुम्हारा कान खींचा है।''[१] सोलह वर्षीय अध्यापक से दस वर्षीय विद्यार्थी कान खिंचवा लें, प्रतिक्रिया न करे, यह मुनि तुलसी के उच्च व्यक्तित्व का द्योतक था।

आचार्य तुलसी के अनुशासन का अर्थ था—गलती के प्रादुर्भाव को रोकना और विद्यार्थी को यह अनुभव कराना कि यह अनुशासन उसकी भलाई के लिए है। उनका पितृवत् दण्ड विद्यार्थी को भय और दबाव से मुक्त रखता था। पूज्य गुरुदेव ने एक बार समणीवर्ग को अनुशासन का प्रतिबोध देते हुए कहा—''**हमारा काम है तुम्हें शिक्षित करना, तैयार करना, प्रोत्साहन देना और साथ ही गलती का परिष्कार करना। मैं तो जहां कहीं भी त्रुटि देखता हूं, फौरन संकेत कर देता हूं। बात को आई-गई नहीं करता। यदि उचित समय पर मैं अनुशासन नहीं करूंगा तो तुम लोगों का विकास कैसे होगा?**''

एक बार शिक्षणरत साधु-साध्वियों की अनुशासन संबंधी कोई त्रुटि पूज्य गुरुदेव तक पहुंचीं। गुरुदेव ने तत्काल गोष्ठी बुलाकर सबको प्रतिबोध देते हुए कहा—''उच्छृंखलता के कारण कॉलेज की शिक्षा भारभूत बन रही है। देश के विनोबाजी आदि वरिष्ठ चिंतक सोचते हैं कि कुछ समय के लिए कॉलेजों को बंद कर देना चाहिए। देश के नेता इस विषय में कदम उठाएं या न उठाएं। **मैं कहना चाहता हूं कि शिक्षा के साथ अगर उच्छृंखलता और मर्यादाहीनता पनपी तो मैं अपने अधिकार का पूरा उपयोग कर उसी क्षण शिक्षा को बंद कर सकता हूं। शिक्षा के प्रोत्साहन का मैं प्रबल पक्षपाती हूं, तुम लोगों की ज्ञान-पिपासा की भी कद्र करता हूं पर उसके साथ बाह्य दुर्गुणों की हवा आए, यह मैं सहन नहीं कर सकता। मुझे प्रसन्नता है मेरे विनीत साधु-साध्वियां सलक्ष्य इस ओर ध्यान देंगे।**''[२]

पूज्य गुरुदेव तुलसी अनुशासनहीनता के कारणों की खोज करके उसके समाधान में मनोवैज्ञानिक विधियों का प्रयोग कर हार्दिक अनुशासन

---

१. महाप्रज्ञ ने कहा भाग-१ पृ. २३।

२. जैन भारती, २२ जुलाई १९६२।

स्थापित करते थे। कभी-कभी वे विनोद ही विनोद में अनुशासन का गहरा प्रशिक्षण दे देते थे। एक बार पूज्य गुरुदेव बाल मुनियों को व्याकरण पढ़ा रहे थे। गुरुदेव ने फरमाया— 'लृतुलसा दन्त्या:' अर्थात् लृ, तवर्ग, ल और स—ये सब दन्त्य हैं। एक विद्यार्थी ने निवेदन किया—'तुलसी' शब्द में तीनों व्यंजन दन्त्य हैं अर्थात् दांत से बोले जाते हैं। गुरुदेव ने विनोद करते हुए कहा— ''तुलसी दांत से बोला जाता है, यह ठीक है। पर अनुशासन भंग होने पर दांत खट्टे भी तो कर देता है।'' गुरुदेव की बात सुनकर संतों को स्मृति हो गई कि एक दिन पूर्व ही गुरुदेव ने कहा था कि मैंने आचार्य पद का त्याग किया है, अनुशासन करने का नहीं।

अध्यापक का अनुशासन वाणी की अपेक्षा उसके संयमी जीवन और आंखों से होना चाहिए। कठोर अनुशासन विद्यार्थी की सृजन-चेतना को कुंठित कर देता है। इस संदर्भ में स्वामी विवेकानंद का अभिमत पठनीय है—''मार-मारकर गधे को घोड़ा नहीं बनाया जा सकता वरन् वह उल्टा मर जाएगा अत: शिक्षक को बालक की विशेष रुचि या प्रतिभा को प्रोत्साहित करके उसकी सृजन-चेतना को जगाना चाहिए, जिससे उसमें स्वत: अनुशासन के भाव जाग सकें।''

पूज्य गुरुदेव तुलसी के नयनों में अनुशासन था। उनकी दृष्टि ही करणीय और अकरणीय का बोध करा देती थी। मुनि अवस्था में अध्ययनरत मुनि श्री बुद्धमलजी का अनुभव इस बात की पुष्टि करता है कि बचपन में ही उनमें अनुशासन-कौशल की विशिष्ट क्षमता उजागर हो गई थी—''**हमारा निजी अनुभव है, हम पर जितना अनुशासन आपकी भौंहों का था, उतना आपकी वाणी का नहीं था। आप हमें कम से कम उलाहना देते थे। आपकी संयत प्रवृत्तियां ही हमें संयत रखने के लिए काफी थीं। अनुशासन के साथ आपमें शिक्षा के प्रति अनुराग पैदा करने की अपूर्व क्षमता थी।**''

पूज्य गुरुदेव कहते थे कि जो सफल शिष्य होता है, वही सफल शास्ता बन सकता है। बचपन में जो दूसरों के अनुशासन में नहीं रहता, वह

बड़ा होकर दूसरों पर अनुशासन करने का अधिकारी भी नहीं हो सकता। पूज्य गुरुदेव ने अपने ज्येष्ठ भ्राता मुनि श्री चम्पालालजी का कठोर अनुशासन सहर्ष झेला। जब पूज्य गुरुदेव आचार्य पद पर आसीन हो गए, तब मुनि चम्पालालजी (भाईजी महाराज) अनेक बार कहते—''मेरा मुनि तुलसी के प्रति कठोर अनुशासन था और कठोरता भी जरूरत से ज्यादा थी पर मुझे प्रसन्नता है कि मेरे द्वारा कसौटी कांच के टुकड़े की नहीं, हीरे की हुई।' पूज्य गुरुदेव ने कवि की निम्न पंक्तियों को सार्थक किया—

कांच कथीर अधीर नर, कस्यां न उपजे प्रेम।
कसणी तो धीरां सहै, कै हीरा कै हेम॥

आचार्य तुलसी मानते थे कि विद्यार्थी पर अनुशासन करना भी एक कला है। **उसका शिल्पी यह जानता है कि कब कहा जाए और कब सहा जाए। सर्वत्र कहा ही जाए तो धागा टूट जाता है और सर्वत्र सहा ही जाए तो वह हाथ से छूट जाता है।**'' उसके साथ वे इस सत्य को अंगीकार करके चलते थे कि विद्यार्थी अध्यापक के उच्च चरित्र एवं अनुशासित जीवन के सामने अपने आप झुक जाएंगे अत: वे अपने व्यक्तित्व के प्रभाव एवं उच्च आचरण से विद्यार्थियों पर अनुशासन करते थे, जिससे उनके परिपार्श्व में रहने वाले व्यक्ति में अनुशासन की भावना स्वत: उत्पन्न हो जाती थी। उनके सामने अनुशासनहीनता की समस्या कम आती थी। आचार्य तुलसी विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समणियों में उत्तरदायित्व की भावना भर देते थे, जिससे स्वत: उनके भीतर आत्मानुशासन की सजगता पैदा हो जाती थी।

और तो क्या, विद्यार्थी स्वयं भी शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य को नहीं समझ पा रहे हैं। अन्यथा वे पेट भरने के लिए नहीं पढ़ते, ऐशो-आराम के लिए नहीं पढ़ते। पेट तो पशु-पक्षी और कीड़े-मकोड़े भी भरते हैं। इसमें मानव की क्या विशेषता? ऐशो-आराम विलास बढ़ाता है। वह न स्वयं के लिए लाभदायक है और न औरों के लिए।

आचार्य तुलसी

१२. स्वतंत्रता की अनुभूति

प्रो. ए. एन. व्हाइटहैड का अभिमत है कि स्वतंत्रता और अनुशासन में कोई विरोध नहीं है। दोनों का एक दूसरे से अटूट सम्बन्ध है।''[१] अनुशासनहीन व्यक्ति कभी स्वतंत्रता का आस्वाद नहीं ले सकता। वह जितना स्वतंत्र होने का प्रयत्न करता है, मर्यादा और कानून उसे उतना ही ज्यादा कसते हैं। जो शिक्षा विद्यार्थी के भीतर स्वतंत्र चिंतन और स्वतंत्र निर्णय लेने की चेतना नहीं जगाती, वह अधूरी है। योग्य अध्यापक मनोवैज्ञानिक तरीके से अनुशासन के साथ विद्यार्थी की स्वतंत्र चेतना को जगाता है। भय दिखाकर विद्यार्थियों की प्रवृत्तियों का दमन करने वाला या बलात् विचार थोपने वाला अध्यापक उनके व्यक्तित्व को कुंठित कर देता है, जिससे अध्ययन के प्रति उनका रस और आकर्षण समाप्त हो जाता है। पाश्चात्य विद्वान् ब्राउडी ने लिखा है कि स्वतंत्रता के अभाव में व्यक्तित्व-निर्माण की कल्पना साकार नहीं हो पाती अत: बालकों को अपने विकास के लिए पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए, तभी वे अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों, रुचियों एवं भावनाओं के अनुसार कार्य कर सकेंगे और अपने व्यक्तित्व का उचित रूप में निर्माण कर सकेंगे।'' डॉ. जाकिर हुसैन ने स्पष्ट कहा कि अनुशासन की पगडंडियों से ही शिक्षा स्वाधीनता की सड़क पर पहुंचती है।''

गांधीजी के अभिमत से शिक्षा का अभिप्राय है सर्वांग रूप से स्वतंत्रता के मूल्यों को जीवन में सिद्ध करना।'' यदि अध्यापक विद्यार्थी की स्वतंत्र सोच, अन्वेषक दृष्टि एवं स्वतंत्र निर्णायक शक्ति को जागृत नहीं कर पाता, उसकी रुचि या रुझान को अभिव्यक्त करने का अवसर नहीं देता तो वह विद्यार्थी जीवन में कोई नया सृजन नहीं कर पाता। वर्तमान युग में हर अध्यापक चाहता है कि विद्यार्थी उस पर आश्रित रहे, जिससे ट्यूशन के माध्यम से उसे लाभ होता रहे। इस उपक्रम से विद्यार्थी की स्वतंत्र ज्ञान-चेतना नहीं जाग पाती। गुरुदेव तुलसी विद्यार्थी की सृजन-चेतना और ज्ञान-चेतना जगाकर उसकी

१. The aims of Education p. 42, A. N. Whitehead ।

स्वतंत्र विचार-शक्ति को जागृत करके स्वत: आगे बढ़ने की प्रेरणा देते थे। वे कभी नहीं चाहते थे कि विद्यार्थी सदैव दूसरों पर ही आश्रित रहे। इस चीनी कहावत पर पूज्य गुरुदेव का पूरा विश्वास था कि यदि आपने बच्चे को एक मछली दी तो एक दिन की भूख मिटेगी, यदि तैरना सिखाया तो जीवन भर की आजीविका बन जाएगी।'' इस संदर्भ में एथेंस की पाठशाला का एक प्रसंग उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा। अरस्तू अपने शिष्यों को पढ़ाने के बाद कुछ-न-कुछ अवश्य पूछते तथा उत्तर के आधार पर सूक्ष्मता से निर्णय करते कि किसका उत्तर सर्वाधिक योग्य है ? इससे न केवल विद्यार्थियों की प्रतिभा की परख होती अपितु उनकी स्वतंत्र सोच और व्यक्तित्व में भी निखार होता रहता था। एक बार नियमित अध्ययन के बाद अरस्तू ने पूछा—'तुम लोग जब अपने पूर्वजों की राजगद्दी पर बैठोगे तो क्या करोगे ?' एक राजकुमार ने उत्तर दिया—''मैं हर संकट की स्थिति में गुरु से सलाह लूंगा और उसको क्रियान्वित करूंगा।'' प्राय: शिष्यों ने ऐसे ही उत्तर दिए। सिकंदर ने बद्धाञ्जलि उत्तर दिया—''मैं नहीं कह सकता कि कल क्या होगा ? जब ऐसा अवसर आएगा तो मैं उस समय की परिस्थिति के अनुकूल जबाब दूंगा।'' अरस्तू सिकंदर की स्वतंत्र सोच से अत्यन्त प्रभावित हुए। **कभी-कभी विकट परिस्थितियां इतना भी समय नहीं देतीं कि किसी से सलाह ली जाए अत: अध्यापक का दायित्व है कि वह विद्यार्थी में विवेक और त्वरित निर्णय लेने की क्षमता जागृत करने का प्रयास करे।**

पाश्चात्य विद्वान् स्वतंत्रता को तीन संदर्भों में व्याख्यायित करते हैं—

१. इच्छा की स्वतंत्रता

२. कार्य की स्वतंत्रता

३. निर्णय की स्वतंत्रता।

पूज्य गुरुदेव सापेक्ष रूप से इन तीनों स्वतंत्रताओं का उपयोग करते थे। वे देखते कि अमुक विद्यार्थी साधु-साध्वी अथवा समण-समणी आत्मानुशासन और विवेक से युक्त है तो पूरी स्वतंत्रता प्रदान कर देते थे

अन्यथा जब तक स्वानुशासन या समझ विकसित नहीं होती, तब तक पूरा बाह्य अनुशासन रखते थे। विनोबा के शब्दों में शिक्षा के संदर्भ में स्वतंत्रता और स्वावलम्बन के तीन अर्थ हैं—

* आजीविका के लिए परतंत्रता का अभाव।
* ज्ञान प्राप्त करने की स्वतंत्र शक्ति का जागरण।
* अपने आप पर काबू रखने की शक्ति।

इस संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ का अनुभव पठनीय है—''**पूज्य गुरुदेव तुलसी ने जहां संघ को ऊंचाई दी, वहां मुझे पर्याप्त स्वतंत्रता भी दी। हर कार्य के प्रति उनका यही सुझाव रहता, देखो, मेरी दृष्टि में यह ठीक है फिर तुम जैसा उचित समझो, वैसा करो।**'' इसी स्वतंत्रता का सम्यक् उपयोग करके आचार्य महाप्रज्ञ विराट् व्यक्तित्व के धनी बन गए। देश के एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार ने आचार्य तुलसी को कहा—''मैं आपका भक्त इसलिए हूं कि उन्मुक्त वातावरण देकर आपने हमें एक नया विवेकानंद दिया है।'' निम्न पंक्तियां उनके इसी उदात्त चिन्तन की फलश्रुति हैं—

*'मुझे समाज के नव युवकों के नवनिर्माण की चिन्ता है, न कि उन्हें शिष्य बनाए रखने की। मैं चाहता हूं कि वे स्वयं अपने पैरों पर खड़े हों। मैं नहीं चाहता कि भक्त सदैव भक्त ही बना रहे।'[१]

घटना प्रसंग, प्रयोग या प्रश्नों के माध्यम से भी पूज्य गुरुदेव विद्यार्थी साधु-साध्वी एवं समण-समणीवर्ग की स्वतंत्र सोच को जागृत करते रहते थे। एक बार बाल साधु-साध्वियों की गोष्ठी में पूज्य गुरुदेव ने पूछा—''आप सब लोग यंत्र हैं या स्वतंत्र?'' कुछ समय चिंतन के पश्चात् साधु-साध्वियों ने उत्तर देने का प्रयत्न किया लेकिन गुरुदेव उत्तर से पूर्णतया संतुष्ट नहीं हुए।

पूज्य गुरुदेव ने उनके सामने यंत्र और स्वतंत्र की कसौटी रखते हुए कहा—''स्वतंत्र वह होता है, जो बाहरी परिस्थितियों से प्रभावित होकर हताश या सोल्लास नहीं होता। यंत्र वह होता है, जो थोड़ी सी प्रतिकूलता की स्थिति

१. जैन भारती, ३१/१०/७१ के प्रवचन से उद्धृत।

उत्पन्न होते ही उससे प्रभावित हो जाता है। मैंने तुम लोगों के समक्ष दोनों दृष्टियां प्रस्तुत कर दीं। इन्हें सामने रखकर तुम सब अपना-अपना परीक्षण करो और स्वतंत्र बनने की दिशा में प्रस्थान करो।''

एक बार कार्य करने के प्रसंग में गुरुदेव ने मुझे एक कथा सुनाते हुए कहा—''हमेशा हमारे या दूसरों के सहयोग पर आश्रित मत रहो। स्वतंत्र रूप से अध्ययन एवं कार्य करना सीखो। एक संन्यासी अंधेरी रात में अपने शिष्य के साथ जा रहा था। गुरु के हाथ में दीपक था। उस प्रकाश के आलोक में आगे का पथ प्रशस्त हो रहा था। कुछ दूर चलने पर गुरु ने दीपक बुझा दिया और शिष्य से कहा—''इतनी दूर मैंने तुम्हें पथ दिखा दिया, अब तुम स्वयं अपना पथ खोजो। जब तक तुम स्वयं अकेले नहीं चलोगे, तुम्हें जीवन के नए अनुभव प्राप्त नहीं होंगे। **उस संन्यासी की भांति अध्ययन के क्षेत्र में भी मैं तुम लोगों को थोड़ी दूर रास्ता दिखा सकता हूं। उसके बाद तुम्हें स्वयं आगे बढ़ना होगा क्योंकि जीवन भर मार्गदर्शन देना गुरु का कार्य नहीं है। बुद्ध का अंतिम वचन सदैव याद रखो—'अप्पदीवो भव'**। प्रारम्भ में गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान सहायक बन सकता है, उसके बाद स्वतंत्र रूप से अध्ययन एवं कार्य करने की चेतना जगाना आवश्यक है।'' अध्यापन के दौरान वे साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों को स्वतंत्र और आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा देते हुए कहते थे—

*''सांप से जब तक छेड़छाड़ नहीं की जाती, वह फण नहीं उठाता। अग्नि को जब तक इधर-उधर नहीं किया जाता, वह प्रज्वलित नहीं होती। ठीक यही स्थिति मस्तिष्क की है। जब तक तुम मस्तिष्क को नहीं कुरेदोगे, तब तक केवल पढ़ी-पढ़ाई बातों से ज्ञान नहीं हो सकेगा।''

*'ज्ञान और विज्ञान मुक्तता से आगे बढ़ रहे हैं परंतु धर्म के क्षेत्र में कोई नवीन चीज सामने नहीं आ रही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि धार्मिक लोग यही सोचते हैं कि हमारे धर्मग्रन्थों में जो लिख दिया गया, उसके आगे और कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं है....ऐसी स्थिति में धर्म के क्षेत्र

में प्रगति कैसे हो सकती है ?[१]'

मिस बेल रेनी के अनुसार बालक पर विश्वास करके यदि स्वतंत्रता के साथ उत्तरदायित्व दिया जाए तो धीरे-धीरे उसमें आत्मानुशासन की चेतना जागने लगती है और वह उस स्वतंत्रता का उपयोग उत्तरदायित्व को पूर्ण करने में करने लगता है।''[२] गुरुदेव तुलसी विद्यार्थी साधु-साध्वी या समण-समणी की सृजनात्मक क्षमता को जगाने के लिए उस पर पूर्ण विश्वास करके बड़े से बड़ा उत्तरदायित्व सौंप देते थे। कालान्तर में उनके विश्वास के अनुरूप वह व्यक्ति उस कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेता था।

पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी स्वतंत्रता के साथ उपजी उच्छृंखलता के कट्टर विरोधी थे। जहां भी इस स्थिति का उन्हें ज्ञान होता, वे तत्काल अनुशासनात्मक कार्यवाही कर देते थे। वे कहते थे— 'स्वतंत्रता के साथ अगर उच्छृंखलता या अहंकार पनपता है तो वह मुझे मान्य नहीं है। जहां कहीं भी व्यवहार का अतिक्रमण होता गुरुदेव तत्काल अनुशासनात्मक कार्यवाही करते थे। एक बार गुरुदेव तुलसी साध्वी जिनप्रभाजी आदि साध्वियों का अध्यापन कर रहे थे। उस समय एक विकलांग व्यक्ति ने दर्शन किए। उसके शरीर की स्थिति देखकर प्राय: साध्वियां हंसने लगीं। व्यक्ति के जाने के बाद अनुशासनात्मक प्रतिबोध देते हुए गुरुदेव ने कहा—''शिक्षा के साथ शालीनता का अविनाभाव सम्बन्ध है। तुम लोग उस व्यक्ति के शरीर की विकृत स्थिति देखकर हंसने लगीं। क्या शरीर की बनावट व्यक्ति के अपने हाथों में होती है ? इस प्रकार हंसने से क्या उस व्यक्ति को दु:ख नहीं होगा ? आगे से सभी साध्वियों को जागरूक और गंभीर बनने का अभ्यास करना है।'' अकारण हास्य शिक्षा का बाधक तत्त्व है।

आचार्य तुलसी की दृष्टि में स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं था कि प्राचीन पाठ या प्राचीन मूल्यों को बिना सोचे समझे बदल दिया जाए। प्राचीनता में जहां भी परिवर्तन की अपेक्षा हो, उसे गहन चिंतनपूर्वक बदला जाए।

सरदारशहर का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव हस्तलिखित प्रति से

१. विज्ञप्ति सं १०४।
२. सफल शिक्षण कला, पृ. २८४।

अध्यात्मोपनिषद् पढ़ा रहे थे। प्रति में एक श्लोक कुछ अस्पष्ट सा लगा। एक साधु ने निवेदन किया—''यह श्लोक कुछ अशुद्ध सा लगता है। इसके स्थान पर यदि यह पाठ बदल दिया जाए तो अर्थ लग सकता है।'' पूज्य गुरुदेव ने तत्काल उसका प्रतिकार करते हुए कहा—''पहले इसी पाठ का अर्थ करने का प्रयत्न करो। जो चीज हमारी समझ में न आए, उसे गलत समझकर परिवर्तन कर देना उसके साथ न्याय नही है क्योंकि यह भी संभव है कि हम उसे अच्छी तरह समझ न पाए हों। फिर गहन चिन्तन-मनन के बाद यदि अर्थ न बैठे तो हमें उसे पकड़कर भी नहीं बैठे रहना है।''

इस प्रकार परम्परा के साथ परिवर्तन, प्राचीनता के साथ आधुनिकता और बंधन के साथ स्वतंत्रता—ये विरोधी तत्त्व उनके चिंतन में साथ-साथ चलते थे। विद्यार्थी साधु-साध्वियां एवं समण-समणियां भी उनके व्यक्तित्व के इस पहलू से बहुत प्रभावित थीं।

जब मैं विद्यार्थियों को देखता हूं तो मुझे अपना विद्यार्थी जीवन याद आ जाता है। बचपन में मैं भी इनकी ही तरह स्कूल में पढ़ता था। वह स्कूल एक गुरु की व्यक्तिगत पाठशाला थी। उसमें कक्षाओं के अनुसार शिक्षा नहीं मिलती थी। सब विद्यार्थी एक स्थान पर बैठते थे। गुरुजी पहले दिन पढ़ाया हुआ सुनते और नया पहाड़ा या हिसाब लिखाते थे। सप्ताह में एक बार हमें जीवन का विशेष बोध मिला करता था। मुझे याद है, उस समय के विद्यार्थी बड़े शान्त और श्रद्धाशील हुआ करते थे। मैं भी उनमें से एक था। हमारा ध्यान यही रहता था कि अध्यापक हमसे अप्रसन्न न हो जाएं। स्कूल में ही नहीं, घर पर भी हमें यह ध्यान रहता था कि हमारे अध्यापक हमें कहीं बदमाशी करते देख न लें। उन दिनों हमें पन्द्रह दिनों में केवल एक दिन छुट्टी मिला करती थी। उसमे भी हम कुछ लड़के मिलकर अन्य विद्यार्थियों के घर पर जाते और यह निगरानी रखते थे कि वे कहीं कोई बदमाशी तो नहीं करते हैं। हम उनका घरेलू जीवन देखते और फिर उसकी रिपोर्ट अध्यापक को दिया करते थे। स्कूल में भी हम प्रतिदिन प्रत्येक लड़के के अपराध लिखा करते थे और शाम के समय उसकी पूरी रिर्पोट अध्यापक के सामने पेश करते थे। अध्यापक उसी के हिसाब से लड़कों को दण्ड दिया करते। आज मैं जब भी विद्यार्थियों को देखता हूं तो वे सारी बातें याद हो आती हैं। उस अनुभूति से ही मुझे बड़ा आनन्द मिलता है।

आचार्य तुलसी : शिक्षा को बनाएं..... पृ. १६८

१३. अध्यापक और विद्यार्थी का संबंध

एडम्स ने सर्वप्रथम उद्घोषणा की—''शिक्षा द्विमुखी[१] प्रक्रिया है। उसके दो ध्रुवों में एक ध्रुव पर शिक्षक तथा दूसरे पर विद्यार्थी है, इन दोनों का समान महत्त्व है।''[२] दोनों के व्यक्तित्व एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। अध्यापक और विद्यार्थी का सम्बन्ध ६३ के अंक के समान है। जहां शिक्षक स्नेहपूर्ण दृष्टि से विद्यार्थी को निखारता है, वहां विद्यार्थी अध्यापक के प्रेरक जीवन को निहार कर नयी-नयी प्रेरणाएं प्राप्त करता रहता है। दोनों के मध्य का घनिष्ठ और आत्मीय सम्बन्ध शिक्षण-प्रक्रिया एवं शिक्षण स्तर को भी प्रभावित करता है। अध्यापक का पवित्र, आत्मीय एवं असीम वात्सल्ययुक्त सम्बन्ध विद्यार्थी में विनयभाव पैदा करता है, जिससे उसे ऊपर के आदेश से सीखने की आवश्यकता नहीं रहती इसीलिए सुकरात ने कहा—''**अध्यापक का बालक के साथ धाय माता जैसा सम्बन्ध होना चाहिए।'' विवेकानंद के अनुसार शिक्षक का बालक के साथ मित्र, सहायक, पथदर्शक, विश्वस्त एवं सलाहकार जैसा सम्बन्ध होना चाहिए। जिससे विद्यार्थी उसके पास स्वावलम्बन, मौलिकता एवं जीवन की समस्याओं का समाधान प्राप्त कर सके।**'' इसके लिए आवश्यक है दोनों का एक दूसरे के प्रति अटूट विश्वास। बात-बात में आवेश करने वाला अध्यापक विद्यार्थी के मन में पूज्य भाव पैदा नहीं कर सकता।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार प्राचीन काल में गुरु शिष्य के प्रति आध्यात्मिक पिता जैसा संबंध रखता था। वह विद्यार्थी के हर अच्छे-बुरे कार्य पर दृष्टि रखता था तथा उसके सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास की चिन्ता करता था।'' वर्तमान में शिक्षण संस्थाओं में गुरु शिष्य का सम्बन्ध अब टीचर और स्टूडेंट का हो गया है। शिक्षक स्वयं को नौकर मानता है और विद्यार्थी पैसे से

---

१. जॉन ड्यूवी शिक्षा को त्रिमुखी प्रक्रिया मानते हैं—शिक्षक, शिक्षार्थी और सामाजिक शक्तियां। (शिक्षा के सिद्धान्त पृ. १०)

२. शिक्षा के सिद्धान्त पृ. ९, पाठक एवं त्यागी।

शिक्षा खरीदता है लेकिन वेतन के आधार पर अधिक से अधिक पीरियड लेकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मानने वाला अध्यापक विद्यार्थी के साथ आत्मीय और जीवन्त सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। भारतीय आदर्श के अनुकूल शिक्षक वेतन की भाषा सें सोचेगा ही नहीं, उसके विचार के केन्द्र में विद्यार्थी के हित के अतिरिक्त कुछ समा सकेगा ही नहीं। जैनेन्द्रजी के अनुसार शिक्षक से विद्यार्थी कुछ वह भी प्राप्त करे जो शिक्षण में नहीं आता, जीवन से आता है और अनायास आता है। विद्यार्थी अनुभव करता है कि ऊपर से कुछ नहीं आ रहा है, बराबर से आ रहा है।.....**मैं मानता हूँ कि आदर्श शिक्षक सचमुच वही है, जो शिक्षक के रूप में स्वयं को अनावश्यक ही नहीं, समाप्त बना ले। अर्थात् बालक को वह अपना साथी, सहायक, अभिभावक एवं संरक्षक जैसा प्रतीत होने लगे।**''[१] पाश्चात्य विचारक थामस फुलर के अनुसार एक अच्छा अध्यापक वह है, जो अपने शिष्यों के स्वभाव का अध्ययन उतनी ही चतुराई से करता है, जितनी होशियारी से वह पुस्तक पढ़ता है।'' प्रकारान्तर से इसी बात को रूसो इन शब्दों में व्यक्त करता है—''बालक एक ऐसी पुस्तक है, जिसे शिक्षक को प्रारंभ से अंत तक पढ़ना पड़ता है।''[२] शिक्षाशास्त्री रायबर्न के अनुसार शिक्षक, बालक और विषय—इन तीनों में संबंध स्थापित होने पर ही शिक्षा पूर्णता को प्राप्त करती है।''[३]

प्रसिद्ध शिक्षाविद् बिग्गी के अनुसार शिक्षक और छात्रों में तीन प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं—(१) एकतंत्रीय (२) हस्तक्षेप रहित (३) प्रजातंत्रीय।

एकतंत्रीय सम्बन्ध में अध्यापक की इच्छा ही सर्वोपरि होती है। इसमें विद्यार्थी की रुचि एवं विचारधारा पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। इस प्रकार के शिक्षण में केवल अध्यापक क्रियाशील रहता है, छात्र निष्क्रिय होता है। इसमें छात्र की रुचि, योग्यता, क्षमता एवं आत्मबल पर ध्यान नहीं दिया

---

१. शिक्षा और संस्कृति पृ. ३३।

२. The child is a book which the teacher has to learn from page to page।

३. सफल शिक्षण कला, पृ. ८।

जाता। अध्यापक केवल अपना प्रभुत्व जमाए रखता है। एकतंत्रीय शिक्षक द्वारा प्रदत्त ज्ञान को विद्यार्थी बिना मन के भय से ग्रहण करता है। हस्तक्षेप रहित सम्बन्ध में अध्यापक छात्र को निर्देशन नहीं देता पर छात्रों द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों का निराकरण करता है। इस सम्बन्ध में छात्र स्वयं निश्चित करते हैं कि उन्हें क्या पढ़ना है ? प्रजातंत्रीय सम्बन्ध में अध्यापक छात्रों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरित करके अधिगम-प्राप्ति में सहायता देता है। प्रजातांत्रिक शिक्षक छात्रों के साथ वाद-विवाद एवं विचारों के आदान-प्रदान में भाग लेता है। वह छात्रों को अपने संदेह-निराकरण हेतु विचार व्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता देता है। अध्यापन में लोकतंत्रीय वातावरण का निर्माण तभी संभव है, जब शिक्षक विद्यार्थियों को अपना स्वजन समझे।

पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री योकम और सिम्पसन के अनुसार अच्छा शिक्षण आदेश के बजाय सुझाव के आधार पर आगे बढ़ता है।''[१] पूज्य गुरुदेव **तुलसी अध्यापक के रूप में विद्यार्थी साधु-साध्वियों के साथ प्रजातंत्रीय सम्बन्ध को बनाए रखते थे, आदेश न देकर सुझाव की भाषा का प्रयोग करते थे, जिससे विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों को उनके साथ तादात्म्य का अनुभव होता रहता था।**

उनके पास अध्ययन करने वाले साधु-साध्वियां एवं समण-समणियां प्रतिक्षण यह अनुभव करते थे कि गुरुदेव का सबसे अधिक स्नेह मुझ पर है। उचित सम्बन्ध के कारण ही वे अध्यापन- काल में उच्च एवं उदात्त आचार-विचार संप्रेषित कर सके। उनका नेतृत्व थोपा हुआ नहीं अपितु हृदय से स्वीकृत होता था। मुनि श्री बुद्धमलजी ने गुरुदेव की जीवनी में लिखा है कि **आपको केवल प्रतिभा ने ही अध्यापक नहीं बनाया, दूसरों को अपनाने की वृत्ति ने इसमें पूरा सहयोग दिया। किशोर अवस्था में भी अपने समकक्ष विद्यार्थियों के साथ उनका सम्बन्ध अभिभावक जैसा था। वे केवल उनके**

१. Good teaching proceeds on the basis of suggestion Rather than dictation (yookam and simpson of cit p. 12।

शैक्षणिक विकास के प्रति ही सचिन्त नहीं रहते अपितु जीवन की हर क्रिया पर उनकी सजग दृष्टि रहती थी।'' वे किशोर वय में भी अपने पास अध्ययन रत विद्यार्थी साधुओं की किस प्रकार संभाल करते थे, यह उनके डायरी के पृष्ठों में पठनीय है—

''कैसे चलना, कैसे खाना, कैसे उत्सर्ग करना, कैसे प्रमार्जन करना, कैसे रजोहरण पकड़ना, कैसे प्रतिलेखन करना, कैसे पछेवड़ी के गांठ देना, कैसे उपकरणों को संभालना, कैसे प्रतिक्रमण करना, कैसे गुरु -वन्दन करना, कैसे 'आलोयणा' लेनी, कैसे गुरु से बात करना, कैसे झोली के गांठ देना, कैसे झोली में पात्री डालना आदि छोटे-छोटे कार्यों की विधि का प्रशिक्षण आवश्यक होता है। मैं अपने पास अध्ययनरत साधुओं की इन सारी बातों का पूरा ध्यान रखता था। साथ ही मैंने विद्यार्थी संतों के सर्वांगीण व्यक्तित्व-विकास हेतु उनकी निगरानी के कुछ बिंदु निर्धारित कर दिए—

* साधु चर्या में सावधानी रहती है या नहीं ?
* समिति गुप्ति में जागरूकता है या नहीं ?
* बातों और नींद में समय का दुरुपयोग तो नहीं होता ?
* गृहस्थों के साथ अधिक सम्पर्क तो नहीं है ?
* हंसी-मजाक में विशेष रस तो नहीं लेते हैं ?
* ज्ञान कंठस्थ करने में मनोयोग रखते हैं या नहीं ?
* सीखे हुए ज्ञान को चितारने की प्रवृत्ति है या नहीं ?''[१]

पूज्य गुरुदेव अपने पास अध्ययनरत साधु साध्वियों की रुचि, आवश्यकता और योग्यता का गहन अध्ययन करते रहते थे, जिससे उनका विद्यार्थी साधु-साध्वियों के साथ आत्मीय एवं अभौतिक संबंध स्थापित हो जाता था।

---

१. मेरा जीवन : भा. १, पृ. १५१, १५२।

१४. विद्यार्थियों के साथ तादात्म्य

जैसे माली का पौधों के साथ गहरा तादात्म्य होता है, वह उनकी देखभाल और बचाव के लिए अहर्निश प्रयत्न करता है, वैसे ही एक अध्यापक विद्यार्थी की सृजनात्मक शक्ति एवं भीतर छिपे दिव्य मूल्यों को तभी प्रकट कर सकता है, जब उसका विद्यार्थी के साथ भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। हॉल और लिण्डजे ने अपनी पुस्तक 'थियोरीज आफ पर्सनलिटी' में तादात्मीकरण की परिभाषा करते हुए लिखा है—''तादात्मीकरण का अर्थ है एक व्यक्ति दूसरे की चारित्रिक विशेषताओं को अंगीकृत करके उन्हें अपने स्वयं के व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग बना लेना।'' एक पाश्चात्य विचारक ने लिखा है—''किसी अध्यापक की महानता का पता लगाना हो तो यह देखना चाहिए कि वह अपने विद्यार्थियों के साथ कैसा व्यवहार करता है तथा उनके साथ कितना तादात्म्य स्थापित कर पाता है।'' **जहां अध्यापक और विद्यार्थी के बीच 'तव मम या यूयं वयं' का भेद रहता है, वहां आत्मीय सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। संदेह, शंका और अविश्वास की स्थिति में आज अध्यापक और विद्यार्थी के बीच वह तादात्म्य संबंध नहीं रहा, जो होना चाहिए इसलिए महाविद्यालय और विश्वविद्यालय से आदर्श व्यक्तित्व तैयार नहीं हो रहे हैं।**

अध्यापन को पेशा या व्यवसाय मानने से विद्यार्थी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। फलत: उसके भीतर मूल्यों और चरित्र का जो विकास होना चाहिए, वह नहीं हो पाता।

गुरुदेव श्री तुलसी ने स्वत्व का विस्तार करके स्वयं को समष्टि रूप बना लिया था इसीलिए स्वार्थ जैसी कोई चीज उनके पास बची ही नहीं थी। उनके इस वैशिष्ट्य से प्रभावित होकर जैनेन्द्रजी ने लिखा—''आप हर किसी को अपना लेते हैं इसलिए जो भी आपके पास आता है, वह आपका हो जाता है। हम लोग जब आपसे बातें करते हैं तो गहरी आत्मीयता की अनुभूति होती

है इसलिए हम आपके लिए और आप हमारे लिए दूर नहीं रहे।'' पूज्य गुरुदेव के अध्यापन के साथ तादात्म्य भाव और तन्मयता को प्रकट करने वाले निम्न संस्मरण अत्यंत प्रेरक, मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी हैं—

* एक बार लाडनूं में गुरुदेव ने संतों से कहा—''तुम लोगों को जो चीजें कंठस्थ हैं, उनका अर्थ मुझसे कर लिया करो।'' संतों ने सहमते हुए निवेदन किया—''इससे आपके स्वाध्याय एवं कार्य में बाधा आएगी।'' गुरुदेव ने फरमाया—''इसमें विघ्न कैसा? अर्थज्ञान कराना भी स्वाध्याय है।'' फिर संस्कृत भाषा में अपनी बात प्रस्तुत करते हुए कहा—''शिष्या उपकृता भवन्ति तत् किं न वरम्'—अर्थात् शिष्य उपकृत होते हैं क्या यह अच्छी बात नहीं है?'' सभी शिष्य गुरुदेव की उदारता पर प्रणत थे।

* कुछ बाल साधु-साध्वियां पूज्य गुरुदेव की सन्निधि में तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रंथ पढ़ती थीं। एक दिन गुरुदेव को तीव्र प्रतिश्याय—जुखाम हो गया। कफ के कारण श्वास लेने में भी कठिनाई होने लगी। संतों ने निवेदन किया—''स्वास्थ्य को देखते हुए आज आचार्यवर अध्यापन का श्रम न करें तो ठीक रहेगा।'' पूज्य गुरुदेव ने कहा—''**चाहे कितनी भी अस्वस्थता हो, क्या बच्चे को स्तनपान कराते समय मां को पीड़ा होती है?'' गुरुदेव की इस वात्सल्यमयी वाणी को सुनकर सभी साधु-साध्वियां गद्गद एवं श्रद्धा प्रणत हो गईं।**

* सन् १९७१ मई मास का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव विद्यार्थी साधु-साध्वियों को आचारांग का अध्यापन कर रहे थे। अध्यापन समाप्त होने पर साधु-साध्वियों ने कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा— ''व्याख्यान से पूर्व यह आपका अतिरिक्त श्रम हो रहा है।'' गुरुदेव ने फरमाया—''आगम-स्वाध्याय एवं उसका वाचन मेरे लिए अत्यन्त रुचि का विषय है। इस कार्य में मुझे सहज आनंद की अनुभूति होती है।'' संतों ने पुनः निवेदन किया—'फिर भी परिश्रम तो होता ही है।' गुरुदेव ने आत्मीय शब्दों में कहा—''**परिश्रम कैसा? भार और परिश्रम की अनुभूति वहां होती है, जहां कोई पराया हो। जहां अपनत्व**

होता है, वहां भार की अनुभूति नहीं हो सकती। साधु-साध्वियां मेरे शरीर के अंग के समान हैं। उनको विकसित करना मेरा स्वयं का कार्य है। उनके लिए मैं कुछ भी करूं, वह मेरे लिए ही है अतः तुम्हें पढ़ाने में मुझे परिश्रम नहीं अपितु आनंद की अनुभूति होती है।''

अपनी बात की पुष्टि कथा के माध्यम से करते हुए गुरुदेव ने कहा—''एक बहिन अपने भाई को कंधे पर उठाकर पहाड़ी पर ले जा रही थी। उसी रास्ते से एक संन्यासी ऊपर चढ़ रहा था। संन्यासी ने पूछा—'क्या तुम्हें कंधों पर भार की अनुभूति नहीं होती?' बहिन ने संन्यासी के प्रश्न पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा—'भार की अनुभूति कैसी? यह तो मेरा भाई है। क्या भाई भी बहिन के लिए भार हो सकता है?' उस लड़की की बात सुनकर संन्यासी के अन्तश्चक्षु खुल गए। वह सोचने लगा कि यह साधारण बहिन अपने स्थूलकाय भाई को कंधों पर बिठाकर ऊपर चढ़ रही है, फिर भी इसे कोई भार की अनुभूति नहीं है। दूसरी ओर मैं हूं, जो स्वेच्छा से स्वीकृत संयम जीवन को भी भार समझ रहा हूं। इस घटना से प्रतिबुद्ध होकर मुनि आत्मरमण में लीन हो गया।'' गुरुदेव की इस भावप्रवण कथा एवं वाणी को सुनकर सभी श्रद्धानत थे। इस घटना को सुनकर विद्यार्थी साधु-साध्वियों का गुरुदेव के प्रति तादात्म्य भाव और अधिक पुष्ट हो गया। किसी प्राप्ति की आकांक्षा से बंधकर पढ़ाने वाला अध्यापक विद्यार्थी के साथ ऐसा तादात्म्य नहीं जोड़ पाता। जैनेन्द्रजी के अनुसार शिक्षा में स्नेह का तंतु और सेतु बहुत मूल्यवान् स्थान रखता है।''[१]

अध्यापन के दौरान जब विद्यार्थी साधु-साध्वी या समण-समणी सही उत्तर देते या अधीत पाठ अच्छी तरह सुना देते तो उनके रोम-रोम से प्रसन्नता टपकने लगती थी। एक दिन पूज्य गुरुदेव संतों का अध्यापन कर रहे थे। प्रसंगवश संतों ने 'कालूयशोविलास' के कई पद्यों का लयपूर्वक संगान

---

१. शिक्षा और संस्कृति पृ. ३३।

किया। उनको सुनकर गुरुदेव ने प्रसन्नता व्यक्त की। संतों ने निवेदन किया—''यह आपके श्रम का ही प्रतिफल है। लाडनूं में आपने रागें धराई थीं, उनमें से कुछ अंश हमने याद कर लिए।'' आचार्यवर ने कहा—''तुम लोगों ने रागें पकड़ लीं और पद्यों को कंठस्थ कर उनसे प्रेरणा लेने का प्रयास किया है, इससे मेरा श्रम सार्थक हो गया। मेरे मन में यह विचार कई बार आता था कि इतने पद्यात्मक व्याख्यान आदि बना तो दिए पर भविष्य में इनका उपयोग कितना होगा? आज तुम लोगों के मुंह से 'कालूयशोविलास' सुनकर निश्चिंतता और प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।''

आचार्य तुलसी का मंतव्य था कि स्वयं को विद्यार्थी मानने वाला ही विद्यार्थियों के हृदय को छू सकता है। स्वयं को विद्यार्थी न मानने वाला विद्यार्थी को पुस्तक भले पढ़ा दे, उनके साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकता और तादात्म्य के अभाव में वह विद्यार्थियों को अपेक्षित ज्ञान देने में असफल रहता है।

शिक्षक का कार्य आंख बंद करके केवल पढ़ाना ही नहीं होता बल्कि समय-समय पर यह भी ज्ञात करना होता है कि उसका शिक्षण छात्रों की अधिगम प्रक्रिया को पुष्ट कर रहा है या नहीं? विद्यार्थी उसका हार्द पकड़ रहा है या नहीं? **तादात्म्य स्थापित करने वाला अध्यापक विद्यार्थी की कमजोरी, गतिरोध एवं विषय को न समझने की असमर्थता का मूल कारण स्वयं को मानता है तथा उसकी समस्याओं को समझकर सही निदान करता है।** अध्यापन के दौरान अपने शिष्य समुदाय के साथ गुरुदेव का इतना तादात्म्य हो जाता था कि उनकी कमियों, त्रुटियों और दोषों के लिए स्वयं को उत्तरदायी मानकर उसे दूर करने के लिए कभी-कभी वे स्वयं प्रायश्चित्त करने को उद्यत हो जाते थे।

सन् १९५६ का प्रसंग है। पश्चिम रात्रि में पूज्य गुरुदेव बाल साधुओं को शान्तसुधारस (भावना) का अध्यापन कर रहे थे। प्रथम श्लोक में 'अम्भोधर' शब्द को देखकर गुरुदेव कुछ क्षण रुके और संतों से इस शब्द की व्युत्पत्ति,

समास तथा अर्थ आदि पूछने लगे। बाल साधु सही रूप से उत्तर नहीं दे पाए तो गुरुदेव ने दीक्षा में उनसे बड़े साधुओं को याद किया। उनके उत्तर में भी एकरूपता नहीं थी। उत्तर सुनकर गुरुदेव को अत्यन्त खिन्नता हुई। गुरुदेव ने फरमाया— 'बड़े साधु तो शायद इसका अर्थ सही-सही बता देंगे फिर भी आज उनकी परीक्षा करनी चाहिए। उन्होंने भी 'अम्भः धरतीति अम्भोधरः' व्युत्पत्ति करके 'श्रितादिभिः' सूत्र से इसकी सिद्धि की।

गुरुदेव ने कहा—'सभी एक सा अर्थ बता रहे हैं, कहीं मैं तो गलती पर नहीं हूँ' लेकिन गुरुदेव को अपने ज्ञान पर पूरा विश्वास था। अपनी आंतरिक वेदना प्रकट करते हुए गुरुदेव बोले—''मुझे तुम लोगों से ऐसी आशा नहीं थी कि तुम्हारा संस्कृत ज्ञान इतना कमजोर है। व्याकरण में ऐसी पोल सचमुच दुःख का विषय है। इस शब्द की व्युत्पत्ति है—अम्भः धारयतीति अम्भोधरः। यह ''सप्तम्युक्तं कृता'' सूत्र से सिद्ध होगा। तुम में से किसी ने भी इस सूत्र पर ध्यान नहीं दिया। **मैं तो ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकता कि इतने सरल और छोटे से प्रश्न का उत्तर तुम सभी लोग गलत दोगे। संस्कृत व्याकरण में विकास के स्थान पर ह्रास क्यों हो रहा है? यदि यही क्रम रहा तो भविष्य में मेरा संस्कृत-विकास का सपना कैसे पूरा होगा?'' आत्मालोचन करते हुए गुरुदेव ने अपनी बात को जारी रखते हुए कहा—''इसमें दोष तुम्हारा नहीं, मेरा है। अवश्य ही मेरे अध्यापन या प्रेरणा देने में कहीं कोई कमी रही है, तभी ऐसी स्थिति बनी है। मुझे दोषारोपण नहीं अपितु आत्मशोधन करना चाहिए। इस बात का प्रायश्चित्त करने के लिए मैं एक उपवास करूंगा।''**

आचार्य प्रवर की वेदना-मिश्रित तेजस्वी वाणी को सुनकर सभी संत अवाक् रह गए। सभी संतों ने एक स्वर में निवेदन किया— ''हमारी कमजोरी है कि हम गहरा ज्ञान नहीं कर पाए पर इस बात के लिए आप उपवास क्यों करें? आज हमें सक्रिय बोधपाठ मिला है भविष्य में हम अपनी कमजोरी सुधारने का भरसक प्रयत्न करेंगे।'' संतों के अत्यधिक निवेदन करने पर भी

गुरुदेव अपने निर्णय पर दृढ़ रहे। स्वयं उपवास करके उन्होंने संतों में संस्कृत के गहन अध्ययन की तीव्र उत्कंठा जागृत कर दी।

विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समणियों के स्वास्थ्य के प्रति भी पूज्य गुरुदेव पूर्ण जागरूक रहते थे। अस्वास्थ्य के समय उनसे मिलने वाला वात्सल्य विद्यार्थी को आनंद से आप्लावित कर देता था। लाडनूं प्रवास में अशोक मुनि पूज्य गुरुदेव की सन्निधि में बैठे थे। सर्दी न होने पर भी उनका शरीर कांप रहा था। गुरुदेव ने उनसे पूछा—''तुम कांप क्यों रहे हो? इधर मेरे पास आओ।'' गुरुदेव ने उनके मस्तक पर हाथ रखा और नब्ज देखकर कहा—''तुम्हें बुखार है अत: दूसरे कमरे में जाकर विश्राम कर लो।'' मुनि अशोक ने कहा—''मुझे आपके पास बैठना ही अच्छा लगता है।'' गुरुदेव ने वात्सल्यपूर्ण शब्दों में कहा—''**अभी तुम्हें विश्राम की अपेक्षा है। दूर नहीं, पास वाले कमरे में विश्राम कर लो। जब दर्शन करने की इच्छा हो, संतों के साथ कहलवा देना, मैं स्वयं आकर दर्शन दे दूंगा।**'' अशोक मुनि को कभी निवेदन करवाने का अवसर नहीं आया। जब तक वे बीमार रहे, गुरुदेव स्वयं उन्हें प्रतिदिन दर्शन देते, मंगलपाठ सुनाते और पथ्य-औषधि आदि के बारे में जानकारी प्राप्त करते। गुरु के वात्सल्य से भीगा उनका मन अस्वास्थ्य में भी प्रसन्नता की अनुभूति करता रहता था।

गुरुदेव तुलसी के इस तादात्म्यभाव ने अनेक विलक्षण, दृढ़चेता, परिश्रमी और स्वाध्यायी व्यक्तित्वों को तैयार करके उन्हें संघ एवं मानवजाति के लिए उपयोगी बना दिया।

विद्यार्थी जीवन में असफलता के चार कारण हैं—

* दिमाग की चंचलता
* विविध भौतिक आकर्षण
* कर्तव्यनिष्ठा का अभाव
* समय-प्रबंधन में कमी।

आचार्य तुलसी

१५. अध्यापन में तन्मयता

अध्यापन जब अर्थ-प्राप्ति या कोर्स पूरा करने के साथ जुड़ जाता है, तब ज्ञान-दान भी समय-सापेक्ष हो जाता है। स्वार्थवश या प्रसिद्धि के लिए शिक्षण कराने वाला अध्यापक विद्यार्थी के साथ न आत्मीय एवं घनिष्ठ संबंध स्थापित कर सकता है और न ही तन्मयता से अध्यापन कर सकता है। गुरुदेव तुलसी वेतन तथा अध्यापन-कार्य को एक दूसरे के साथ मिलाना उचित नहीं समझते थे। वे कहते थे—''मैं मानता हूं कि विद्या को जीविका के साथ जोड़ना घाटे का सौदा है। विद्या जीवन के लिए है और जीविका जीवन-यापन के लिए। जीविका विद्या का उद्देश्य नहीं, उसका फलित है। जीविका के लिए विद्यार्जन की बात दृष्टिकोण का मिथ्यात्व है। चरित्रहीन एवं अयोग्य व्यक्ति को डिग्री के कारण अतिरिक्त महत्त्व देना नैतिक और चारित्रिक दृष्टि से गलत है।''[१]

पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी निस्पृह और आत्मीयभाव से अध्यापन करते थे। किसी भी प्रतिदान की कामना से मुक्त उनका अध्यापन विद्यार्थी की ज्ञान-चेतना को जगाने में योगभूत था।

एक बार पूज्य गुरुदेव एवं आचार्य महाप्रज्ञ जैन विश्वभारती संस्थान के सभागार में पधारे। उनके साथ अनेक साधु-साध्वियां एवं समणियां भी थीं। पूरा विश्वविद्यालय परिवार अपने मध्य अनुशास्ता को पाकर प्रसन्नता की अनुभूति करने लगा। स्वागत की औपचारिकता के पश्चात् आचार्य महाप्रज्ञ का मंगल उद्‌बोधन हुआ। आचार्यवर ने पुरुषार्थ का सक्रिय प्रशिक्षण देने हेतु पूज्य गुरुदेव का उदाहरण देते हुए कहा—''इस उम्र में भी गुरुदेव सुबह से शाम तक चार-पांच बार साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों के लिए अध्यापन का कार्य करते हैं पर वेतन या किसी प्रतिदान की भावना से नहीं। इसी बीच गुरुदेव ने मंद मुस्कान के साथ फरमाया—''**हम वेतन पर नहीं, चेतन पर**

१. सार्थकता संवाद की पृ. ६०।

आधारित हैं। हमारा सारा कार्य चेतन की परिक्रमा करता है अतः हम हर कार्य को आत्मधर्म समझकर करते हैं, किसी पर अहसान जताने के लिए नहीं।'' निष्काम एवं निस्पृह अनुशास्ता की इस मार्मिक टिप्पणी को सुनते ही सब प्राध्यापक गहरे आत्मचिंतन में डूब गए।

शासन गौरव साध्वीश्री किस्तूरांजी साढ़े नौ वर्ष की अवस्था में गुरुदेव के कर-कमलों से दीक्षित हुईं। एक बार उन्होंने अपना अनुभव बताते हुए कहा—''**आचार्यश्री जब हमको पढ़ाते तो हम सिर एवं गर्दन नीचा किए हुए सुनते रहते। दो घंटे बैठते तो भी मुंह ऊपर नहीं उठाते। पाठ याद नहीं होता तो हम आचार्यश्री के पास पढ़ने नहीं जाते। आचार्यश्री संतों को भेजकर पढ़ने वाली साध्वियों को बुलाते। हम डरते-डरते आचार्यश्री के पास जाते। गुरुदेव वात्सल्य उंडेलते हुए कहते—''देखो, हम तुम्हारे विकास के लिए शिक्षा की बात कह रहे हैं। अभी तुम्हें पढ़ना कठिन लगता है लेकिन भविष्य में तुम लोग हमें याद करोगी।**'' साध्वी किस्तूरांजी ने उस समय की स्मृतियों में डूबते हुए कहा—''गुरु के प्रति अध्ययन के समय शिष्य का क्या कर्तव्य होता है, यह भी हम नहीं जानती थीं। गंगापुर में एक दुकान में गुरुदेव ने सतियों को अन्दर बिठाकर कंठस्थ करने को कहा और स्वयं बाहर श्रावकों की संभाल करने लगे। उस समय साध्वी श्री सोनांजी बोलीं—''पहले दिन ही साध्वियों को अंदर बिठा दिया। ये नए आचार्य अब आगे क्या करेंगे?'' लेकिन धीरे-धीरे सभी साध्वियों को अध्ययन में रस आने लगा।''

अध्यापक की तन्मयता और दत्तचित्तता विद्यार्थी को आकृष्ट करती है। गुरुदेव तुलसी केवल शब्दों से ही नहीं पढ़ाते, प्रत्येक अंग से उनका प्रशिक्षण चलता था। एक बालक को नमस्कार महामंत्र सिखाने में भी वे इतने तन्मय हो जाते, जितने एक विद्वान् को दर्शन का सूक्ष्म रहस्य समझाने में।

जब कभी पूज्य गुरुदेव को अनुभव होता कि अमुक बाल संत का कंठस्थ करने या अध्ययन में मन नहीं लग रहा है तो वे अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों

को छोड़कर उसके साथ कंठस्थ करने या अध्यापन में तन्मय हो जाते थे। मुनि अवस्था के तो ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब बाल संतों को नाममाला आदि कंठस्थ कराने में उन्होंने घंटों का समय नियोजित कर दिया। आचार्य बनने के बाद भी उनकी यह विशेषता समय-समय पर प्रकट होती रहती थी।

मंत्री मुनि श्री सुमेरमलजी (लाडनूं) बालवय में दीक्षित हुए। एक बार पूज्य गुरुदेव उदासर में विराज रहे थे। बाल मुनि गुरुदेव की सन्निधि में बैठे थे। उनको खाली बैठे देख गुरुदेव ने पूछा—''खाली क्यों बैठे हो?'' बाल मुनि ने सहजता से उत्तर दिया—''मुझे दशवैकालिक का चौथा अध्ययन सीखना है पर आज सीखने में मन नहीं लग रहा है।''

गुरुदेव ने मुस्कराते हुए कहा—''**इधर आ, मैं तेरा मन लगा देता हूं।**'' **पूज्य गुरुदेव बाल साधु के साथ दशवैकालिक का पाठ रटने लगे। बाल मुनि ने उत्साह के साथ कुछ समय में १८ पद्य याद कर लिए। अध्यापन में यह तन्मयता और निःस्वार्थ भावना किसी विरल महापुरुष के व्यक्तित्व में ही प्रकट होती है।**

विद्या-प्राप्ति के साथ विनय का गहरा सम्बन्ध है। विद्यार्थी जितना विनम्र होगा, उसका जीवन उतना ही विशिष्ट होगा। विनीत ही विद्या-प्राप्ति का सही पात्र है, अविनीत नहीं। नरम या पोली जमीन पर बरसात की तरी/नमी बैठती है और आगे चलकर उससे अनाज पैदा होता है लेकिन पथरीली जमीन पर बरसात काम नहीं करती। विनीत के जीवन में विद्या बरसात की तरह घुल जाती है। सजलता और सरसता रखती है। वहां बोया गया बीज मीठा-मीठा फल देता है। वह बढ़ता है, फलता-फूलता है और शतशाखी बनता है। विनयपूर्वक ली गई विद्या पनपती है, फलती-फूलती है। विद्यादाता गुरु की भक्ति और आदरपूर्वक ग्रहण की जाने वाली विद्या शीघ्र असरकारी होती है।

शिक्षा को बनाएं..... पृ. ३५, आचार्य तुलसी

१६. अध्यापन में नियमितता

प्राचीन काल में अध्यापन नियमित चलता था। न अध्यापक अवकाश की बात सोचता था और न ही विद्यार्थी। इस संदर्भ में आचार्य विनोबाभावे के क्रांतिकारी विचार पठनीय ही नहीं, मननीय भी हैं—''हिन्दुस्तान में हजारों वर्षों से अध्ययन-अध्यापन चला आ रहा है पर पाठशालाओं में लम्बी छुट्टी देने की योजना किसी को नहीं सूझी। त्यौंहारों और रविवार की छुट्टियों के सिवा गर्मी की लम्बी छुट्टियां इस देश में अंग्रेजों की देन है।''[१] सामान्य अध्यापक एक सीमाबद्ध काल में अध्यापन करता है। समय-समय पर वह विश्राम या अवकाश लेने का प्रयत्न करता रहता है लेकिन गुरुदेव तुलसी को न रविवार से मतलब था और न ही किसी अन्य ग्रीष्म अवकाश आदि से। गांव-शहर, एकांत या भीड़ उनके अध्यापन कार्य में बाधक नहीं बनती थी। लाडनूं के अंतिम प्रवास के दौरान पूज्य गुरुदेव ने एक दिन कहा—'यद्यपि शरीर विश्राम चाहता है पर इसे व्यामोह ही कहना चाहिए कि मेरे मन में हरदम इन बाल साधुओं के अध्ययन और व्यक्तित्व-निर्माण की तड़प रहती है। मन करता है कि इनको जितना दे सकूं, उतना ही कम है। शासन गौरव मुनि मधुकरजी स्वामी ने निवेदन किया—'यह आपका व्यामोह नहीं अपितु करुणा और शिष्य के निर्माण की तड़प है। पूज्य गुरुदेव ने फरमाया—''कुछ भी कह दो। तड़प, करुणा, वात्सल्य, धुन या व्यामोह पर है जरूर। जब ये साधु अपने भरे-पूरे परिवार को छोड़कर आते हैं तो सहज ही मेरा मन हो जाता है कि इन्हें अच्छी शिक्षा दी जाए, जिससे इनके भव्य व्यक्तित्व का निर्माण हो सके। **अस्वास्थ्य की स्थिति में जब कभी श्वास भारी होता है, उस समय मैं अध्यापन में लग जाता हूं तो श्वास ठीक हो जाता है। ध्यान-स्वाध्याय से भी मुझे अध्यापन अधिक प्रिय है क्योंकि इससे ज्ञान-विज्ञान की खिड़कियां खुलती रहती हैं और प्रमाद या अवसाद को पास आने का मौका नहीं**

१. शिक्षा विचार पृ. ८१।

मिलता। शैक्ष साधुओं के जीवन को सार्थक और सफल बनाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।'' निर्माण की ऐसी तड़प यदि समाज के हर अध्यापक में जग जाए तो राष्ट्र का कायाकल्प हो सकता है।

सुदूर यात्राओं के दौरान प्रतिदिन १५ से १७ किलोमीटर पैदल विहार करने के बाद भी उनका अध्यापन-कार्य अनवरत चलता था। न कभी चिलचिलाती धूप और प्रचण्ड लूएं बाधक बनती थीं और न ही कड़कड़ाती सर्दी। इस संदर्भ में पूज्य गुरुदेव के लिए कालूगणी आदर्श रूप थे। आचार्य कालूगणी मुनि तुलसी को सिद्धान्त चन्द्रिका का अध्यापन करते थे। एक बार चतुर्दशी के दिन मुनि तुलसी ने निवेदन किया—''आज चतुर्दशी है निसीतिया मुखपत्ती आदि धोने हैं अत: आज अवकाश रखा जाए।'' कालूगणी ने फरमाया—''अपने यहां अवकाश का क्या काम? दिन भर समय है, उस समय कार्य करो पढ़ने के समय पढ़ाई करो। धोना तो बाद में हो जाएगा।'' उस समय की अपनी मन:स्थिति का चित्रण करते हुए गुरुदेव तुलसी कहते हैं—''हमारे पास समय नहीं था, यह बात नहीं थी पर हम पढ़ने से जी चुराते थे इसलिए छुट्टी पाने का बहाना खोजते रहते थे किन्तु गुरुदेव ने हमको बिना विशेष अपेक्षा के कभी अवकाश नहीं दिया। उस दिन के बाद हमने भी कभी छुट्टी के लिए प्रार्थना नहीं की। एक बार जो बोधपाठ मिल गया, उसके प्रति हम पूरी तरह से सजग थे।.....पढ़ाई से अवकाश पाने की हमारी सुचिन्तित योजना सफल नहीं हो पाई। इस घटना को मैं कभी स्मृति से ओझल नहीं कर पाया।''[१] आचार्य तुलसी जीवन भर कालूगणी के इस आदर्श को स्वयं मूर्तिमान् करते रहे। यही कारण है कि कभी बाल साधु या साध्वी न पढ़ने का बहाना प्रस्तुत करते तो गुरुदेव उनकी मानसिकता में भारी परिवर्तन कर देते थे। निम्न घटना-प्रसंग इसके सजीव निदर्शन हैं—

पूज्य गुरुदेव शिशुपालवध काव्य का अध्यापन कर रहे थे। अप्रैल के महीने में भी धूप अत्यन्त तेज थी। साध्वियां ढ़ाई फर्लांग दूर एक धर्मशाला में

१. मेरा जीवन : भाग १ पृ. १४५।

ठहरी हुई थीं। आहार के पश्चात् एक शैक्ष साधु ने पूछा—''क्या आज अध्ययन चलेगा ?'' पूज्य गुरुदेव समझ गए कि धूप की तीव्रता के कारण यह प्रश्न पूछा जा रहा है। गुरुदेव ने संस्कृत सूक्ति के माध्यम से व्यंजना-शक्ति में उत्तर देते हुए कहा—''मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दु:खं न च सुखम्'' अर्थात् मनस्वी और कार्यार्थी मनुष्य कभी सर्दी-गर्मी नहीं देखते, वे अपने कार्य में मग्न रहते हैं। निश्चित समय पर साध्वियां अध्ययन हेतु पहुंच गईं। उन्हें प्रोत्साहित करते हुए उस शैक्ष साधु की ओर इंगित करते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''साध्वियां कह सकती थीं कि आज धूप और दूरी के कारण आने में कठिनाई है पर इनके मन में दूसरा विकल्प ही पैदा नहीं हुआ। ऐसी लगन से ही अध्ययन संभव है।'' पूज्य गुरुदेव की यह सामयिक प्रेरणा सबको नया प्रतिबोध दे गई।

मारवाड़ की यात्रा में एक बार लम्बे विहार में साध्वियां थक गयीं। उन्होंने गुरुदेव को विश्राम के लिए निवेदन किया। गुरुदेव ने मुस्कराते हुए फरमाया—''**पढ़ाना विश्राम नहीं है क्या ? लगता है तुम लोग थक गई हो। किसी भी परिस्थिति में पढ़ाना मुझे भारी लगता ही नहीं, मैं अध्यापन को विश्राम ही मानता हूं।**''

सुबह-शाम या दोपहर जब भी गुरुदेव के पास समय होता, बाल साधु यदि सामने बैठे होते तो उनके प्रशिक्षण का कार्य प्रारंभ हो जाता था। अध्यापन के लिए वे किसी काल-सीमा के साथ बंधे हुए नहीं थे। लाडनूं का प्रसंग है। रात्रि के नौ बज रहे थे। पूज्य गुरुदेव भिक्षु विहार के उत्तरी बरामदे में विराज रहे थे। आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे। गुरुदेव ने संतों से पूछा—'क्या सत्ताईस नक्षत्रों के नाम जानते हो ?' संतो ने कहा—''नाममाला के आधार पर नामों को जानते हैं।'' नाममाला के आधार पर विद्यार्थी संत सारे नक्षत्रों के नामों की गणना करने में सफल नहीं हो सके। गुरुदेव ने फरमाया—'मैंने मुनि अवस्था में सत्ताईस नक्षत्रों को राजस्थानी भाषा में तीन पद्यों में लिखा था। बाल मुनि आलोककुमारजी ने पार्श्वस्थित संत से पूछा—''क्या आपके पास लिखे

हुए हैं।'' गुरुदेव ने स्वरयंत्र पर अंगुलि को रखते हुए कहा—'हां, यहां लिखे हुए हैं। लो याद करो—

अश्विनी भरणी कृतिका, फुन रोहिणी अरु मृगशिरा।
आर्द्रा पुनर्वसु पुष्य, अश्लेषा मघा फाल्गुनी पुरा।
उत्तराफाल्गुनि हस्त, चित्रा स्वाति सुविशाखा सही।
अनुराधा ज्येष्ठा मूल, पूर्वा उत्तराषाढा वही॥
श्रवण घनिष्ठा शतभिषा, पूर्वोत्तर पद भाद।
रेवति ए नक्षत्र सहु, सप्तवीस कर याद॥

गुरुदेव ने फरमाया—''ये पद्य मैंने मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) को याद कराने के लिए बनाए थे।'' गुरुदेव की सिखाने की तड़प और स्मरणशक्ति की विलक्षणता को देखकर सभी संत विस्मय-विमुग्ध हो गए।

मर्यादा महोत्सव के अवसर पर एक बार गुरुदेव तुलसी लगभग पचास साध्वियों को दशवैकालिक सूत्र का सटीक अध्ययन करवा रहे थे। राजस्थान विधानसभा के पूर्व उपाध्यक्ष आचार्य निरंजननाथजी ने जब गुरुदेव को अध्यापन कार्य में निरत देखा तो वे प्रसन्नता व्यक्त करते हुए बोले—''अध्यापन में आपकी तन्मयता देखकर मेरे मन में भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के प्रशिक्षण की ऐतिहासिक स्मृतियां सजीव हो रही हैं। यदि आज के प्राध्यापकों के अध्यापन में इतनी तन्मयता आ जाए तो भारत फिर से विश्वगुरु बन सकता है।''

विद्यार्थी को प्रारंभ से ही संयम का जीवन जीने का संस्कार दिया जाएगा तो उसी दिन विद्या के द्वारा दुःख-मुक्ति का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकेगा।

आचार्य तुलसी

१७. एकाग्रता का प्रतिबोध

शिक्षण के क्षेत्र में सफलता का प्रथम मापदण्ड है—एकाग्रता की शक्ति। बिना एकाग्रता के ज्ञान को स्थायित्व नहीं दिया जा सकता है। उस स्थिति में कार्य की निष्पत्ति कम तथा ऊर्जा का व्यय अधिक होता है। **यदि बैलगाड़ी के दोनों ओर बैल जोतकर उसे दो विपरीत दिशाओं में चलाने का प्रयत्न किया जाए तो बैलगाड़ी किसी भी दिशा में गति नहीं कर सकती। उसी प्रकार चंचल चित्त वाला विद्यार्थी न ज्ञान के क्षेत्र में विकास कर सकता है और न ही शक्तिसम्पन्न बना रह सकता है अतः शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है—चित्त की घनीभूत एकाग्रता की उपलब्धि।**'' जिस प्रकार केन्द्रित सूर्य-किरणों से ऊर्जा उत्पन्न होती है। हवा गुब्बारे को आकाश की ऊंचाई में ले जाती है, उसी प्रकार केन्द्रित चित्त ही शक्ति का स्रोत होता है। एकाग्रता ही मनुष्य और पशु में भेदरेखा खींचने वाली महान् शक्ति है। संकल्प शक्ति और स्थिरता से एकाग्रता का विकास होता है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में—''यदि तुम्हारी चंचलता कम है तो समस्या छोटी है और यदि तुम्हारी चंचलता अधिक है तो समस्या बड़ी है।'' एकाग्रता के अभाव में विद्यार्थी अपनी जीवन-शैली को भी व्यवस्थित नहीं बना सकता।

ऋग्वेद का निम्न सूक्त इसी सत्य की संपुष्टि करता है—**अन्यस्य चित्तमभिसंचरेण्यमुताधीत विनश्यति**—जिन व्यक्तियों का चित्त चंचल है, वे अच्छी तरह से अधीत किए हुए ज्ञान को भी भूल जाते हैं।'' आंखें किताबों पर टिकी रहने पर भी एकाग्रता के अभाव में ज्ञान ऊपर से निकल जाता है, उसका अधिगम नहीं हो पाता। भगवान् महावीर ने शिक्षा का मूल उद्देश्य यही बताया है कि ''**एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ**[१]'' अर्थात् मैं एकाग्र चित्त बनूंगा इसलिए मुझे अध्ययन करना है।

स्वामी विवेकानंद के शब्दों में एकाग्रता की शक्ति ही ज्ञान के खजाने

---

१. दश ९/४/५।

की एकमात्र कुंजी है। एकाग्रता की शक्ति जितनी अधिक होगी, ज्ञान की प्राप्ति भी उतनी ही अधिक होगी। जब कभी मैं व्यर्थ की सब चिंताओं को छोड़कर ज्ञान-लाभ के उद्देश्य से मन को किसी एक विषय पर स्थिर करने का प्रयत्न करता हूं, त्योंहि मस्तिष्क में सहस्त्रों अवांछित भावनाएं दौड़ आती हैं, हजारों चिंताएं मन में एक साथ उसको चंचल कर देती हैं अत: मैं तो मन की एकाग्रता को ही शिक्षा का यथार्थ सार समझता हूं , ज्ञातव्य विषयों के संग्रह को नहीं। **यदि मुझे एक बार फिर से अपनी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिले तो मैं विषयों का अध्ययन नहीं करूंगा। मैं तो एकाग्रता और मन को विषय से अलग कर लेने की शक्ति को बढ़ाऊंगा, जिससे वह सही तथ्यों का संग्रहण कर सके।**''

पूज्य गुरुदेव विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों को **'एगप्पमुहे विदिसप्पइण्णे'** महावीर की इस आर्षवाणी द्वारा एक दिशा में एकाग्र रहने की प्रेरणा देते रहते थे। वे कहते थे कि जिस समय जो पढ़ें, उसी में तच्चित्त और तन्मय हो जाना सफलता की कुंजी है। अतीत, भविष्य या वर्तमान के अनेक विषयों एवं पदार्थ-प्रतिबद्धता की खूंटी पर टंगा हुआ मन किसी भी विषय में एकाग्र नहीं हो सकता और न ही किसी कार्य की सफलतापूर्वक संपूर्ति कर पाता है।'' फ्रांस के एक वैज्ञानिक ने विज्ञान विषयक ९०० लेख लिखे लेकिन एकाग्रता के अभाव में एक भी लेख पूरा नहीं किया। यदि वह कुछ लेखों को भी पूरा कर देता तो वह दुनिया का सबसे बड़ा वैज्ञानिक होता।

पूज्य गुरुदेव एकाग्रता को ज्ञान-प्राप्ति और सफलता का अमोघ मंत्र मानते थे। एक बार अध्यापन के दौरान एकाग्रता की प्रेरणा देते हुए उन्होंने कबीर के जीवन का घटना प्रसंग सुनाते हुए कहा—''एक बार कबीर एकाग्र होकर प्रार्थना कर रहे थे। उस समय कुछ बच्चे खेलते-खेलते उनके पास पहुंच गए। उन्होंने वातावरण को कोलाहलमय बना दिया। कबीर के साथ उनका शिष्य भी प्रार्थना कर रहा था। कबीर ने पूछा—''क्या प्रार्थना कर

ली ?'' शिष्य बोला—''इतने कोलाहल में प्रार्थना कैसे संभव थी ?'' कबीर ने प्रतिबोध देते हुए कहा—''जब तक तुम्हारा मन चंचल रहेगा, कोलाहल सुनाई देता रहेगा, तब तक प्रार्थना नहीं हो सकती। बाह्य चंचलता को दूर करके ही तुम भीतर के जगत् में प्रवेश पा सकते हो।'' कथा के उपसंहार में प्रेरणा देते हुए गुरुदेव तुलसी ने कहा—''कबीर के शिष्य की भांति तुम लोगों को भी गहन अध्ययन के लिए एकाग्र बनना होगा। अवधिज्ञानी भी बिना अवधान—एकाग्रता के अपने ज्ञान का उपयोग नहीं कर सकता फिर तुम लोग तो मति श्रुत ज्ञान के धारक हो अत: सफलता हेतु एकाग्रता अत्यन्त अनिवार्य तत्त्व है।''

गुरुदेव तुलसी प्रकृति के माध्यम से भी साधु-साध्वी एवं समणीवर्ग को एकाग्रता का प्रतिबोध देते रहते थे। एक बार पूज्य गुरुदेव विनीत-अविनीत की चौपाई का अध्यापन कर रहे थे। सहसा कमरे में कुछ चिड़ियों ने चहचहाना प्रारंभ कर दिया। उनकी तीव्र आवाज ने सभी साधु-साध्वियों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट कर दिया। विद्यार्थी साधु-साध्वियों के मानसिक चापल्य को लक्ष्य कर गुरुदेव ने प्रेरणा देते हुए कहा—''**देखो, ये चिड़िया अपने गाने में मस्त हैं। इन्हें पता नहीं कि नीचे कौन बैठे हैं और क्यों बैठे हैं ? विकसित प्राणी होने पर भी तुम लोगों ने अपने ध्यान को अध्ययन से हटाकर चिड़ियों में लगा दिया। इन पक्षियों से प्रेरणा लेकर बाह्य विक्षेप से चित्त को हटाकर करणीय कार्य में मन को एकाग्र करना चाहिए।**''

इसी प्रकार सुधर्मा सभा में कबूतरों ने स्थान-स्थान पर घोसले बनाने प्रारंभ कर दिए। प्रवचन, आसन, ध्यान, जप के समय भी वे घोसला बनाने के कार्य में तल्लीन रहते थे। गुरुदेव ने एक दिन विद्यार्थी साधु-साध्वियों को एकाग्रता का प्रतिबोध देते हुए कहा—''चाहे कोई भी कार्यक्रम चलता हो पर ये कबूतर तो अपना घोसला बनाने में ही मस्त रहते हैं। इन्हें किसी से कोई लेना-देना नहीं। इसी प्रकार तुम लोगों को भी अपने अध्ययन में मस्त एवं व्यस्त रहना चाहिए। आसपास क्या होता है ? इससे प्रभावित होकर चित्त को चञ्चल नहीं करना चाहिए।''

कभी-कभी जीवन्त व्यक्तित्व के जीवन-प्रसंग से भी वे एकाग्रता की प्रेरणा देते थे। बाल साधुओं की चञ्चलता को देखकर एक बार अध्यापन के दौरान पूज्य गुरुदेव ने विनोबाभावे के भाई श्रीशिवाजी भावे का उदाहरण बताते हुए कहा—''शिवाजी भावे हमें धूलिया (महाराष्ट्र) में मिले। वे हमारे पास लगभग एक घंटे बैठे रहे लेकिन उनकी दृष्टि केवल मेरे चेहरे पर टिकी हुई थी। वार्ता के समय हमारे पास उस समय अनेक साधु बैठे थे। दूसरे दिन उन्होंने पूछा—''आचार्यजी! कल जब मैं आपके पास बैठा था, तब और व्यक्ति भी उपस्थित थे क्या?' मैंने जब उन्हें बताया कि अनेक साधु और कुछ भाई भी बैठे थे तो यह बात सुनकर उन्हें अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—'आचार्यजी! मैंने तो केवल आपको ही देखा था।' शिवाजी भावे की बात को सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ।'' प्रसंग का उपसंहार करते हुए गुरुदेव ने प्रतिबोध देते हुए कहा—''**तुम लोगों को भी अध्ययन के क्षेत्र में ऐसी ही एकाग्रता साधनी है। अर्जुन की भांति अपने लक्ष्य के प्रति एकाग्रता होगी तो तुम लोग हर क्षेत्र में सफलता हासिल कर सकोगे।**''

एक बार साधु-साध्वियों की गोष्ठी में भी एकाग्रता का जीवन्त-प्रशिक्षण देने हेतु गुरुदेव ने कविरत्न पंडित रघुनंदनजी का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा—''पंडितजी अपनी धुन में रमण करने वाले स्थिरयोगी थे। एक बार वे राजलदेसर आए। वहां ऊपर जाने के लिए दो तरफ सीढ़ियां थीं। कई महीनों तक पंडितजी एक तरफ की सीढ़ियों से आते-जाते रहे। एक दिन भीड़ के कारण काफी समय तक वे नीचे इंतजार करते रहे। जब उन्हें दूसरे रास्ते की बात कही तो उन्होंने सहजता से उत्तर दिया—''मुझे पता नहीं कि ऊपर जाने का दूसरा रास्ता भी है क्या?'' वास्तविकता यह थी कि पंडितजी अनावश्यक इधर-उधर नहीं झांकते थे, जैसे आते वैसे ही अपने रास्ते चले जाते। साधु को भी 'बिलमिव पन्नगभूए' की भांति अपनी साधना में लीन रहना चाहिए। इधर-उधर की बातों में शक्ति का अपव्यय करके एकाग्रता को भंग नहीं करना चाहिए।''

एकाग्रता की जीवन्त और सक्रिय प्रेरणा देने हेतु वे ऐतिहासिक पात्रों के घटना-प्रसंग भी चित्रात्मक शैली में प्रस्तुत करते रहते थे। एक बार अध्यापन के दौरान गुरुदेव ने महाभारत का घटना-प्रसंग सुनाते हुए कहा—'' द्रोणाचार्य ने एक पेड़ की शाखा पर कृत्रिम गरुड़ रखकर उसका निशाना साधने को कहा। सर्वप्रथम युधिष्ठिर उपस्थित हुए। उनसे पूछा गया—''तुम्हें क्या दिखाई देता है?'' युधिष्ठिर ने कहा—''पेड़, शाखा, पक्षी और आप सभी दिखाई दे रहे हैं।'' द्रोणाचार्य ने उन्हें अयोग्य घोषित कर दिया। जब अर्जुन की बारी आई तो उससे भी यही प्रश्न पूछा गया। अर्जुन ने कहा—''मुझे केवल पक्षी का सिर दिखाई देता है और कुछ भी नहीं। द्रोणाचार्य ने प्रसन्न होकर बाण चलाने की अनुमति दे दी। अर्जुन ने बाण चलाया और पक्षी का सिर कटकर नीचे गिर गया। प्रेरणा देते हुए गरुदेव न कहा—''अन्य व्याक्षेपों से चित्त को हटाकर लक्ष्य प्रतिबद्ध होने से ही अध्ययन में सफलता मिल सकती है।

एकाग्रता के संदर्भ में एक विद्वान् का अनुभव अनेक विद्यार्थियों के लिए प्रेरणास्रोत बन सकता है—''जब मैं पांच वर्ष का था, मुझे स्कूल में प्रवेशार्थ साक्षात्कार के लिए भेजा गया। प्रात:काल मुझे उठाकर माता-पिता ने कहा—''बेटे! तुम जा रहे हो तो ध्यान रखना साक्षात्कार में तुम्हें पूर्ण एकाग्र रहना है और सफल होकर घर लौटना है अन्यथा इस घर में तुम्हें आश्रय नहीं मिलेगा। मेरे सुप्त पुरुषार्थ के लिए यह कठिन चुनौती थी। मैंने साहस बटोरा और साक्षात्कार की पंक्ति में पहुंच गया। वहां मुझे कहा गया—**'तुम यहां स्थिर मुद्रा में बैठ जाओ। जब तक हम न कहें, तब तक तुम्हें न हिलना है, न बोलना है, न देखना। मेरे लिए वह जीवन भर की साधना का क्षण था। मुझे लगा भीतर से कुछ जाग रहा है, आत्मविश्वास बढ़ता जा रहा है।** वहां मेरे सामने विविध वाद्यों का बजना शुरू हुआ। नृत्य, नाटक होने लगे, हिंस्र प्राणियों की गर्जना होने लगी पर मैं स्थिरता से बैठा रहा। परीक्षक मेरे पास आए और बोले—''साधुवाद बालक रत्न! तुम परीक्षा में पास हो गए हो।''

विद्यार्थी के साथ तादात्म्य एवं समरसता के संदर्भ में उनकी किशोरवय की पाठशाला के विद्यार्थी रहे आदरणीय मुनिश्री बुद्धमलजी का अनुभव पठनीय है—''जब हमने अभिधान चिंतामणि कोश कंठस्थ करना प्रारंभ किया, तब कुछ दिन तक दो श्लोक कंठस्थ करना भी भारी लगता था क्योंकि संस्कृत के कठिन उच्चारण और नीरस पदों ने हमें उबा दिया था। उन्होंने (मुनि तुलसी ने) हमारी अन्यमनस्कता को भांपा और आगे से प्रतिदिन आधे घंटे तक हमें अपने साथ उसके श्लोक रटाने लगे, साथ ही अर्थ भी कराने लगे। उसका प्रभाव यह पड़ा कि हमारे लिए कठिन पड़ने वाले उच्चारण सहज हो गये, नीरसता में कमी लगने लगी। कुछ ही दिनों के बाद हम उसी नाममाला के छत्तीस-छत्तीस श्लोक कंठस्थ करने लगे। मैं मानता हूँ कि यह उनकी अध्यापन-कुशलता से ही संभव हो सका था अन्यथा हम उस अध्ययन को कभी का छोड़ चुके होते। किस बाल साधु को क्या सीखना है, इस बात के प्रति वे पूर्णतः सतर्क रहते थे।''

अध्यापक यदि अपने पास अध्ययनरत विद्यार्थियों को एकाग्रचित्त नहीं बना सकता तो उसका अध्यापन अधूरा रहता है। अध्यापन के दौरान आचार्य तुलसी के प्रतिबोध ने अनेक विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समणियों को स्थिरचित्त एवं श्रुत-अनुरागी बना दिया।

प्रमादस्यानुभूतिं यो, भवेत् कारयितुं क्षमः।
तादृशं शिक्षकं प्राप्य, शुद्धिमेत्यनुशासितः॥

जो शिक्षक अपने विद्यार्थियों को उनके द्वारा की गई भूलों की सम्यक् अनुभूति करा सके, वैसे शिक्षक को पाकर विद्यार्थियों का सुधार स्वतः हो जाता है।

परिणामं प्रमादस्य, योऽनुभूतिं नयेत् पटुः।
स लोहं गालयित्वैव, सन्धत्तेऽन्येन चायसा॥

जो कुशल शिक्षक अपने शिष्यों को भूल के परिणामों की अनुभूति करा सकता है, वह मानो लोहे को गलाकर उसको दूसरे लोहे से सांधता है।

आचार्य तुलसी, पंचसूत्रम् - ५/६१, ६२

१८. जागरूकता का प्रशिक्षण

जागरूकता सफलता की प्रथम सीढ़ी है। संभावना को सच्चाई में बदलने के लिए अध्यापक को प्रतिक्षण जागरूक रहना आवश्यक है। उसकी जागरूकता विद्यार्थी के जीवन का निर्माण करती है और उसे उत्पथ पर जाने से रोकती है। एक जागरूक अध्यापक दो दिन में जो ज्ञान दे सकता है, उसे प्रमादी अध्यापक अनेक महीनों में भी प्राप्त नहीं करा सकता।

आचार्य तुलसी के जागरूक व्यक्तित्व का अंकन प्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्रजी इन शब्दों में करते हैं—''**मैंने जितनी बार आचार्य तुलसी से सम्पर्क किया, उन्हें सदा जागृत और कर्मण्य पाया। शैथिल्य कहीं देखने में नहीं आया। ऐसा लगता है कि प्रमाद या अवसाद उन्हें छू तक नहीं गया है। आसपास का वातावरण उनकी कर्मशीलता और जागरूकता से चैतन्य और उन्नत सा दिखता है।**'' पूज्य गुरुदेव तुलसी बाल संतों के एक-एक पल का ध्यान रखते थे। थोड़ी देर अपने पास नहीं देखते तो अत्यन्त व्यस्त क्षणों में भी पूछ लेते अमुक संत क्या कर रहा है ? वे जानते थे कि बाल्यावस्था में चित्त पर प्रमाद या मूर्च्छा का कुहासा छाने पर उसे हटाने का प्रयत्न करना आवश्यक है। यही कारण है कि पूज्य गुरुदेव प्रारंभ से ही जागरूकता और सत्संस्कारों की ऐसी नींव डाल देते थे, जिससे वे जीवनभर सजग और रचनात्मक जीवन जी सकें। अनेक बार वे चौकीदार संतों के माध्यम से अज्ञात रूप में उनकी दिनचर्या पर नजर रखते, जब कभी उन्हें प्रमाद की जानकारी मिलती तो प्रेरणा देकर भविष्य के लिए सजग कर देते थे।

सन् १९६९ के जनवरी मास का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव तमिलनाडु प्रांत के एक गांव में प्रवास कर रहे थे। पश्चिम रात्रि में वे सहस्वाध्याय में लीन थे। सहसा उन्होंने मुनि बालचंदजी को निर्देश दिया—''प्रत्येक कमरे में निरीक्षण करके बताओ कि कौन साधु प्रमाद कर रहा है ? कौन नींद ले रहा है और कौन स्वाध्याय में रत है ?''

मुनिश्री बालचंदजी ने देखा कि राजेन्द्र मुनि बाहर बरामदे में खड़े-खड़े स्वाध्याय कर रहे थे।

मुनि श्री बालचंदजी ने गुरुदेव को यथास्थिति का निवेदन किया। जब अर्हत् वंदना और प्रतिक्रमण के लिए सभी संत गुरुदेव की सन्निधि में उपस्थित हुए तो गुरुदेव ने फरमाया—''मुझे लगता है कि संतों में स्वाध्याय की कमी आई है। स्वाध्याय न केवल अनंत निर्जरा का कारण है अपितु हमारी आत्मशक्ति को भी वृद्धिंगत करने वाला है। सर्दी की बड़ी-बड़ी रातों को प्रमाद में गंवाना कहां तक उचित है? आज जब मैंने निरीक्षण करवाया तो दो तीन संतों के अतिरिक्त सभी संत नींद ले रहे थे। कोई बैठे-बैठे तो कोई लेटे-लेटे। मुनि राजेन्द्र जागरूकता से खड़े-खड़े स्वाध्याय कर रहा था अत: इस बात की मुझे बहुत प्रसन्नता है। मैं इसकी जागरूकता और स्वाध्यायनिष्ठा के लिए पांच कल्याणक का पुरस्कार देता हूं।'' गुरुदेव की इस प्रेरणा-प्रोत्साहन से सभी संत भविष्य में स्वाध्याय के प्रति जागरूक हो गए।

पूज्य गुरुदेव अध्यापन के दौरान कभी-कभी बाल साधु-साध्वियों को जागरूकता की प्रेरणा देते हुए कहते थे—''महावीर के शब्दों में '**सव्वतो पमत्तस्स भयं**' प्रमादी व्यक्ति को सदैव भय सताता है। यदि जीवन में थोड़ा भी प्रमाद है तो प्रकाश की यात्रा संभव नहीं है इसलिए इस उम्र में तुम ऐसा प्रबल प्रयत्न करो कि जागरूकता की ज्योति बुझने न पाए, वह सतत अखंड बनी रहे।''

ज्ञान और आचरण—ये दोनों ही सिक्के के दो पहलू हैं। ज्ञान हो और आचरण न हो, यह ज्ञान की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न खड़ा करता है। आचरण हो और ज्ञान न हो, यह घुणाक्षर न्याय वाली कहावत को चरितार्थ करता है। वास्तव में ज्ञानपूर्वक होने वाला आचरण ही व्यक्ति को लक्ष्य की दिशा में अग्रसर कर सकता है। **शिक्षा को बनाएं .... पृ. ८३, आचार्य तुलसी**

१९. समय-प्रबंधन की प्रेरणा

अध्यापक के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है—समय-प्रबंधन। निर्धारित समय पर सब कार्य करने वाला अध्यापक विद्यार्थी के मस्तिष्क पर एक विशेष छाप छोड़ता है। जिन अध्यापकों का कक्षा में आने का कोई निश्चित समय नहीं होता, वे विद्यार्थियों को भी नियमितता का पाठ नहीं पढ़ा सकते। पूज्य गुरुदेव कहते थे—''**भागते हुए समय को बांधकर रखने की शक्ति किसी में नहीं है इसलिए जो समय की उपेक्षा करता है, वह स्वयं उपेक्षित हो जाता है क्योंकि अवसर किसी की प्रतीक्षा नहीं करता।**''

पूज्य गुरुदेव समय के कितने पाबंद थे, यह निम्न घटना-प्रसंग से जाना जा सकता है। घड़ी तीन बजने की सूचना देने वाली थी। युवाचार्यवर (आचार्य महाप्रज्ञ) ने वाचन की सम्पन्नता की घोषणा करनी चाही। इसी बीच गुरुदेव ने कहा—'अभी एक मिनिट शेष है।' युवाचार्य ने मुस्कराकर कहा—''दीवार की घड़ी में तीन बज रहे हैं।'' गुरुदेव ने अपने पास वाली घड़ी दिखाते हुए कहा—''अभी इसमें एक मिनिट बाकी है।'' यह घटना स्पष्ट करती है कि पूज्य गुरुदेव '**खणं जाणाहि पंडिए**' इस आगम सूक्त के साकार रूप थे।

पूज्य गुरुदेव समय-समय पर विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों को भी समय की महत्ता और उसके सदुपयोग की प्रेरणा देते रहते थे। समय-समय पर अध्यापन एवं प्रवचन के दौरान दिए गए निम्न वक्तव्य अनेक लोगों का मार्गदर्शन करने वाले हैं—

* मैं मानता हूं कि समय से अधिक कीमती इस संसार में दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। धन, स्वास्थ्य आदि प्रयत्न करके पुनः प्राप्त किए जा सकते हैं। नष्ट हुई प्रतिष्ठा भी कुछ हद तक पुनः मिल सकती है लेकिन समय को

किसी भी कीमत पर नहीं लौटाया जा सकता। जो विद्यार्थी समय के प्रति जागरूक नहीं होते, समय का सम्यक् नियोजन नहीं करते, वे व्यस्तता के नाम पर अस्त-व्यस्त जीवन जीते हैं। उनके लिए बाद में अनुताप करना ही शेष रहता है।''[१]

* मैं जब किसी को निकम्मा बैठे देखता हूं, वह मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं सोचता हूं कि वे भी सदा ध्यान, जाप, अध्ययन, स्वाध्याय आदि में लगे रहें। संयम और तेजस्विता की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है। पूज्य कालूगणी कहा करते थे कि दीक्षित होने के पश्चात् जो व्यक्ति स्वाध्याय, जप, ध्यान, सेवा आदि किसी एक विषय में अपने आपको नियोजित कर लेता है तो मैं निश्चिंत हो जाता हूं।

* जब कभी समय बेकार चला जाता है, उसका समुचित उपयोग नहीं हो पाता है तो मेरे मन में पीड़ा होती है। कभी-कभी तो ऐसा अनुभव होता है, मानो शरीर का कोई भाग कट गया हो।''[२]

पूज्य गुरुदेव प्रकृति की प्रतिकूलता में भी समय का सम्यक् नियोजन कर लेते थे। पदयात्रा के दौरान तेज आंधी, तूफान या रात्रि में अधिक मच्छरों का परीषह होने पर गुरुदेव तुलसी बाल साधुओं को किसी ऐसे विषय की रोचक जानकारी देते, जिससे वे प्रकृति की प्रतिकूलता को भूलकर ज्ञान ग्रहण में तल्लीन हो जाते थे। मारवाड़ यात्रा का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव को एक गांव में रहने को टूटी झोंपड़ी मिली। आधी रात को तेज आंधी के साथ वर्षा होने लगी। गुरुदेव के साथ उस कोठरी में नौ साधु थे। गुरुदेव ने बाहर सोए तेरह श्रावकों को भी अंदर आने का संकेत देते हुए कहा—''इस तूफानी रात में हम सोएं और आप लोग कष्ट सहें, यह अच्छी बात नहीं है। आज की रात को स्वाध्याय के साथ बिताएंगे।'' गुरुदेव ने दान, दया और अहिंसा के सूक्ष्म

१. आगे की सुधि लेइ पृ. ५८।
२. मेरा जीवन : भाग-७, पृ. २८२।

रहस्यों को रोचक शैली में समझाना प्रारंभ किया। कब चार बज गए, किसी को पता नहीं चला। उस घटना को कलमबद्ध करते हुए गुरुदेव ने निम्न दोहा लिखा—

बिद नवमी वैशाख री, मेह अंधारी रात।
'तुलसी' किणविध भूलसी, नौ तेरा री बात॥

पूज्य गुरुदेव विद्यार्थियों के समक्ष यह प्रेरणा देते रहते थे कि 'समय कम और काम अधिक' यह हमारा लक्ष्य रहना चाहिए। समय का सही नियोजन प्रगति, उन्नति और सफलता का मूल कारण है।

कुछ लोगों की प्रवृत्ति होती है। आज नहीं कल करेंगे। कल के नाम पर वे टालमटोल करते रहते हैं। कल अनिश्चित है। कल आए या ना आए। कोई भरोसा नहीं। कल की आदत अकर्मण्यता की प्रतीक है। कल शैतान का दूत है। इतिहास के पृष्ठों पर इस कल की धार से कितने ही प्रतिभाशालियों का गला कट गया अत: कल की उपासना मत करो।

सचमुच जीवन के कीमती क्षणों को बातों में खोना बहुत बड़ी निधि से हाथ धोना है। अकर्मण्य और आलसी लोगों को देखकर मुझे कई बार मन में आता है, क्या ही अच्छा हो कि इनका समय मुझे मिल जाए क्योंकि मेरे पास इतने काम हैं कि दिन-रात व्यस्त रहने के बावजूद भी वे आगे से आगे तैयार रहते हैं। **एक बूंद ..... पृ. १२९५**

२०. ज्ञान-दान में उदारता

प्राचीन काल में भारतीय शिक्षकों का यह आदर्श रहा कि 'सर्वत्र जयमन्विच्छत् पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्' अर्थात् व्यक्ति सर्वत्र विजय की इच्छा रखे लेकिन पुत्र और शिष्य से पराजय की कामना करे। योग्य शिक्षक वही होता है, जिसके मन में विद्यार्थियों के अधिकतम विकास को देखने की भावना रहती है। अनेक अध्यापक या गुरु शिष्य को पूरा ज्ञान इसलिए नहीं देते क्योंकि उन्हें भय रहता है कि कहीं विद्यार्थी मुझसे आगे बढ़कर मुझे पराजित न कर दे अथवा मुझसे अधिक प्रसिद्ध न हो जाए। पूज्य गुरुदेव तुलसी के मन में सदैव यही तड़प रहती थी कि उनके पास अध्ययनरत साधु विकास के सर्वोच्च शिखर पर चढ़े। **वे शिष्यों के विकास को अपना विकास मानते थे तथा उनकी प्रशंसा को अपनी प्रशंसा के रूप में स्वीकार करते थे। विद्यार्थी साधु की अध्ययन में अतिशय प्रगति देखकर वे आनंद का अनुभव करते थे।** वे कहते थे कि सुयोग्य और प्रभावशाली शिष्य को पाकर मैं स्वयं को सौभाग्यशाली मानता हूँ और प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ। कालूयशोविलास में भी उन्होंने इसी तथ्य को प्रस्तुति दी है—

बढ़े शिष्य नी साहिबी, जिम हिम ऋतु नी रात।
त्यों-त्यों ही गुरु की बढ़े, विश्वव्यापिनी ख्यात॥

एक बार एक पंडित ने गुरुदेव तुलसी के पास अध्ययनरत साध्वियों से पूछा—''क्या आचार्य श्री आपको पूरा ज्ञान देते हैं?'' साध्वियों ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—''आप यह आशंका क्यों कर रहे हैं?'' प्रत्युत्तर में पंडितजी अपना अनुभव बताते हुए बोले—'इसमें गुरु के सम्मान का प्रश्न है। हम पंडित लोग विद्यार्थियों को पूरा ज्ञान नहीं देते क्योंकि हमें भय है कि इससे भविष्य में हमारा प्रभाव कम हो जाएगा।' साध्वियों ने कहा—''हमारे गुरु आचार्य तुलसी इसके अपवाद हैं। वे मानते हैं कि शिष्य गुरु से आगे

बढ़ता है तो इसमें गुरु की महत्ता बढ़ती है। जहां गुरु शिष्य को अपने से भिन्न समझता है, वहां तादात्म्यभाव नहीं जुड़ सकता। शिष्य जितने योग्य और प्रखर होंगे, वे गुरु की योग्यता के प्रतीक होंगे। आज तक पूज्य गुरुदेव ने सैकड़ों विशिष्ट व्यक्तित्वों का निर्माण कर दिया है।'' पंडितजी साध्वियों के इस उत्तर को सुनकर आश्चर्यचकित हो गए। वे सोच में पड़ गए कि क्या कोई गुरु अपने शिष्य को सम्पूर्ण ज्ञान दे सकता है ?

पूज्य गुरुदेव अनेक बार इस स्वर को अभिव्यक्ति देते थे—''**साधु-साध्वियों की वैचारिक क्षमता आचार्य के तुल्य हो, आचार्य से विशिष्ट हो, यह मुझे अभीष्ट है।**'' बिना उदारता के अध्यापक अपनी भावी पीढ़ी को अधिक तेजस्वी और वर्चस्वी बनाने की कल्पना भी नहीं कर सकता।

अपने शिष्यों के विकास को वे अपना विकास मानकर प्रसन्न होते थे। मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) का पदार्थ और ऊर्जा पर प्रवचन हुआ। उस प्रवचन को सुनकर आचार्यश्री अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने '**मेरा जीवन : मेरा दर्शन**' में उस समय की अनुभूति प्रकट करते हुए लिखा—''ऐसे गंभीर विषय पर विशिष्ट प्रवचनकार के रूप में एक विशिष्ट शिष्य को देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई।''

वैचारिक औदार्य के कारण पूज्य गुरुदेव खतरा मोल लेकर भी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों को विकास का अवसर देते थे। युगीन परिस्थितियों को देखते हुए सहशिक्षा पर अनेक बार आशंका व्यक्त की जाती थी। लेकिन पूज्य गुरुदेव ने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, शिशुपालवध एवं श्रीभिक्षुशब्दानुशासन जैसे बृहत्काय ग्रंथों को साधु-साध्वियों को साथ में पढ़ाया। वे कहते थे—''**विकास के साथ खतरे की संभावना रहती है पर इसके लिए विकास को नहीं रोका जा सकता, इस संदर्भ में जागरूकता रखना आवश्यक है।**''

जब कभी कोई भी साधु-साध्वी या समण-समणी किसी विषय में

अध्ययन के लिए अपनी समस्या प्रस्तुत कर देता तो अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी वे स्वयं अध्यापन के लिए प्रवृत्त हो जाते। ऐसे अनेक घटना प्रसंग हैं, जब उन्होंने किसी भी साधु-साध्वी के निवेदन करने पर जटिल से जटिल एवं सरल से सरल विषय को पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया।

वि. सं. २०१७ का प्रसंग है। राजनगर चातुर्मास में कुछ साध्वियों को संघीय पाठ्यक्रम के साथ जोड़ा गया। योग्यतम प्रथम वर्ष में अध्ययनरत साध्वी कनकश्रीजी एवं यशोधराजी ने गुरुदेव को निवेदन किया कि जो साध्वीश्री हमें भिक्षुशब्दानुशासन की बृहद्वृत्ति पढ़ाती हैं, वह पाठ हमारे समझ में नहीं आ रहा है।''

गुरुदेव ने उनको आश्वासन दिया कि तुम लोगों को जो प्रसंग स्पष्ट समझ में न आएं, उनको यहां मेरे पास आकर समझ लिया करो। साध्वी कनकश्रीजी ने साहस बटोरकर कहा—''हमें तो कुछ भी समझ में नहीं आया।'' गुरुदेव ने मुस्कराते हुए कहा—''धीरज रखो। धैर्य के फल मीठे होते हैं।'' इस घटना के कुछ दिनों के बाद गुरुदेव ने अनुग्रह करके साध्वियों को स्वयं 'भिक्षुशब्दानुशासन' का अध्यापन करना शुरू कर दिया। उन्हें धैर्य का मधुर फल चखने का अवसर उपलब्ध हो गया।

संकुचित दृष्टिकोण वाला अध्यापक विद्यार्थी के आदर्श चरित्र का निर्माण नहीं कर सकता। औदार्य और गांभीर्य के अभाव में वह विद्यार्थी की छोटी सी हरकत को भी मानहानि का प्रसंग बना सकता है तथा उदारहृदय अध्यापक विद्यार्थी के चापल्य और नासमझी को विनोद में टाल देता है। **पूज्य गुरुदेव के पास एक ओर नौ-दस वर्ष के विद्यार्थी साधु-साध्वी अध्ययन करते थे तो दूसरी ओर ४०-५० वर्ष के साधु-साध्वियां एवं समण-समणियां भी वाचना प्राप्त करते थे। उन दोनों के समक्ष उनका व्यक्तित्व दो रूपों में प्रस्तुत होता था।** बालक साधु-साध्वियों के समक्ष उनका बचपन मुखर हो उठता तो प्रौढ़ साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों के समक्ष उनका गंभीर

और विराट् व्यक्तित्व प्रस्तुत होता था। निम्न प्रसंग उनके इसी उदात्त व्यक्तित्व को प्रकट करने वाला है—

वि. सं. २००० का प्रसंग है। साध्वीश्री फूलकुमारीजी को दीक्षित हुए मात्र पच्चीस दिन ही हुए थे। बाल साध्वी को सम्बोधित करते हुए गुरुदेव ने पूछा—''तुमने दशवैकालिक कितना सीखा है ?'' बाल साध्वी ने खड़े होकर उत्तर दिया—''चार अध्ययन।'' गुरुदेव ने उन्हें दशवैकालिक सुनाने का निर्देश दिया। उन्होंने तीन अध्ययन तो अस्खलित सुना दिए लेकिन चौथे अध्ययन में वे अटक कर बगलें झांकने लगीं। वे जहां-जहां रुकतीं या अटकतीं गुरुदेव उन्हें पाठ का संकेत कर देते। गुरुदेव ने फरमाया—''पाठ तो शुद्ध सीखा है पर पक्का नहीं है।'' **साध्वी फूलकुमारीजी ने अपना बाल सुलभ चातुर्य प्रकट करते हुए कहा—''मुझे पाठ तो पक्का ही आता है, आपने बीच-बीच में बता दिया इसलिए मैं अटक गई।'' उनकी बात सुनकर गुरुदेव ने विनोद में कहा—''तब तो हमने ही भूल की है।'' सारे वातावरण में मुक्त हास्य बिखर गया।**

वैचारिक औदार्य के कारण गुरुदेव तुलसी अपने शिष्यों की योग्यता की खुले दिल से प्रशंसा करते थे। पत्र-पत्रिकाओं में आए लेखों को पढ़कर भी उनकी योग्यता का अंकन करते रहते थे। सन् १९९४ में मैंने 'आचार्य तुलसी : एक विशिष्ट प्रवचनकार' विषय पर युवादृष्टि के लिए एक लेख लिखा। आचार्यप्रवर को युवादृष्टि उपहृत करते हुए लेख के बारे में अवगति दी। गुरुदेव ने मुस्कराते हुए कहा—''तुम तो अब लाई हो, हमने तुम्हारा लेख कल ही पढ़ लिया। खोजपूर्वक लिखा है, समय-समय पर ऐसे ही लिखते रहना है।'' गुरुदेव के शब्दों ने मन के उत्साह को लक्षगुणित करके लेखनी में शक्ति का संचार कर दिया। जैसे उदारवादी नेता समाज को उन्नति के शिखरों पर ले जाता है, वैसे ही उदार अध्यापक विद्यार्थियों का सर्वतोमुखी विकास करके उनका जीवन बना देता है।

२१. निष्पक्ष व्यवहार

अध्यापक का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है—तटस्थता और निष्पक्षता। अध्ययन में सभी विद्यार्थियों का मानसिक विकास समान नहीं होता, अधिगम की गति में भी तरतमता होती है, वैसी स्थिति में यदि शिक्षक कुछ चुने हुए विद्यार्थियों से ही संबंध रखता है, अन्य विद्यार्थियों की यत्र-तत्र आलोचना या उपेक्षा करता रहता है तो वे तिरस्कृत एवं उपेक्षित होकर दब्बू या विद्रोही बन जाते हैं इससे अध्यापक का स्वयं का प्रभाव भी कम होता जाता है। कुछ अध्यापक केवल योग्य शिष्य पर ध्यान देते हैं, कमजोर विद्यार्थी पर श्रम करना पसंद नहीं करते अत: कमजोर विद्यार्थी उपेक्षित होकर हीन भावना के शिकार हो जाते हैं। **पूज्य गुरुदेव का चिंतन था कि सब विद्यार्थी योग्यता में समान नहीं हो सकते। मुख्य यदि सदैव मुख्य बना रहेगा तो अन्य प्रतिभाओं को उभरने का मौका ही नहीं मिलेगा, विकास का द्वार बंद हो जाएगा।**'' समय देखकर मुख्य को गौण तथा गौण को मुख्य करने वाला अध्यापक ही व्यक्तित्व-निर्माण में सफलता प्राप्त कर सकता है।

इस संदर्भ में गांधीजी के जीवन का एक घटना प्रसंग प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा। गांधीजी एक प्रौढ़ महिला को वर्णमाला का परिचय करा रहे थे। आंदोलन के परामर्श हेतु आश्रम में नेहरू, जिन्ना, सरदारपटेल आदि उच्चतम नेताओं का जमघट लगा हुआ था। अनेक विदेशी भी गांधीजी से मिलने आए हुए थे। गांधीजी तन्मय होकर महिला को 'क' और 'ख' का भेद समझा रहे थे। एक परिचित विदेशी ने झुंझलाकर कहा—''इतने महत्त्वपूर्ण व्यक्ति इंतजार में खड़े हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य अधूरे पड़े हैं, ऐसे में आप इस सामान्य महिला को पढ़ाकर समय का कैसा उपयोग कर रहे हैं? क्या इसी कार्य से आजादी आने वाली है?' गांधीजी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—''सर्वोदय ला रहा हूं।''

गांधीजी की भांति आचार्य श्री तुलसी संघ के प्रत्येक सदस्य का विकास चाहते थे। वे उन साधु-साध्वियों पर अधिक ध्यान देते थे, जो विकास के क्षेत्र में पीछे रह जाते थे। एक बार कुछ बाल साध्वियां पूज्य गुरुदेव के पास पहुंचीं और निवेदन किया—''ज्येष्ठ साध्वियां समयाभाव के कारण हमारे निबन्ध आदि का संशोधन नहीं कर पातीं अत: हम किसके पास अपने निबन्धों का संशोधन करवाएं? गुरुदेव ने फरमाया—''उन लोगों के पास समय नहीं है तो कोई बात नहीं, मैं तुमको समय दूंगा।'' दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ साध्वियों को प्रेरणा देते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''यदि तुम्हारी भी इसी तरह उपेक्षा होती, समय नहीं दिया जाता तो क्या तुम्हारा विकास संभव था? ज्ञान बांटने से बढ़ता है। ज्ञान की परम्परा आगे से आगे नहीं चलेगी तो उसकी सुरक्षा कैसे होगी?'' पूज्य गुरुदेव की उदारता से जहां बाल-साध्वियां अभिभूत थीं, वहां उनके प्रतिबोध से ज्येष्ठ साध्वियों ने एक नए प्रेरणा-पाथेय को प्राप्त कर लिया।

तटस्थ अध्यापक निकट से निकट विद्यार्थी की भूल से आंखमिचौनी नहीं करता। वह अपने पराए की भेदरेखा को तोड़कर सबके साथ आत्मीय व्यवहार करता है। निष्पक्षता और तटस्थता आचार्य तुलसी के व्यक्तित्व एवं नेतृत्व का मौलिक गुण था, जिसके माध्यम से उन्होंने सबके हृदय में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया।

अध्यापक बच्चों को केवल पुस्तक पढ़ाकर ही छुट्टी न लें। वे उनके साथ संवाद स्थापित करें। बच्चों को जो कुछ सिखाना है, उन्हीं के मुंह से कहलवाएं। अध्यापकों का यह भी दायित्व है कि वे बालमनोविज्ञान पढ़ें। उसके आधार पर बच्चों की मानसिकता को समझकर उन्हें जीवन की सही दिशा में अग्रसर करें। **शिक्षा को बनाएं .... पृ. १७३, आचार्य तुलसी**

२२. अध्यापन में प्रायोगिकता

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जॉन ड्यूवी के अनुसार बालक क्रिया के द्वारा ही कार्य को सीखता है अत: शिक्षा का तात्पर्य है प्रयोग एवं क्रियाशीलता के माध्यम से अनुभवों को विकसित, परिवर्तित और संशोधित करना। यह पद्धति 'करके सीखने के सिद्धान्त' पर बल देती है।''[१] सक्रिय एवं प्रायोगिक अध्यापक केवल ग्रंथ में लिखे सत्य पर ही विश्वास नहीं करता, वह स्वयं सत्य की खोज करता है। इस प्रक्रिया में निरीक्षण, तर्क, निर्णय, कल्पना एवं अधिक इंद्रियों का प्रयोग होने से बालक के मानसिक विकास की प्रक्रिया तीव्र होती है मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बालक सुनने और देखने से ८६ प्रतिशत तथा केवल सुनने से ६ प्रतिशत ज्ञान-प्राप्त करता है अत: प्रयोग या परीक्षण करके दिखाने से वह ज्ञान विद्यार्थी के स्मृतिकोष में स्थायी हो जाता है। रूसो का अभिमत था कि अध्यापक केवल मौखिक पाठ न पढ़ाए। उसे अनुभव और प्रयोग से भी सीखने दे। जब भी संभव हो, कार्य द्वारा सिखाए।

पूज्य गुरुदेव तुलसी का अभिमत था कि सौ उपदेशों से एक प्रयोग का विशेष महत्त्व है इसलिए वे शास्त्र में लिखित तथ्य को भी तर्क एवं प्रयोग की कसौटी पर कसते थे, जिससे विद्यार्थी में उत्सुकता जागती थी और वह ज्ञान सरल एवं बोधगम्य बन जाता था। इस शिक्षण-विधि से कक्षा में नीरसता का वातावरण नहीं रहता था। उनका अभिमत था कि विद्यार्थी को केवल निष्क्रिय श्रोता बनाकर ही नहीं सिखाना चाहिए बल्कि उसे शरीर और मस्तिष्क दोनों दृष्टियों से क्रियाशील रखना चाहिए।

लाडनूं का प्रसंग है गुरुदेव की सन्निधि में आचार्य महाप्रज्ञ उत्तराध्ययन का वाचन कर रहे थे। कापोत लेश्या का प्रसंग चल रहा था। कापोत लेश्या का वर्ण कबूतर की ग्रीवा जैसा होता है। एक साधु ने प्रश्न उपस्थित किया—

---

१. शिक्षा के सिद्धांत पृ. २२३, २२४।

''कबूतर की ग्रीवा तो लाल होती है।'' गुरुदेव ने कहा—''लाल नहीं, कुछ अंतर अवश्य होगा।'' गुरुदेव ने मुनिश्री धर्मरुचिजी से कहा—''बाहर पांडाल में अनेक कबूतर हैं अत: देखकर आओ कि कबूतर की ग्रीवा का मूल रंग कैसा होता है।'' गुरुदेव ने फरमाया—''कापोत लेश्या का वर्ण नीला और लाल इन दो रंगों का मिश्रण होना चाहिए।'' मुनिश्री ने आकर बताया—''उसकी गर्दन मटमैले रंग की है। उसके साथ लाल रंग की झांई सी दिखाई देती है।'' गुरुदेव ने कहा—''चलो, अच्छा हुआ, आगम के सत्य को प्रयोग के द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया।''

अनेक बार पूज्य गुरुदेव जीवन-चर्या से सम्बन्धित अनेक बातों का प्रशिक्षण स्वयं प्रायोगिक रूप से देते थे। पूज्य गुरुदेव ने अनेक बार सामूहिक गोष्ठी में ईर्यासमिति (गमन-विवेक), प्रतिलेखन और प्रमार्जन का प्रायोगिक प्रशिक्षण दिया। योगक्षेम वर्ष में उन्होंने अनेक बार इस क्रम को दुहराया। बाल साधु-साध्वियों को व्यक्तिगत रूप से तो प्रशिक्षण देने का क्रम चलता ही रहता था। सन् १९६३ की सामूहिक गोष्ठी का उपसंहार करते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''इस प्रकार प्रायोगिक प्रशिक्षण देते हुए आज मैं अत्यन्त आनंद का अनुभव कर रहा हूँ।.....मेरा विश्वास शाब्दिक ज्ञान में उतना नहीं, जितना प्रायोगिक प्रशिक्षण में है। इस क्रम को बार-बार दुहराने से यथेष्ट सुधार हो सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। मेरा लक्ष्य साधु-साध्वियों को प्रायोगिक प्रशिक्षण देकर उन्हें सजग, सबल एवं सक्षम बनाना है क्योंकि शिक्षा का सम्बन्ध पुस्तक पढ़ने या रटने तक सीमित नहीं है। जो कुछ पढ़ा जाए, उसे जीवन में उतारे बिना शिक्षा सफल नहीं हो सकती। जिस प्रकार अध्यात्म रटने का नहीं, प्रयोग करने का तत्त्व है। उसी प्रकार शिक्षा भी प्रायोगिक होकर ही अपनी अर्थवत्ता को प्रमाणित कर सकती है।''[१]

कभी-कभी पूज्य गुरुदेव दूसरे साधु-साध्वियों के माध्यम से भी प्रायोगिक प्रशिक्षण का क्रम चलाते रहते थे। सन् १९९६ लाडनूं जैन विश्व

१. शिक्षा को बनाएं .... पृ. ९३, आचार्य तुलसी।

भारती का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव ने 'प्रशिक्षण पंचक' के रूप में पांच श्लोकों की रचना की। कुछ दिनों बाद पश्चिम रात्रि में गुरुदेव ने संतों से 'प्रशिक्षण पंचक' के बारे में पूछा। संतों के मध्य से आवाज आई—''क्रमशः याद नहीं हैं।'' महाश्रमण मुदितकुमार (वर्तमान आचार्य महाश्रमण) ने बाल मुनि कुमारश्रमणजी को व्युत्क्रम से ही सुनाने का निर्देश दिया, उन्होंने निम्न पद्य का उच्चारण किया—

भूलो कभी न बैठतां, ओघे रो उपयोग।
बिच में आवत-जावतां, रुक-झुक विनय प्रयोग॥

गुरुदेव ने निर्देश दिया—''अब ओघे (रजोहरण) का प्रयोग करके सबको बताओ।'' बाल मुनि के द्वारा ओघे का सम्यक् प्रयोग देखकर गुरुदेव ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा—''**प्रत्येक मुनि इसी प्रकार प्रायोगिक जीवन जीने का प्रयत्न करे, यह मेरी अभिलाषा है। किसी भी क्षेत्र में श्लथता मुझे पसंद नहीं है। संघ का हर सदस्य सक्रिय रहे, प्रायोगिक रहे तो विकास की नई दिशाएं खुल सकती हैं।**''

घटना विशेष से भी पूज्य गुरुदेव प्रायोगिक प्रशिक्षण देते रहते थे। इस प्रशिक्षण के लिए समय की प्रतिबद्धता नहीं रहती थी। जब भी कोई प्रसंग सामने उपस्थित होता, गुरुदेव निकटस्थ विद्यार्थी साधु-साध्वियों को प्रेरक प्रशिक्षण दे देते थे। सन् १९९२ मई मास का प्रसंग है। प्रातः प्राणायाम करते समय गुरुदेव की दृष्टि सामने ट्यूब-लाइट पर टिक गयी। उस पर एक चिड़िया का जोड़ा घोसला बनाने का प्रयत्न कर रहा था। चिड़िया तिनकों को चोंच से पकड़कर लाती और ट्यूब-लाइट पर जमाने का प्रयत्न करती। सहारा न होने से तिनके बार-बार नीचे गिर जाते पर वह जोड़ा अपनी धुन में अविराम गति से इस कार्य में संलग्न था। गुरुदेव ने समीपवर्ती संतों को घटना के माध्यम से शिक्षा देते हुए कहा—''बार-बार असफल होने पर भी ये अपना प्रयास नहीं छोड़ रही हैं। इनकी लगन एवं कार्य-निष्ठा प्रेरणा लेने जैसी है।''

कभी-कभी तो पूज्य गुरुदेव बात-बात में तत्त्वज्ञान जैसे गहन विषय का प्रतिबोध भी प्रायोगिक रूप से प्रदान कर देते थे। बंगाल यात्रा में पूज्य

गुरुदेव डालमिया नगर पधारे। साहू शांतिप्रसादजी जैन के ज्येष्ठ पुत्र अशोक जैन ने कागज फैक्ट्री देखने की प्रार्थना की। कागज बनाने की प्रक्रिया बताते हुए फैक्ट्री मैनेजर ने कहा—''कागज को बनाने के लिए बांस को पहले तरल बनाया जाता है। तरल बनाने के बाद उसको गैस से साफ करके जमाया जाता है। एक लम्बी प्रक्रिया के बाद वह सफेद कागज के रूप में बाहर आता है। उत्पत्ति के समय प्रत्येक कागज सफेद ही होता है। अपेक्षा होने पर रंगों के द्वारा कागज को रंगीन बनाया जाता है।''

पूज्य गुरुदेव ने वहां उपस्थित साधुओं और भाइयों को प्रतिबोध देते हुए कहा—''आत्मा भी अपने मूल स्वरूप में उज्ज्वल है, कर्मों के संसर्ग से वह विविध रंगों वाली हो जाती है, मलिन हो जाती है। आत्मा की मलिनता को दूर करना ही हमारी साधना का लक्ष्य है।'' इस छोटे से प्रसंग से पूज्य गुरुदेव ने उपस्थित सभी लोगों को कर्मवाद का प्रायोगिक रहस्य समझा दिया।

जब कभी पूज्य गुरुदेव पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञान की नई खोज के संदर्भ में पढ़ते थे तो प्राचीन आगमिक ज्ञान के साथ तुलना करके सबको उसकी जानकारी देते थे। एक बार कादम्बिनी पत्रिका में उन्होंने एक लेख पढ़ा—'सुई की नोक पर विश्वकोश।' महाश्रमण मुनि मुदितकुमारजी (वर्तमान आचार्य महाश्रमण) के द्वारा उन्होंने इस बात की सबको जानकारी दी कि लिवरपूल विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला में वैज्ञानिकों ने इलेक्ट्रॉन के इतने छोटे किरण अक्षर बनाए हैं कि सुई की नोक पर ब्रिटानिका विश्वकोश के २९ खंड लिखे जा सकते हैं। एक पेंसिल से खींची गई लाइन की चौड़ाई में दस हजार पंक्तियां लिखी जा सकती हैं।''[१] गुरुदेव ने उपसंहार करते हुए कहा—**''हमें विज्ञान का उपकार मानना चाहिए, जिसने जैन आगमों में लिखी अनेक बातों को सिद्ध कर दिया है।'' महावीर कहते हैं संकोच गुण के कारण एक आकाश प्रदेश में अनंत परमाणु रह सकते हैं अतः यदि सुई की नोक पर ब्रिटानिका का विश्वकोश लिखा जाए तो क्या आश्चर्य की बात है?''**

---

१. कादम्बिनी, जनवरी १९९६, पृ. ८३।

२३. नए तथ्यों के अन्वेषण की प्रेरणा

योग्य अध्यापक केवल रटी-रटाई या सुनी-सुनाई बात पर विश्वास करने की बात नहीं कहता, वह विद्यार्थियों को एक वैज्ञानिक की भांति अनुसंधान की प्रेरणा देकर नए तथ्यों को खोजने में क्रियाशील बनाए रखता है। हर्बर्ट स्पेंसर ने स्पष्ट उद्घोषणा की—''बालक को कम से कम बताया जाए और अधिक से अधिक खोजने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।''[१] रास्क के अनुसार वर्तमान में शैक्षिक प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि बालक स्वयं ही ज्ञान प्राप्त करता है, दूसरे तो केवल माध्यम बनते हैं। इसी बात को विनोबाभावे ने एक रूपक के माध्यम से समझाया है—''शिक्षक सिर्फ छिपे हुए ज्ञान को व्यक्त करवाता है। शिक्षक की तुलना कुएं की रस्सी से करनी चाहिए। जो कुएं में है, उसे ही वे बाहर लाते हैं। जो 'भीतर' है, वह सहज भाव से प्रकट होता है, यही शिक्षण है।'' प्रोफेसर आर्मस्ट्रांग ने १९ वीं सदी के अंतिम दशक से ह्यूरिस्टिक पद्धति को जन्म दिया। इसका अर्थ है—find out for myself अर्थात् स्वयं के द्वारा खोज करो। इस विधि में अध्यापक द्वारा अधीत तथ्यों का विद्यार्थी स्वयं अवलोकन और निरीक्षण करता है। इस पद्धति से ज्ञानार्जन के समय विद्यार्थी को थकान या आलस्य का अनुभव नहीं होता।

गुरुदेव तुलसी अनेक बार विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समणियों के समक्ष इस तथ्य को प्रकट करते थे—''तुम लोग अध्ययन करते हो। मैं तुम्हें पढ़ाता हूं, तुम केवल उस पर ही संतोष मत करो, अपितु अपना दिमाग और चिन्तन भी उसके साथ लगाओ। उसकी तह तक पहुंचने की कोशिश करो, तब ही तुम्हारा ज्ञान विकसित हो सकेगा। उसमें नये-नये उन्मेष आ सकेंगे। जैसे एक जैन आचार्य ने अष्टलक्षी लिखकर 'राजा नो ददते सौख्यम्' के आठ लाख अर्थ करके भी यह कहा कि मेरे जैसा अल्पज्ञानी आठ लाख अर्थ कर

---

१. Education P. 53, Herbert Spencer।

सका है, कोई विशिष्टज्ञानी पुरुष अनंत अर्थ भी कर सकता है। **इसी प्रकार तुम लोग भी अपनी बुद्धि की स्फुरणा करके एक पंक्ति के अनेक अर्थों को करने का प्रयत्न करो, जिससे मस्तिष्क की शक्ति पर जंग न लगे।''**

भगवान् महावीर निर्वाण शताब्दी के अवसर पर पूज्य गुरुदेव दिल्ली विराज रहे थे। उन दिनों वे साधु-साध्वियों को आचारांग का अध्ययन कराते थे। उसका एक सूक्त था 'भेउरधम्मं च पेहाए'। भेउर अर्थात् भिदुर। गुरुदेव ने भिदुर शब्द की व्युत्पत्ति पूछी। किसी ने भिदु+उर बताया तो किसी ने भिद्+डुर। गुरुदेव ने दृढ़ आत्मविश्वास से कहा—'ये दोनों ठीक नहीं हैं। भिदुर शब्द घुर प्रत्यय से बना है।' पुनः गुरुदेव ने कहा—''मेरे कहने से विश्वास मत करो। स्वयं व्याकरण देखकर इस ज्ञान को प्रामाणिक करो।'' साधु-साध्वियों ने कहा—''अब व्याकरण देखने की क्या आवश्यकता है ?'' गुरुदेव ने कहा—''ज्ञान प्रामाणिक और खोजपूर्ण होना चाहिए। प्रमाण पुरस्सर ज्ञान शीघ्र गम्य होता है।'' गुरुदेव के निर्देश से संत भिक्षुशब्दानुशासन की हस्तलिखित प्रति लेकर आए।'' संतों ने सोचा—पिछले कई वर्षों से गुरुदेव लघु प्रक्रिया 'कालू कौमुदी' पढ़ाते हैं अतः इतने बड़े हस्तलिखित ग्रंथ से तत्संबंधित सूत्र कैसे निकाल पाएंगे ? लेकिन अगले ही क्षण शब्द को सिद्ध करने वाले दोनों सूत्र गुरुदेव ने निकालकर दे दिए—भिज्जिभासिभिदो घुरः तथा वेत्तिछिदिभिदिभ्यः कित्। वहां उपस्थित सभी साधु-साध्वियां आश्चर्य चकित हो गए क्योंकि इतने विशाल हस्तलिखित व्याकरण ग्रंथ से गुरुदेव ने वह पत्र ऐसे निकाल दिया मानो कुछ क्षण पूर्व ही उसे व्यवस्थित रखा हो।

गुरुदेव तुलसी **अप्पणा सच्चमेसेज्जा** इस आगम-सूक्त के प्रयोगधर्मा थे। प्रारम्भ से ही प्रबुद्ध और होनहार साधु-साध्वी या समणी के भीतर वे नए नए तथ्यों के अन्वेषण की उदग्र उत्कंठा पैदा कर देते थे। आचार्य तुलसी ने मुनि नगराजजी (बहिर्भूत) को जैन और बौद्ध धर्म के तुलनात्मक अध्ययन की प्रेरणा देते हुए कहा—'मैं समन्वय की नीति में विश्वास करता हूं अतः संकुचित सीमाओं से ऊपर उठकर तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। प्राचीन

आर्ष साहित्य का दोहन-मन्थन हो, ऐसी मेरी तीव्र आकांक्षा है।'' उनकी प्रेरणा से उन्होंने अध्ययन-चिंतन और मननपूर्वक आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन ग्रंथ लिखा, जिसकी विद्वत् जगत् में अच्छी प्रतिक्रिया हुई और उस ग्रंथ पर उन्हें डी. लिट् की उपाधि भी प्राप्त हो गई। आचार्य तुलसी की प्रेरणा ने उनके जीवन में एक नई उपलब्धि प्रदान कर दी।

विद्यार्थियों के मन पर अध्यापक का पांडित्यपूर्ण कथन तब तक असर नहीं करता, जब तक उसका जीवन उसके अनुरूप नहीं होता। इसलिए अध्यापकों को चाहिए कि वे विद्यार्थियों को मात्र पुस्तकों और भाषणों से नहीं, अपने जीवन से पढाएं, जीवन के उच्च आदर्शों और अच्छे आचरण से पढाएं। इसके लिए अध्यापकों से अपेक्षा की जाती है कि वे प्रतिस्रोतगामी बनें, अनुस्रोतगामी न बनें। जीवन के उदात्त मूल्यों को डुबो देने वाले संसार के चालू प्रवाह में न बहें।

शिक्षा को बनाएं .... पृ. १२५, आचार्य तुलसी

मेरा अपना अनुभव है कि जिसको एक बार गंभीर ग्रंथों को पढ़ने में आनन्द आ जाएगा, उसका मन हल्के स्तर के साहित्य को पढ़ने में लगेगा ही नहीं। मैं साधु-साध्वियों से बार-बार कहता रहता हूं कि वे अन्य ग्रंथों के साथ-साथ कुछ गंभीर ग्रंथों को पढ़ने का प्रयास भी करें।

एक बूंद : एक सागर पृ. १३१०

२४. शिक्षण में संप्रेषण की कला

पाब्लो फ्रेरे के अनुसार संप्रेषण ही सच्ची शिक्षा है, वह शिक्षण की रीढ़ है। सम्प्रेषण के बिना अध्यापन संभव नहीं है। डॉ. एस. पी. कुलश्रेष्ठ के अनुसार सम्प्रेषण का अर्थ है—उचित तरीके से परस्पर सूचनाओं तथा विचारों का आदान-प्रदान करना। इसके माध्यम से शिक्षक अपने ज्ञान को हाव-भाव, मुखमुद्रा तथा विचारों से परस्पर आदान-प्रदान करता है।''[१] डॉ. लक्ष्मीलाल औड के अनुसार संप्रेषण तभी प्रभावी बनता है, जब विद्यार्थी मनन करे न कि निष्क्रिय भाव से सुन ले या समझ ले।''[२]

सम्यक् संप्रेषण के लिए अध्यापक का बहुश्रुत और अनुभवी होना आवश्यक है। यदि अध्यापक को अनेक विषयों का ज्ञान नहीं होगा तो वह विद्यार्थी को आत्मतोष नहीं दे सकेगा। अनेक अध्यापक विषयों के अच्छे ज्ञाता होने पर भी प्रभावी ढंग से अपने ज्ञान को विद्यार्थियों तक संप्रेषित नहीं कर पाते। समर्थ अध्यापक विद्यार्थी की प्रकृति, उसकी मानसिक बुनावट, योग्यता, क्षमता एवं भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्था के अनुरूप शिक्षा की संयोजना करता है, जिससे सही तरीके से ज्ञान संक्रान्त हो सके। जैनेन्द्र के अनुसार एक सच्चा शिक्षक वही है, जो कुछ समय में अपने को हजारों विद्यार्थियों में परिणत कर दे तथा तत्पर और सजीव व्यक्तित्व का निर्माण कर दे। जे. कृष्णमूर्ति के अनुसार संप्रेषण के माध्यम से विद्यार्थी की चेतना में परिवर्तन लाया जा सकता है और नई संस्कृति का निर्माण किया जा सकता है।

गुरुदेव तुलसी न केवल न्याय, व्याकरण, सिद्धान्त, कोष, तर्कशास्त्र, जैन आगम, दर्शन और तेरांपथ के सिद्धांतों के ज्ञाता थे वरन् उस ज्ञान को संप्रेषित करने की विविध कलाओं के भी मर्मज्ञ थे। किस विशेष शब्द पर कहां जोर देना, इस विद्या से भी वे अपने अध्यापन को प्रभावशाली बना देते

---

१. शैक्षिक तकनीकी के मूल आधार पृ. ११३।

२. शिक्षा के नूतन आयाम पृ. २४०।

थे। वे कभी पुस्तक-पाठ से तथा कभी व्याख्या से अध्यापन करवाते थे। जटिल से जटिल पाठ को भी बोधगम्य एवं सरस भाषा में सरल बनाकर सबके गले उतार देते थे। अध्यापन के दौरान जब तक पाठ का पूरा अधिगम नहीं हो जाता, तब तक वे आगे नहीं बढ़ते थे।

पाश्चात्य शिक्षाशास्त्रियों के अनुसार सम्प्रेषण केवल शाब्दिक ही नहीं होता, अशाब्दिक अर्थात् शरीर के हाव-भाव से भी होता है। आचार्य तुलसी की वाणी ही नहीं, मुख, नेत्र और शरीर का प्रत्येक अंग अध्यापन क्रिया में संलग्न रहता था। जिस कारण प्रत्येक विद्यार्थी साधु-साध्वी या समणी दत्तचित्त होकर उस विषय में तल्लीन हो जाते थे।

एस. एस. श्रीमाली के अनुसार यदि किसी अध्यापक में संगीत का कौशल है तो वह और अधिक प्रभावी अध्यापक सिद्ध हो सकता है। वह अपनी संगीतमयी प्रस्तुति से छात्रों को मंत्रमुग्ध करके सब कुछ अधिक सरलता से सम्प्रेषित कर सकता है। पूज्य गुरुदेव न केवल मधुर संगायक थे बल्कि उच्च कोटि के कवि भी थे। विद्यार्थियों के मस्तिष्क में शुद्ध आचार, सुघड़ व्यवहार और उच्च विचार के संस्कार संक्रान्त करने के लिए उन्होंने संगीतमय तीन लघु कृतियों का निर्माण किया। कबीर के दोहे की भांति इन लघु कृतियों के पद्यों का लयबद्ध उच्चारण विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों के मस्तिष्क में एक नई चेतना संक्रान्त करता रहता है। यहां व्यवहार बोध के दो पद्य प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा—

* सभी कलाएं हैं विकलाएं, पंडित सभी अपंडित हैं।
नहीं जानते कैसे जीना, केवल महिमा-मंडित हैं॥[१]

* बढ़ें प्रगति के सही पंथ पर, एक दूसरे को सींचें।
क्यों ऊपर चढ़ने वालों की, ईर्ष्या से टांगें खींचें॥[२]

---

१. व्यवहारबोध ४३।
२. व्यवहारबोध ६८।

२५. अध्यापन में सरसता एवं सतर्कता

आधुनिक शिक्षाशास्त्री शिक्षा में रसानुभूति को अनिवार्य मानते हैं। रसानुभूति का तात्पर्य है शिक्षण में सरसता को बनाए रखना, जिससे विद्यार्थी सीखने में रस और आनंद का अनुभव करे। डॉ. एस. एस. माथुर के अनुसार प्रत्येक भाषा में अच्छा साहित्य कैसे उपलब्ध हो तथा जो साहित्य उपलब्ध है, उसे पढ़ने में अभिरुचि कैसे पैदा की जाए, सरस शिक्षण का कार्य इन दोनों समस्याओं को सुलझाना है। योग्य शिक्षक दोनों प्रकार की प्रेरणाएं देकर विद्यार्थी की सृजनात्मक क्षमता को बढ़ाता है।''[१] बचपन से साहित्य पढ़ने की रुचि पैदा करने से विद्यार्थी का ज्ञान विस्तृत होता जाता है, जिससे बातचीत या अनर्गल कार्यों में उसकी शक्ति नहीं लगती।

योग्य शिक्षक किसी विषय को सम्यक्तया हृदयंगम कराने के लिए अनेक उपायों को काम में लेता है, जिससे प्रत्येक विद्यार्थी उस विषय को भलीभांति समझ सके। गंभीर अध्येता अध्यापक ही दुर्बोध और कठिन विषय को सरसता के साथ प्रस्तुत कर सकता है।

पूज्य गुरुदेव की अध्यापन शैली अत्यन्त सरस थी, इसका एक बड़ा कारण था कि अध्यापन में वे स्वयं रस का अनुभव करते थे। चित्रात्मक शैली में किया गया पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी का अध्यापन विद्यार्थी के मन को बाहर नहीं भटकने देता था। शिक्षण के दौरान पूज्य गुरुदेव ज्ञान-प्राप्ति की प्रेरणा इस प्रकार देते थे, जिससे कमजोर विद्यार्थी भी अभिप्रेरित होकर नए-नए ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उत्प्रेरित हो जाते थे। वर्णन को रोचक और सजीव बनाने के लिए उचित पद्धतियों का प्रयोग होता रहता था, जिससे विद्यार्थी साधु-साध्वी एवं समणी एकाग्र और तन्मय होकर उनकी बात को सुनते थे। गुरुदेव तुलसी पढ़ाते समय हर विद्यार्थी साधु-साध्वी की प्रत्येक गतिविधि का

---

१. शिक्षण कला पृ. १६६।

सूक्ष्मता से अंकन करते थे। **कौन साधु मन से उपस्थित है और कौन केवल शरीर से, इस बात की अवगति भी वे चेहरों को पढ़कर कर लेते थे। किस मुनि का किस स्तर तक बौद्धिक एवं मानसिक विकास हो रहा है, यह उनकी दृष्टि से अज्ञात नहीं रहता था। कौन पाठ को समझ रहा है और कौन केवल सुन रहा है, कौन सीखने में अभिरुचि न रखकर बातों में मन लगाता है, इस बात को भी उनकी पैनी दृष्टि पकड़ लेती थी।**

प्रारम्भिक ज्ञान वाले साधु जब उनकी किसी गहन अध्ययन वाली कक्षा में आकर बैठ जाते तो उनको भी गुरुदेव अपने अध्यापन से जोड़े रखते थे। वे उन्हें ऐसी संवेगात्मक प्रेरणा देते कि बाल साधु या नवदीक्षित को भी उस अध्ययन में रस आने लगता। वे तन्मय होकर उनकी बात को समझने का प्रयत्न करते थे।

पूज्य गुरुदेव संतों एवं समणियों को 'सिन्दूरप्रकर' का अर्थ करवा रहे थे। पास में एक नवदीक्षित साधु बैठे थे। अध्यापन के बीच उनका ध्यान आकृष्ट करते हुए गुरुदेव ने कहा—'कुछ समझ में आ रहा है क्या?' शैक्ष मुनि ने उत्तर नहीं दिया, केवल हाथ जोड़ लिए। उनका मौन देखकर गुरुदेव ने फरमाया—''निराश होने की जरूरत नहीं है। अभी बच्चे हो, इतनी जल्दी कैसे समझ पाओगे? चिड़िया का बच्चा तब तक उड़ नहीं सकता, जब तक उसके पंख न आ जाएं या मां उसे उड़ना न सिखाए। वही स्थिति तुम्हारी है। अभी समझ रूपी पंख नहीं आए हैं अत: कैसे समझ पाओगे? धीरे-धीरे सब कुछ आसान हो जाएगा।''

पूज्य गुरुदेव की सन्निधि में अध्ययनकाल में कोई अन्यमनस्क या शून्यचित्त होकर नहीं बैठ सकता था। जब कभी उनको लगता कि अमुक व्यक्ति कुछ भिन्नचित्त है तो वे तत्काल उसके साथ संवाद स्थापित करते थे। एक बार पूज्य गुरुदेव की सन्निधि में अन्ययोगव्यवच्छेदिका का अध्ययन चल रहा था। पूज्य गुरुदेव सबके चेहरे पढ़ रहे थे। उन्होंने एक बाल मुनि से पूछा—''क्यों, पढ़ने में रस तो आ रहा है?'' उन्होंने उत्तर दिया—''गुरुदेव! रस तो आ

रहा है पर समझ में कम आता है।'' गुरुदेव ने उत्साह बढ़ाते हुए कहा—''कोई बात नहीं, अध्ययन का रास्ता तो बन ही रहा है।'' निराश होने की आवश्यकता नहीं है। अभी से प्रवेश हो जाएगा तो भविष्य में दर्शन की गंभीर गुत्थियां भी सुलझा लोगे।'' आचार्य तुलसी के इस प्रोत्साहन ने उनमें गहन विषय को समझने की ललक पैदा कर दी।

अध्यापन के समय यदि किसी को झपकी आ जाती तो उसे सचेत करने का उनका तरीका भी बहुत मनोवैज्ञानिक था। सन् १९९७ गंगाशहर का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव संतों को 'सिन्दूरप्रकर' का वाचन करवा रहे थे। एक मुनि नींद की झपकी ले रहे थे। उनको सजग करते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''पाना तो चाहते हो ज्ञान और लेते हो नींद, तब ज्ञान कैसे मिले?'' गुरुदेव की मधुर वाणी सुनकर मुनि की नींद खुल गई और सभी संतों के चेहरे पर मुस्कान थिरकने लगी। कभी-कभी बाल संतों को अधिक नींद आने पर वे उन्हें खड़ा कर देते अथवा स्नेहपूर्वक कान मरोड़कर नींद भगा देते थे। अध्यापन के दौरान अनेक बार उनके मुख से ये उद्‌गार सुने गए—''**मैं आलस्य का शत्रु हूं। मुझे आलस्य जहर से भी ज्यादा खारा लगता है। मानसिक और बौद्धिक हर प्रवृत्ति में भावक्रिया और जागरूकता रहे, तभी अध्ययन की सार्थकता है।**''

पूज्य गुरुदेव पंजाब यात्रा पर थे। यात्रा में एक ट्रक भी साथ चल रहा था, जो यात्रियों एवं उनके सामान को ढोता था। ट्रक प्रायः भरा रहता था। एक दिन सर्दी के कारण उसका इंजन जाम हो गया। ड्राइवर ट्रक को चालू नहीं कर सका। सवारी करने वाले यात्रियों ने उसे पीछे से धकेलना प्रारंभ किया। उसी समय पूज्य गुरुदेव भी विहार करते हुए वहां पधार गए। अध्यापन के दौरान गुरुदेव ने उस प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए कहा—''विहार के दौरान तुम लोगों ने उस ट्रक को देखा। किसी भी व्यक्ति के दिन सदा समान नहीं होते। सबको सहयोग देकर चलाने वाले व्यक्ति का भाग्य भी ट्रक की भांति ठंडा हो जाने पर दूसरों के सहयोग का मोहताज बन जाता है। ट्रक का इंजन

प्रतिदिन कितने लोगों को खींचकर ले जाता है पर आज वही ठंडा होने के कारण लोगों के द्वारा खींचा जा रहा था। कैसी विचित्रता है संसार की और कर्म की!'' व्याकरण एवं दर्शन जैसे गंभीर विषय के बीच ऐसा सरस प्रतिबोध उच्चतम अध्यापन का निदर्शन है।

शिक्षा की निष्पत्ति को तीन रूपों में अभिव्यक्त किया जा सकता है—कार्य-कौशल, व्यवहार-कौशल और आचार-कौशल। शिक्षा से कार्य-कौशल आ गया और व्यवहार-कौशल नहीं आया तो वह बहुत काम की नहीं होगी। कार्य-कौशल आजीविका के लिए है लेकिन परिवार के लिए व्यवहार-कौशल की जरूरत होती है। सतत आनंदमय जीवन वही जी सकता है, जिसमें आचार-कौशल हो।

आचार्य महाप्रज्ञ

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य नैतिक आचरण का विकास करना है। जिसके बिना कोई भी समाज अस्तित्व में नहीं रह सकता है। बदलते शैक्षणिक परिवेश में ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ शिक्षा एवं शिक्षक दोनों के लिए नैतिक मूल्यबोध अनिवार्य है। **फ्रांसीसी समाजशास्त्री इमाइल दुर्खीम**

हर विद्यार्थी के अन्तर्मन में एक ग्रंथ है, शिक्षक का कार्य है—वह विद्यार्थी को उसे पढ़ना सिखा दे।

रवीन्द्रनाथ टैगोर

२६. शिक्षण के साथ विनोदप्रियता

महात्मा गांधी ने लिखा है—''**मैं आज महात्मा बना हूं किन्तु पता नहीं मैंने जीवन में कितने संघर्ष झेले हैं, कितनी विपदाएं झेली हैं, कितनी यातनाएं और दुःख झेले हैं। अगर मैं विनोदी और प्रसन्न रहने की कला नहीं जानता तो आज तक मैं समाप्त हो जाता, रहता ही नहीं।**'' आचार्य तुलसी की अनुभूति भी इसी रूप में व्यक्त हुई है—''मैं अपने लिए मुस्कराहट को बहुत अधिक मूल्यवान् मानता हूं। मेरी ताजगी और स्वास्थ्य का रहस्य है—प्रसन्नता। यदि मैं हर परिस्थिति में प्रसन्न रहना नहीं जानता तो जी नहीं सकता था। विनोद और स्मित हास्य जीवन के अस्तित्व को बनाए रखता है।''[१] प्रकृति प्रदत्त मुस्कान के साथ अध्यापन कराने वाला शिक्षक विद्यार्थी के जीवन में भी प्रसन्नता के बीज बो देता है। अध्यापक का उदास चेहरा विद्यार्थियों को भी गमगीन और उदास बना देता है।

शिक्षण के साथ विनोद करने वाला अध्यापक अपनी कक्षा में विद्यार्थियों को बांधे रखता है। वह कठिन से कठिन स्थिति में मानसिक हल्कापन बनाए रखता है। वह विनोद ही विनोद में गम्भीर और नीरस ज्ञान को विद्यार्थी के गले उतारकर अध्ययन में उनकी रुचि पैदा कर देता है। सदैव गंभीर और अन्यमनस्क रहने वाले अध्यापक से विद्यार्थी अध्ययन करना पसंद नहीं करते। रायबर्न एवं फोर्ज के अनुसार विनोद या हास्य के बिना कक्षा का कक्ष बहुत नीरस स्थान होता है। सीमित हास्य शिक्षण में सहायक होता है।''[१] विशाल धर्मसंघ के अनुशास्ता होते हुए भी गुरुदेव तुलसी समय-समय पर विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों के साथ विनोद करते रहते थे। यहां उनके विनोदी स्वभाव के कुछ प्रसंग उद्धृत हैं—

* बीदासर का प्रसंग है पूज्य गुरुदेव अध्यापन कर रहे थे। अध्यापन के बीच उन्होंने पूछा—''कितने बजे हैं?'' एक मुमुक्षु बहिन ने उत्तर

१. Principles of teaching P. 127, W. M. Ryborn and K. B. Forge।

दिया—''डेढ़ बजे हैं।'' दीवार पर टंगी घड़ी देखकर एक भाई ने सवा बजने की सूचना दी। पूज्य गुरुदेव ने विनोद करते हुए कहा—''घड़ी हुई तो क्या हुआ, आखिर है तो औरतों की ही।'' यह सुनते ही सबके चेहरों पर मंद मुस्कान थिरक गई।

* राजनगर में एकान्तवास का पांचवां दिन चल रहा था। गुरुदेव ध्यान के बाद उमास्वाति द्वारा विरचित योग विषयक ग्रंथ प्रशमरतिप्रकरण का वाचन करते थे। पढ़ाते-पढ़ाते गुरुदेव को विनोद सूझा। उन्होंने एक शैक्ष साधु से पूछा—''तुम होशियार बनना चाहते हो या भोले?'' उत्तर यद्यपि एक साधु को देना था पर सभी अपनी-अपनी बुद्धि से उत्तर सोचने लगे। असमंजस की स्थिति में शैक्ष साधु नीचे धरती की ओर देखने लगे।

साधु आपस में अव्यक्त ध्वनि में विचार व्यक्त कर रहे थे पर खड़े होकर उत्तर देने का साहस किसी ने नहीं किया। गुरुदेव ने स्मित हास्य के साथ फरमाया—''भोला नहीं, भला बनना चाहिए।'' पूज्य गुरुदेव ने ऐसा उत्तर दिया, जिसकी किसी ने कल्पना नहीं की थी। कक्षा का गंभीर वातावरण कुछ क्षणों के लिए हल्का हो गया।

* वि. सं. २०२३ का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव ने राजेन्द्र मुनि से अध्ययन आदि के संदर्भ में पृच्छा की। राजेन्द्र मुनि ने उत्तर दिया—''अध्ययन से मुझे संतोष नहीं है।'' आचार्यवर ने विनोद करते हुए फरमाया—''सम्प्रति संतोष कहां है, वह तो अब सरस्वती है।'' गुरुदेव का इंगित उनकी संसारपक्षीया बहिन साध्वी सरस्वतीजी की ओर था, जिनका दीक्षित होने से पूर्व संतोष नाम था। गुरुदेव के श्लेष-प्रयोग से राजेन्द्र मुनि ने यह अर्थ निकाला कि संतोष पाने के लिए पहले सरस्वती की आराधना करनी ही होगी।

* पूज्य गुरुदेव का चूरू पदार्पण हुआ। संसारपक्षीय ननिहाल होने से मुमुक्षु अवस्था में मैं भी गुरु-उपासना में पहुंच गई। गुरुदेव ने टहलते हुए पूछा—'आजकल क्या अध्ययन चल रहा है?' मैंने करबद्ध उत्तर दिया—'न्याय का अध्ययन चल रहा है।' गुरुदेव ने विनोद में कहा—'न्याय पढ़ना तो

अच्छा है, अन्याय मत पढ़ना।' सहज भाव से विनोद में आचार्य तुलसी ने जीवन का बहुत बड़ा बोधपाठ दे दिया।

* इसी प्रकार रवीन्द्र मुनि जो मंत्री मुनि मगनलालजी के संसारपक्षीय पौत्र लगते हैं, गृहस्थपक्ष में उनकी जाति भोलावत है। एक दिन उनको प्रेरणा देते हुए गुरुदेव ने कहा—''रवीन्द्र! तुम जाति से भले भोलावत हो, पर तुम्हें भोला नहीं, भला बनना है।''

यदि उनके पास अध्ययनरत कोई विद्यार्थी साधु-साध्वी या समणी उदास या खिन्न दिखाई देती तो उन्हें अच्छा नहीं लगता था। वे उसको तत्काल प्रेरणा देते हुए कहते थे—''प्रतिक्षण प्रसन्न और प्रफुल्ल रहो। खिले हुए फूल कितने प्रिय लगते हैं, वैसे ही हंसता-खिलता मानव सबका दिल जीत लेता है। प्रसन्नचित्त व्यक्ति की बुद्धि में नई-नई स्फुरणाएं प्रकट होती रहती हैं। **तुम लोग आचारांग के इस सूक्त को सदैव स्मृति में रखो—'समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए''।** अर्थात् समता के अभ्यास से स्वयं को प्रसन्न बनाए रखो।

व्यथित रहकर जीना भी कोई जीना है, मैं एक वर्ष जीऊं, पांच वर्ष जीऊं या पचास वर्ष जीऊं, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। जितना जीऊं, प्रसन्नता और आनन्द से जीऊं, यही मेरी आंतरिक चाह है। **एक बूंद..... पृ. १२८८**

जैन शास्त्रों में ज्ञान के लिए परिज्ञा शब्द का प्रयोग भी किया गया है। परिज्ञा दो प्रकार की होती है—ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा। ज्ञ परिज्ञा हेय-उपादेय की मीमांसा करने में सहायक बनती है। प्रत्याख्यान परिज्ञा व्यक्ति की चेतना को हेय से विमुख बनाती है। यदि हेय और उपादेय का बोध न हो और हेय वृत्ति को छोड़ने का मनोभाव विकसित न हो तो फिर ज्ञानी बनने का लाभ ही क्या है? **शिक्षा को बनाएं .... पृ. ७७, आचार्य तुलसी**

२७. प्रोत्साहन और प्रतिकार

अध्यापन के क्षेत्र में पुरस्कार और दण्ड—ये दोनों ऐसी प्रेरक नीतियां हैं, जिनके द्वारा अधिक से अधिक व्यक्तियों को विशेष प्रकार के कार्य करने या न करने की प्रेरणा दी जा सकती है। पाश्चात्य विद्वान् ए पिसेंट के अनुसार शिक्षक और छात्र का संवेदनशील सम्बन्ध सामरस्य कहलाता है।.... अध्यापक को यह मनोविज्ञान जानना आवश्यक है कि कब गलती पर तेज झिड़की दी जाए और कब उसके विकास पर प्रोत्साहन दिया जाए। कब वात्सल्य एवं प्रेम का प्रयोग करके उसे उठाया जाए और कब उसे दबाया जाए।''[१] प्रश्न है कि पुरस्कार और दंड में कौन विधा अधिक प्रभावशाली है ? प्राय: सभी शिक्षाशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों ने अनुसंधान के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि दंड या प्रताड़ना की अपेक्षा पुरस्कार अधिक प्रभावी उपक्रम है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर दंड और पुरस्कार दोनों के विरोधी थे। उनका मानना था कि अपराध करना बालकों का कार्य है और क्षमा करना शिक्षकों का धर्म। अनुशासन को प्रभावी बनाने के लिए अध्यापक ऐसा वातावरण बनाए जिससे इन दोनों की आवश्यकता ही न रहे। उनके अनुसार दंड व्यवस्था से छात्र विद्रोही एवं विरोधी हो जाते हैं तथा पुरस्कार से अहंकारी और उच्छृंखल अत: सहयोग और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से ही बालक आत्मानुशासी होकर विकास कर सकते हैं।''[२] इस संदर्भ में यह चिन्तन अधिक संगत लगता है कि पुरस्कार और दंड का उचित प्रयोग ही अधिगम क्रिया को प्रभावी बनाता है। बिना अवसर बहुत अधिक प्रोत्साहन देने से भी उसका महत्त्व कम हो जाता है। इसी प्रकार हर बार अशुद्धि या गलती पर डांटने से विद्यार्थी का आत्मविश्वास समाप्त हो जाता है।''[३] पाश्चात्य विद्वान् थोर्नद्वारक ने पुरस्कार और दंड अथवा

---

१. अध्यापन विधि के सिद्धान्त पृ. ७३, ७४ (अनु. श्रीमती संतोष नंदा)।

२. उदीयमान भारतीय समाज और शिक्षा पृ. १३४।

३. शिक्षण के लिए आयोजन पृ. २२६।

प्रोत्साहन और प्रताड़ना पर विस्तार से विचार किया है। शिक्षाशास्त्री बी. एफ. स्किनर की शिक्षा सम्बन्धी मूल अवधारणा थी कि शिक्षण के दौरान विद्यार्थी की आलोचना कम और प्रशंसा अधिक की जाए जिससे उसके भीतर कुछ नया कर गुजरने की उमंग जागे। केवल आलोचना से विद्यार्थी हीनभावना से ग्रसित होकर अकर्मण्य बन जाता है। हरलॉक ने भी अनेक प्रयोगों के माध्यम से यह स्पष्ट उद्घोष किया कि बालक को प्रेरित या पुनर्वलित करने में दण्ड की अपेक्षा प्रशंसा अधिक प्रभावी माध्यम है लेकिन इस संदर्भ में विनोबाभावे का मंतव्य है कि दंड भविष्य में होने वाली बड़ी बुराई को दूर करने के लिए एक छोटी बुराई है अत: अध्यापक को गलत कार्य के लिए विद्यार्थी को दंड अवश्य देना चाहिए। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि अनुशासन बनाए रखने के लिए अध्यापन में दंड और पुरस्कार दोनों का समान स्थान है।

अध्यापक द्वारा किया जाने वाला निग्रह और अनुग्रह विद्यार्थी की कार्यक्षमता में निखार लाता है। सफलता पर प्रोत्साहन देने से योग्य विद्यार्थी के आत्मविश्वास का विकास होता है तथा सामान्य बुद्धि का बालक भी उससे नई प्रेरणा ग्रहण करता है। समय, परिस्थिति और व्यक्ति के अनुसार उपालम्भ और प्रोत्साहन देने वाला अध्यापक सभी विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास कर सकता है।

पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी प्रोत्साहन और प्रतिकार से वातावरण को सजीव बनाए रखते थे। उनका निग्रह और अनुग्रह विद्यार्थी साधु-साध्वियों को आश्वस्त, विश्वस्त और गतिशील बनाए रखता था। गलती पर अंगुलिनिर्देश करने में वे कभी नहीं चूकते थे तो सही काम करने पर प्रोत्साहन देना और अनुग्रह बरसाना भी नहीं भूलते थे। उनका विश्वास था कि पुरस्कार द्वारा नियंत्रण स्थापित करना उच्च शिक्षा का निदर्शन है क्योंकि इसमें अधिक स्थायित्व रहता तथा विद्यार्थी के भीतर आनंद प्रस्फुटित होता है। केवल दण्ड के प्रयोग से विद्यार्थी नियंत्रण के बाहर हो जाता है तथा उसके व्यक्तित्व में असंतुलन पैदा हो जाता है। दण्ड का प्रयोग प्रतिशोध या निवारण के लिए नहीं

अपितु सुधार के लिए होना चाहिए।''

पूज्य गुरुदेव कहते थे—''जिस व्यक्ति को केवल डांट, उलाहना या प्रताड़ना ही मिलती है तो वह कुंठित, संकुचित, निराश या विद्रोही बन जाता है। उसका कर्तृत्व और साहस लुप्त हो जाता है तथा आस्था में भारी परिवर्तन आ जाता है। जिसे केवल प्रशस्ति और प्रोत्साहन मिले, उसका जीवन स्वच्छंद या अधूरा रह जाता है। जिसको समय-समय पर प्रोत्साहन और उपालम्भ दोनों मिलते हैं, वह भाग्यशाली होता है।''[१] प्रसिद्ध उपन्यासकार जैनेन्द्रजी का अभिमत है कि दण्ड और पुरस्कार तभी अपना कार्य करते हैं, जब अध्यापक और विद्यार्थी के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध हो। यदि गुरु और शिष्य का सम्बन्ध स्पष्ट है, उसमें प्रगाढ़ता है तो गुरु के मन के निकट पहुंचने का भाव ही समुचित पुरस्कार प्रतीत होगा और उनके मन से उतर जाने का बोध पर्याप्त दण्ड। तब दण्ड और पुरस्कार बालक को भीतर से प्रभावित करेगा।''[२] आचार्य तुलसी की अध्यापन-शैली में तादात्म्य के साथ इन दोनों का मिश्रण था, वे मनचाहा और अनचाहा के बीच संतुलन स्थापित करना जानते थे। इसकी पुष्टि आचार्य महाप्रज्ञ के निम्न वक्तव्य से होती है—''मैंने अनुभव किया कि मैंने—उपालम्भ और साधुवाद, भय और प्रेम—दोनों का मिश्रित जीवन जीया। अध्यापन के दौरान मुनि तुलसी प्रमाद होने पर उलाहना भी बहुत देते और सही कार्य करने पर साधुवाद भी देते। मेरे प्रति उनके अंत:करण में आकर्षण भी था और वे अनुशासनात्मक भय भी बनाए रखते थे।''[३].... इस संदर्भ में मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) एवं मुनि बुद्धमलजी के बारे में पूज्य गुरुदेव का अनुभव भी उन्हीं की भाषा में पठनीय है—''मेरी पाठशाला के विद्यार्थियों में मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) और मुनि बुद्धमलजी—दोनों अध्ययनशील मुनि थे। उनकी प्रतिभा में विकास की नई संभावनाएं

---

१. विज्ञप्ति सं. १०८३।
२. शिक्षा और संस्कृति पृ. ३६, ३७।
३. युवादृष्टि, जनवरी २००८, पृ. ९।

दिखाई दे रही थीं पर उनमें बाल्यावस्था की चंचलता भी थी। वे पढ़ते-पढ़ते बहुत जल्दी थक जाते। कभी इधर-उधर घूमने लगते, कभी हंसते, कभी बातें करते और कभी असमय में नींद ले लेते। मैं इन पर पूरी नजर रखता था। अपना अध्ययन करते समय भी मेरा ध्यान इनकी ओर रहता। वे गलती करते तो उनके लिए दण्ड का निर्धारण भी मैं करता। गलती का दण्ड भुगतने के लिए कभी उन्हें खड़ा कर देता, कभी उनकी विगय बन्द कर देता और कभी बोलना भी बन्द कर देता। **विगय बन्द करने पर उन्हें कोई खास परेशानी नहीं होती पर मैं उनसे नहीं बोलता तो उनका मन बेचैन हो जाता। इस बेचैनी को दूर करने के लिए वे घंटों तक मेरे पास बैठकर पैर सहलाते रहते। किन्तु जब तक मैं आश्वस्त नहीं हो जाता, बात नहीं करता था। खड़े रहने की बात भी कठिन थी। मुनि नथमलजी के लिए और भी कठिन थी। वे खड़े-खड़े पग पीटते रहते। मैं उन्हें कहता—''कितना ही पग पीटा करो, गलती का दण्ड तो भुगतना ही होगा।''**[१]

कभी-कभी पूज्य गुरुदेव विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों से तादात्म्य स्थापित करने के लिए निम्न कथा भी सुनाया करते थे—''एक चित्रकार इतने सुंदर चित्र बनाता कि निर्जीव चित्र भी सजीव की भांति दिखाई देते थे। लोग उसके चित्रों को देखकर स्तब्ध रह जाते और प्रशंसा करते नहीं थकते। वह जब अपने पिता को चित्र दिखाता तो वह कोई न कोई त्रुटि निकाल देता। इससे चित्रकार के मन में कभी-कभी निराशा आ जाती। पिता का चिंतन स्पष्ट था कि जब तक गलतियों के प्रति ध्यान आकृष्ट किया जाएगा, विकास की नई-नई संभावनाएं जन्म लेती रहेंगी।'' कथा की संपूर्ति पर गुरुदेव संबोध देते थे—''**मैं भी उस पिता की भांति हूं। तुम लोगों के सर्वांगीण विकास एवं विवेक चेतना को जागृत करने के लिए मैं तुम लोगों की गलतियां निकालता रहता हूं। इससे तुम लोगों की जागरूकता बढ़ती रहेगी और विकास का पथ प्रशस्त होगा**''

१. मेरा जीवन भा. १ पृ. १५३।

पूज्य गुरुदेव एक ओर जहां मोम से अधिक मुलायम थे तो अनुशासन के मामले में वज्र से अधिक कठोर थे। वे विद्यार्थी साधुओं को कहते थे—''हमारा काम है तुम्हें शिक्षित करना, तैयार करना, प्रोत्साहन देना और साथ ही गलती का परिष्कार करना। मैं तो जहां कहीं भी त्रुटि देखता हूँ, फौरन संकेत कर देता हूँ, बात को आई-गई नहीं करता, यह मेरा काम है। यदि मैं ही परिमार्जन नहीं करूंगा तो तुम्हारा विकास कैसे होगा?''

पूज्य गुरुदेव के द्वारा गलती पर अंगुलिनिर्देश के समय निग्रह और अनुग्रह दोनों का क्रम एक साथ चलता था। अनेक बार देखा गया जब वे किसी को व्यक्तिगत रूप से गलती का अनुभव करवाते तो यह कहते थे—''पता नहीं फूल के साथ कांटे क्यों उग जाते हैं? सोने की थाली में मेख क्यों लग जाती है? प्रकाश के साथ कज्जल क्यों आता है? तुम्हारे भीतर विकास की संभावनाएं हैं फिर मैं तुम्हारे बारे में यह क्या सुन रहा हूं? भविष्य में इस त्रुटि की ओर विशेष सावधानी की आवश्यकता है।'' इस प्रकार निग्रह और अनुग्रह के मिश्रण से दिया गया प्रतिबोध विद्यार्थी साधु-साध्वी या समण-समणी के अवचेतन मन तक पहुंच कर उसे रूपान्तरण के लिए प्रेरित कर देता था। इस संदर्भ में कुछ संस्मरण प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

वि. सं. २०१९ रींछेड का घटना प्रसंग है। उस समय साध्वी कनकश्रीजी, यशोधराजी और कनकप्रभाजी (साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा)—ये तीनों साध्वियां योग्यतम प्रथम वर्ष (छठा वर्ष) की परीक्षा दे रही थीं। संस्कृत का पेपर था। उसमें पचास अंकों की छंदरचना करनी थी। परीक्षा में शार्दूल विक्रीडित छंद में श्लोक रचना करनी थी। सातवें वर्ष के पेपर में छंदों का विकल्प था। प्रश्न पत्र देखकर साध्वियां घबरा गईं। साध्वी कनकश्री एवं साध्वी कनकप्रभाजी आचार्यश्री के पास पहुंचीं। उस समय साध्वियों पर अनुशासनात्मक कार्यवाही चल रही थी। साध्वियों ने जब निवेदन किया तो आचार्यवर ने निग्रह करते हुए कहा—''तुम परीक्षार्थी हो या परीक्षक? कौन सी कक्षा में प्रश्नपत्र सरल है और कौन सी कक्षा का कठिन, यह विद्यार्थियों

के अधिकार क्षेत्र के बाहर की बात है। प्रश्नपत्र ऐसे कैसे बदला का सकता है। आचार्यश्री का कठोर रूप देखकर साध्वियां भयभीत हो गईं। वंदन करके जब वे पुन: लौटने लगीं तो परीक्षा प्रभारी मुनिश्री दुलहराजजी मार्ग में मिल गए। जब उनको इस बात की अवगति दी तो उन्होंने कहा—''चलो, एक बार फिर आचार्यश्री को निवेदन करें। साध्वियों की हिम्मत नहीं थी लेकिन मुनिश्री उनको आचार्यश्री के पास लेकर गए। उन्होंने निवेदन किया—''प्रश्नपत्र वस्तुत: थोड़ा कठिन हो गया है। हमारा इस विषय में ध्यान नहीं रहा। आप कृपा करके श्लोक-रचना में छंद का विकल्प दिलाने की कृपा करें।'' मुनिश्री द्वारा अनुनय करने पर आचार्य श्री ने कृपा करते हुए फरमाया—''श्लोक-रचना में छंद था विकल्प स्वीकृत कर लिया जाए।'' फिर साध्वियों की ओर वात्सल्य बरसाते हुए कहा—''क्यों, अब तो खुश हो ना?'' इस वाक्य को सुनकर साध्वियां पहले वाले उपालम्भ को भूल गईं।

वि. सं. २०४० का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव अहमदाबाद की यात्रा पर थे। भयंकर गर्मी के कारण सूर्योदय के कुछ समय पश्चात् ही धरती तवे जैसी तपने लगती थी। उन दिनों गुरुदेव मध्याह्न में साधु-साध्वियों को दशवैकालिक पढ़ाते थे। साध्वी शारदाश्री, विवेकश्री आदि साध्वियां भी पढ़ने जाती थीं। तेज धूप एवं तपी हुई सड़क के कारण साध्वियों के पैर जमीन पर टिक नहीं पा रहे थे अत: उन्होंने दौड़कर रास्ता पार कर लिया। गुरुदेव ने दूर से उनकी चाल को देख लिया। साध्वियों को ज्ञात हो गया कि आज गुरुदेव ने उनकी गति को देख लिया है। पसीने से तर-बतर साध्वियों ने सहमते हुए गुरुदेव के दर्शन किए। गुरुदेव ने वात्सल्य भरे शब्दों में कहा—''धूप तेज है अत: पसीना सुखा लो।'' साथ ही संतों को निर्देश दिया कि वे साध्वियों को पानी पिलाएं। अध्यापन के दौरान गुरुदेव ने साध्वियों के अध्ययन के प्रति लगन और उत्साह की प्रशंसा की और सभी को पांच-पांच कल्याणक से पुरस्कृत किया। उपालम्भ के स्थान पर पुरस्कार मिलने पर साध्वियों का मन हर्षातिरेक से आप्लावित हो गया। जब साध्वियां अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् अपने

स्थान पर जाने लगीं, तब गुरुदेव ने उन्हें मृदु प्रतिबोध देते हुए कहा—''आज रास्ते में ईर्यासमिति का ध्यान रहा या नहीं ?'' साध्वियों की आंखें अनुताप से नीचे झुक गईं। भविष्य के लिए बोधपाठ देते हुए गुरुदेव ने कहा—''**मैं जानता हूं धूप की भयंकरता के कारण तुम्हारे पैर जल रहे थे पर इस तरह दौड़ना साधु जीवन की शोभा नहीं बढ़ाता। एक दिन अध्ययन को गौण किया जा सकता था, कम्बल को साथ में रखा जा सकता था लेकिन इस प्रकार दौड़कर रास्ता पार करना उचित नहीं है। साधु जीवन में समितियों के प्रति जागरूकता रखना अत्यन्त आवश्यक है।** ध्यान आदि साधना कोई देखे-जाने या नहीं, पर गति को सब जानते हैं क्योंकि वह आंखों के समक्ष होती है। भविष्य में यदि इस विषय में कभी प्रमाद हुआ तो प्रायश्चित्त स्वीकार करना पड़ेगा।'' एक ही समय में अनुशासन के दोनों रूप देखकर साध्वियां श्रद्धा प्रणत हो गईं। पुरस्कार के आवरण में मिला हुआ अंगुलिनिर्देश या निग्रह साध्वियों को अमृत तुल्य लगने लगा।

आचार्य तुलसी ने जब साध्वियों को पढ़ाना प्रारंभ किया, तब साध्वी कानकंवरजी (सरदारशहर) को कालू कौमुदी कम याद होती थी। तीन दिन बीतने पर भी उनको निर्धारित पाठ याद नहीं हुआ। गुरुदेव ने साध्वीप्रमुखा लाडांजी से पूछा—''यह बातें तो नहीं करती ?'' साध्वीप्रमुखाजी ने प्रत्युत्तर में फरमाया—''बातें करने की आदत नहीं है पर नींद बहुत आती है।'' गुरुदेव ने पाठ याद नहीं करने के प्रायश्चित्त में उन्हें पानी और रोटी—इन दो चीजों से अधिक न खाने का संकल्प दिलवाया। साध्वियां स्थान पर चली गईं लेकिन साध्वीप्रमुखाजी लाडांजी के मन में साध्वी कानकंवरजी के प्रति करुणा उमड़ आई। वे पुनः गुरुदेव के समक्ष पहुंचीं और निवेदन किया—''गुरुदेव! कृपा करके दूसरा दंड देने की कृपा करें, यह प्रायश्चित्त अत्यन्त कड़ा रहेगा।'' गुरुदेव ने तत्काल उस प्रायश्चित्त को वापस लेकर प्रेरणा देते हुए कहा—''प्रायश्चित्त भी विकास के लिए है, जिससे भविष्य में जागरूकता रह सके।''

अध्यापक द्वारा समय-समय पर किया गया मूल्यांकन, प्रोत्साहन

और पुरस्कार शिष्य में एक नया आल्हाद उत्पन्न करता है, जिससे वह भविष्य के लिए और अधिक ज्ञानार्जन करने के लिए तथा जीवन को रूपान्तरित करने के लिए संकल्पित हो जाता है। पूज्य गुरुदेव ने प्रोत्साहन, प्रेरणा, प्रशंसा और पुरस्कार के माध्यम से अनेक प्रतिभाओं को उजागर करके उन्हें विकास के अनुकूल अवसर दिए।

किसी भी साधु-साध्वी या समणी द्वारा किए गए दृढ़ अध्यवसाय या सृजनात्मक कार्य की वे दिल खोलकर प्रशंसा करते थे। समूह में सबके बीच पुरस्कृत किए जाने पर दूसरे विद्यार्थियों में भी तदनुरूप कार्य करने का संकल्प जागृत हो जाता था। पाश्चात्य विद्वान् फीचर के अनुसार पुरस्कार का तात्पर्य किसी ऐसी घटना से है, जो व्यक्ति को कुछ नया करने की शक्ति प्रदान करती है।

एक बार कुछ संस्कृत पंडितों की गुरुदेव की सन्निधि में गोष्ठी थी। गुरुदेव तुलसी ने कुछ साध्वियों के साथ साध्वी कमलश्रीजी को भी संस्कृत भाषण बोलने की प्रेरणा दी। स्थान पर आकर उन्होंने साध्वीप्रमुखा लाडांजी को भाषण बोलने का निवेदन किया। लाडांजी ने कहा—''तुमको संस्कृत का अच्छा अभ्यास नहीं है, इतनी बड़ी परिषद् में तुम्हारे लिए बोलना सरल नहीं होगा, तुम्हारी समझ में भूल हो गई होगी, किसी दूसरी साध्वी के लिए कहा होगा। आज अमुक कॉलेज में कार्यक्रम है, वहां भाषण देने चली जाओ।'' कार्यक्रम समाप्त होने पर गुरुदेव ने साध्वी प्रमुखाजी से पूछा—'वह टमकोर वाली नानकी कार्यक्रम में क्यों नहीं बोली ?' साध्वीप्रमुखा लाडांजी ने अनुताप व्यक्त करते हुए कहा—'गुरुदेव ! मेरी भूल हुई है। उन्होंने मुझे कहा था कि मैं बोलूंगी लेकिन मैंने सोचा विद्वानों के समक्ष वह क्या बोलेगी। आज रात्रि में उनका भाषण सुनूंगी।'' रात्रि में उनका धाराप्रवाह भाषण सुनकर साध्वीप्रमुखा लाडांजी ने उनको पुरस्कार में ५१ कल्याणक दिए। दूसरे दिन उन्होंने आचार्यवर के समक्ष भाषण की प्रशंसा की। गुरुदेव ने फरमाया—''लाडांजी कह रही हैं कि अच्छा भाषण बोला अत: मैं २१ कल्याणक बक्शीष करता हूं।'' इस

प्रकार मंदबुद्धि और कमजोर छात्र भी उनके प्रोत्साहन से प्रेरित होकर आशावान् और प्रतिभाशाली बन जाते थे।

पुरस्कार के दो रूप होते हैं—भौतिक और अभौतिक। पूज्य गुरुदेव समय-समय पर इन दोनों पुरस्कारों का प्रयोग करते रहते थे। जैन विश्व भारती का प्रसंग है। स्वास्थ्य निकेतन के प्रज्ञाहॉल में गुरुदेव तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञजी की सन्निधि में उत्तराध्ययन का वाचन चल रहा था। वाचन के दौरान एक पद्य में 'मिया' शब्द आया। वहां 'मिया' शब्द का तात्पर्य प्रचलित अर्थ से भिन्न था। गुरुदेव ने प्रश्न उपस्थित करते हुए कहा—''यहां 'मिया' शब्द का क्या अर्थ है ?'' प्राय: साधु-साध्वियां मौन थे लेकिन दो साध्वियां—श्रुतयशाजी एवं मुदितयशाजी पहले पाठ देखकर आई थीं अत: उन्होंने 'मिया' शब्द का सही अर्थ 'अन्वेषक' बता दिया। सही अर्थ सुनकर गुरुदेव को सुखद आश्चर्य हुआ और तत्काल उन्हें दो-दो कल्याणक पुरस्कार स्वरूप दिए। आचार्य तुलसी की इस प्रेरणा और प्रोत्साहन की विलक्षणता पर सभी प्रणत थे और भविष्य के लिए पाठ पहले पढ़ने हेतु कृत संकल्पित भी।

वि. सं. २००७ का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव पंचमी से प्रवास स्थान पर पधार गए। मुनि दिनकरजी को आने में समय लग गया अत: गुरुदेव वहीं विराज गए। गुरुदेव पास खड़े संतों से कंठस्थ ज्ञान की जानकारी लेने लगे। इसी संदर्भ में उन्होंने नाममाला की 'गंगाहीन्दुकपालभृत्' पंक्ति का संधि-विच्छेद पूछा। लगभग बाल साधु अर्थ बताने में असफल हो गए। मुनिश्री पानमलजी ने उत्तर देते हुए कहा—''गुरुदेव! इसमें पांच शब्द हैं—गंगा, अहि, इंदु, कपाल और भृत्। भृत् शब्द चारों के अंत में लगाने से शिव के पर्यायवाची बन जाएंगे।'' मुनिश्री की सम्यक् समझ और सही उत्तर से गुरुदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्हें पांच कल्याणक से पुरस्कृत किया।

बाल मुनि अशोककुमारजी बालवय में दीक्षित हुए। चंचलता के कारण उनका मन अध्ययन में नहीं लगता था। उनको अध्ययन में स्थिर करने हेतु गुरुदेव ने प्रोत्साहन स्वरूप एक नई विधि का प्रयोग किया। उन्होंने बाल

मुनि से कहा—''आज से तुम्हारी अमुक-अमुक विषयों की परीक्षा होगी और उसमें अंक दिए जाएंगे।'' उन्होंने बाल सुलभ चापल्य से कहा—''अंक मिलेंगे तो मैं पूरी मेहनत के साथ पढ़ूंगा।'' वे प्रात: जल्दी उठकर अध्ययन करने लगे। उनमें रूपान्तरण घटित होता देखकर गुरुदेव ने कहा—''विद्यार्थी जीवन में प्रोत्साहन, प्रेरणा और आलम्बन—ये तीनों ही तत्त्व महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। अध्यापक को समय-समय पर इनका प्रयोग करते रहना चाहिए, जिससे विद्यार्थी में रूपान्तरण घटित हो सके।''

जब कभी पूज्य गुरुदेव देखते कि निग्रह या उपालम्भ मिलने पर अमुक व्यक्ति के चेहरे पर या मन पर असर उतर गया है तो वे उसे मनोवैज्ञानिक प्रेरणा देकर आत्मस्थ कर देते थे। साध्वीश्री फूलकुमारीजी (लाडनूं) ने तेरह वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली। साध्वी खूमांजी के साथ बहिर्विहार के बाद उनको अध्ययन के लिए गुरु-सन्निधि में रखा गया। पूज्य गुरुदेव साध्वियों को स्वयं अध्ययन करवाते थे। अधीत अंश की समय-समय पर परीक्षा भी लेते थे। जिन साध्वियों का उच्चारण, लेखन और कंठस्थ ज्ञान पक्का होता, उन्हें प्रोत्साहन स्वरूप पुरस्कार मिलता और परीक्षा में प्रमाद करने वाली साध्वियों पर कभी-कभी दण्ड या निग्रह का प्रयोग भी होता था।

साध्वी फूलकुमारीजी प्राय: पुरस्कृत होती थीं लेकिन एक बार उन्हें निग्रह स्वरूप दण्ड भी मिला। दण्ड मिलने के कारण सदा प्रसन्न रहने वाला उनका चेहरा कुछ उदास हो गया। गुरुदेव ने उनका चेहरा पढ़ कर प्रेरणा देते हुए कहा—''**पुरस्कार मिलने पर प्रसन्नता और दण्ड मिलने पर खिन्नता, यह साधना का लक्षण नहीं है। समय पर मिलने वाला दण्ड भी भविष्य में विकास की नई प्रेरणा देता है। साधक वह होता है, जो अनुकूल और प्रतिकूल—इन दोनों स्थितियों में सम रहता है।** तुम लोगों को संस्कृत का यह पद्य सदैव स्मृति में रखना चाहिए—

उदये सविता रक्तो, रक्तश्चास्तमये तथा।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च, महतामेकरूपता॥''

गुरुदेव का प्रतिबोध पाते ही उनकी प्रसन्नता द्विगुणित हो गई।

पूज्य गुरुदेव अनेक विधियों से विद्यार्थियों को पुनर्बलन देते थे, जैसे—सिर हिलाना, मुस्कराना, प्रशंसक दृष्टि से विद्यार्थी साधु-साध्वी एवं समण-समणियों को देखना, उनकी बात ध्यान से सुनना, सही उत्तर देने पर वाचिक प्रोत्साहन देना आदि। **उनकी प्रसन्न दृष्टि किसी भी बड़े से बड़े पुरस्कार से कम नहीं होती थी। अनेक बार तो उनकी वाणी और आंखें ही नहीं, शरीर का रोम-रोम प्रसन्नता को अभिव्यक्त कर देता था।** वे समय-समय पर विद्यार्थी साधु-साध्वियों की क्षमताओं एवं विशिष्ट बुद्धि-कौशल की सराहना करते रहते थे। प्रोत्साहन के संदर्भ में मुनि श्री गुलाबचंदजी स्वामी के दो जीवन-प्रसंग उन्हीं की भाषा में पठनीय हैं—

''वि. सं. २०११ के मुम्बई चातुर्मास में गुरुदेव के निर्देशानुसार मैंने अंग्रेजी भाषा का अध्ययन प्रारंभ किया। एक बुजुर्ग किन्तु शिक्षित सज्जन, जो वहां की व्यवस्था-समिति में काम देखते थे, अपना समय देकर हम कुछ मुनियों को अंग्रेजी भाषा का अध्ययन कराते थे। उस वर्ष पट्टोत्सव के दिन मैंने अभ्यासपूर्वक अंग्रेजी में भाषण दिया। गुरुदेव प्रसन्न हुए कि उनकी भावना के अनुरूप अध्ययन का क्रम प्रगति पर है। मेरा भाषण समाप्त होने पर उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उस पर टिप्पणी करते हुए मुझे तत्काल इक्कीस कल्याणक का पुरस्कार दिया। मैं भी उनके वर्धापन से और अधिक उत्साहपूर्वक अध्ययन में लग गया। इस प्रकार समय-समय पर उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन ने मेरे विकास के अनेक अनुद्घाटित आयामों को उद्घाटित किया।

लूणकरणसर से रुणिया का वास होते हुए गुरुदेव उदासर पधारे। एक दिन उन्होंने मुझे इंगित किया कि तुम्हें 'जैन सिद्धान्त दीपिका' सीखनी है। दीक्षा से पूर्व वैरागी अवस्था में मुनिश्री मधुकर जी के पास लाडनूं में मैंने इसके चार प्रकाश सीखे थे। बाद में वह क्रम छूट जाने से पहले सीखे हुए प्रकाश भी विस्मृत जैसे होने लगे। गुरुदेव ने कहा—''अब नये सिरे से जैन सिद्धान्त दीपिका सीखना प्रारम्भ करो।''''उसकी वाचना किससे ली जाए?' यह पूछने

पर उन्होंने कहा—''यह भी कोई पूछने की बात है ? वाचना यहां से लिया करो। दो महीनों में उसे पूरा सीख लेना है।'' मैंने अपना पूरा ध्यान उस पर केंद्रित कर दिया। दशवैकालिक सूत्र और जैन सिद्धान्त दीपिका दोनों का कंठीकरण साथ-साथ चलता। निश्चित अवधि में जब मैंने उसे सीख लिया तो मुझे पच्चीस कल्याणक का पुरस्कार मिला। मैं प्रसन्न था। पुरस्कार मिलना बड़ी बात नहीं थी। बड़ी बात यह थी कि इस धर्मसंघ में कितने छोटे-बड़े साधु-साध्वियां हैं। उन सबको वे किस प्रकार प्रोत्साहित करते हैं। **एक बृहद् धर्मसंघ की बड़ी जिम्मेदारी के नाते अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों में व्यस्तता के बावजूद एक साधु को वाचना देने का समय निकाल लेना उनकी अन्तरंग वत्सलता का ही प्रतीक था। वे हर साधु-साध्वी को योग्य से योग्यतर और योग्यतम देखना चाहते थे।''**[१]

कभी कोई बाल साधु-साध्वी किसी प्रश्न का उत्तर सही नहीं दे पाती या शब्दार्थ के संदर्भ को नहीं समझ पाती तो उनके मन में हीन भावना न आ जाए या उनका मन कुंद न हो जाए इसलिए बिना किसी विशेष प्रसंग के भी पूज्य गुरुदेव उन्हें पुरस्कृत कर देते थे। साध्वी कमलूजी (सरदारशहर) को दीक्षा लिए दो-तीन दिन ही हुए थे। उनकी निश्रा के कम्बल के चोटिए (पीको) डाले हुए नहीं थे। गुरुदेव ने फरमाया—''नानकी के अभी तक चोटिया नहीं डलवाया।'' साध्वी कमलूजी ने चोटिया का अर्थ नहीं समझा अत: बाल सुलभ चापल्य से तत्काल उत्तर दिया—''गुरुदेव मेरे सिर पर बाल ही नहीं है तो चोटी कैसे बनाऊं ?'' गुरुदेव उनके भोलेपन पर मुस्कराए फिर चोटिए और चोटी में अंतर स्पष्ट किया। उनका बाल सुलभ मन इस बात से आहत न हो कि इतने सामान्य शब्द का अर्थ भी नहीं आता है, गुरुदेव ने तत्काल उनको पांच कल्याणक का पुरस्कार प्रदान करके भविष्य में उन्हें व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित कर दिया।

अध्यापक यदि विद्यार्थी को उसके अच्छे परिश्रम के परिणाम पर

१. युवादृष्टि से साभार।

सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करता है तो वह विद्यार्थी को सतत कठोर श्रम करते रहने के लिए अभिप्रेरित करता है। कोई भी साधु जब उनके पास कोई लेख, कविता, कलात्मक चीज या सृजनात्मक कार्य लेकर उपस्थित होता तो वे अपने हाथ की पुस्तक या अन्य कार्य को एक ओर रखकर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उसे देखते। दिल खोलकर उसकी प्रशंसा करते, पास बैठे लोगों को उसकी अवगति देते। आंखों एवं वचनों से वात्सल्य-वर्षा करके ऐसा तादात्म्य स्थापित करते कि वह दूने उत्साह के साथ उस कार्य में जुट जाता था। यह प्रशंसा उसके लिए अभिप्रेरणा का कार्य करती थी। मैंने अपने जीवन में अनेक बार अनुभव किया कि जब-जब मैं उनके पास आगम का कार्य दिखाने ले जाती, काफी समय तक गुरुदेव उस फाइल को उलट-पुलट कर देखते। उनके रोम-रोम से आनंद और प्रसन्नता टपकने लगती। उनकी प्रसन्नता और वाणी के जादू से सम्मोहित होकर लक्षगुणित उत्साह के साथ मैं अग्रिम कार्य में जुट जाती। एक ही कार्य को अनेक बार दिखाने पर भी उनकी प्रसन्नता में कोई अन्तर परिलक्षित नहीं होता था।

अनेक बार पूज्य गुरुदेव सार्वजनिक रूप में भी विद्यार्थी की प्रतिभा या कार्य का मूल्यांकन करते थे। उस समय मेरी (मुमुक्षु कुसुम) उम्र लगभग १८ या १९ वर्ष की रही होगी। पारमार्थिक शिक्षण संस्था का बी. ए. का परीक्षा-परिणाम निकला, उसमें गुरु-कृपा से मुझे सर्वोच्च अंक प्राप्त हुए। उन दिनों पूज्य गुरुदेव लाडनूं विराज रहे थे। व्याख्यान में वे भावदेव और नागला के आख्यान का वाचन करते थे। प्रवचन के बीच जब नाथूलालजी 'जिज्ञासु' ने रिजल्ट सुनाया तो परिषद् के बीच मुझे खड़ा करके गुरुदेव ने फरमाया— ''जैसे नागला अपने कार्य में सफल हुई, वैसे ही मुमुक्षु कुसुम अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल हुई है। यह दृढ़ अध्यवसाय से आगे बढ़ती जाए, यही शुभकामना है।'' परिषद् में दिए गए प्रोत्साहन ने मेरे आत्मबल और पुरुषार्थ को इतना जगा दिया कि संस्था की हर परीक्षा में कक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ।

निग्रह और अनुग्रह के सभी प्रसंगों को यहां प्रस्तुत करना संभव नहीं लेकिन ये कतिपय प्रसंग अनेक अध्यापकों को अपनी कार्य शैली में बदलाव की प्रेरणा देने वाले साबित होंगे।

मेरी प्रकृति ही ऐसी है कि मैं कड़ाई को अधिक टिका नहीं सकता। किसी को कड़ा उपालम्भ देता हूं किन्तु उसके तुरंत बाद सहला भी देता हूं। यदि कड़ाई को जमा करके रखूं तो शायद मेरा दिमाग पूरा काम भी नहीं कर पाए।

एक बूंद ..... पृ. १३१५

मैं अपने संघ में आचारनिष्ठा के साथ बौद्धिकता के क्षेत्र में आगे बढ़ने वालों की लम्बी पंक्ति देखना चाहता हूं। साधु-साध्वियों की वैचारिक क्षमता आचार्य के तुल्य हो, आचार्य से भी विशिष्ट हो, यह मुझे मान्य है।

एक बूंद ..... पृ. १३००

मेरी तो यह प्रकृति हो गई है कि जिस बात का मैं स्वयं आचरण नहीं करता, उसका उपदेश भी बलपूर्वक नहीं कर सकता। जिस बात को मैं अच्छी मानूं तो पहले उसका प्रयोग मुझे अपनी आत्मा पर करना ही चाहिए। उसमें यदि मैं सफल होता हूं तो मुझे दूसरों को कहने का भी अधिकार है।

एक बूंद ..... पृ. १३२२

२८. व्यक्तित्व-निर्माण की कला

एक रूसी कहावत है कि यदि तुम्हारे पास एक वर्ष का समय हो तो बाजरा बोओ। दस वर्ष का समय हो तो पेड़ लगाओ और सौ वर्ष का समय हो तो आदमी को शिक्षित करो क्योंकि आदमी को शिक्षित करना, उसके व्यक्तित्व का निर्माण करना सबसे कठिन और मुश्किल कार्य है। व्यक्तित्व-निर्माण के संदर्भ में पूज्य गुरुदेव की निम्न अनुभूतियां पठनीय हैं—

* संसार में घर, यान, वाहन, यंत्र आदि का निर्माण बहुत होता है पर मेरी दृष्टि में सबसे कठिन कार्य कोई है तो वह व्यक्तित्व-निर्माण का है। व्यक्तित्व-निर्माण मेरे जीवन का सबसे प्रिय विषय रहा है।

* मैं मानता हूँ व्यक्ति-निर्माण से बढ़कर और कोई निर्माण नहीं है। व्यक्ति-निर्माण में भी विद्यार्थियों और अध्यापकों का निर्माण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि विद्यार्थी ही राष्ट्र के भावी कर्णधार होते हैं, तस्वीर होते हैं। उनका जीवन जितना अधिक सुसंस्कारी होता है, राष्ट्र का भविष्य उतना ही उज्ज्वल बनता है, तस्वीर उतनी ही सुंदर बनती है। चूंकि विद्यार्थियों का बहुत कुछ निर्माण अध्यापकों के निर्माण पर निर्भर करता है इसलिए मैं इन दोनों वर्गों के निर्माण पर सर्वाधिक बल देता हूँ।''[१]

* व्यक्ति-निर्माण में मेरी रुचि प्रारम्भ से ही रही। मेरा चिन्तन रहा, अपने शिष्यों का जीवन-निर्माण न करने वाला आचार्य-पद की अर्हता में कुछ कमी ला देता है। मैं उस मेघ को अच्छा नहीं समझता, जो बीज की बुआई के क्षणों में बरसे किन्तु फसल को निष्पन्न न करे। मैंने आचार्य बनने के कुछ दिनों बाद साध्वियों की शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित किया। साधुओं की शिक्षा पहले से चल रही थी। उनमें नये-नये उन्मेष लाने के प्रयत्न भी शुरू कर दिए। इससे प्राकृत, संस्कृत आदि प्राच्य भाषाओं तथा हिन्दी के अध्ययन में प्रौढ़ता आने लगी। उस समय अंग्रेजी के अध्ययन के प्रति ध्यान नहीं दिया जा सका।

१. आगे की सुधि लेई पृ. १६९।

उसकी कमी आज अनुभव कर रहा हूँ। यदि उस पर ध्यान दिया जाता तो हमारा चिन्तन और अधिक व्यापक क्षेत्र में पहुंच जाता।

शिक्षाशास्त्री रस्क का अभिमत है कि शिक्षा का उद्देश्य है—व्यक्तित्व को ऊंचा उठाना या गुण सम्पन्न करना। व्यक्तित्व के उत्कर्ष का अर्थ है—स्व की सर्वोच्च शक्तियों या क्षमताओं की प्राप्ति। आचार्य महाप्रज्ञ का मंतव्य था कि शिक्षक का दायित्व है दूसरों में गुरुता कैसे पैदा हो? दूसरों में महानता कैसे पैदा हो? दूसरों में बड़प्पन कैसे पैदा हो? यह होने पर ही विद्यार्थी या शिष्य के मन में समरसता पैदा हो सकेगी।''[१] पूज्य गुरुदेव के मन में संघ के प्रत्येक सदस्य के निर्माण की जो जागरूकता, तत्परता, सक्रियता और तड़प थी, उसी का प्रतिफल है कि बिना कॉलेज या विश्वविद्यालय के उन्होंने आचार्य महाप्रज्ञ, आचार्य महाश्रमण एवं महाश्रमणी साध्वी प्रमुखा कनकप्रभाजी जैसे महनीय व्यक्तित्वों का निर्माण कर दिया।

पूज्य गुरुदेव अपने हाथ से लिखित संदेश देकर भी बाल साधुओं के व्यक्तित्व का निर्माण करते थे क्योंकि मौखिक की अपेक्षा लिखित प्रेरणा अधिक प्रभावी होती है। इसमें व्यक्ति बार-बार उसे पढ़कर प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। मुनि कुमारश्रमणजी नौ वर्ष की अल्प वय में दीक्षित हुए। उनको प्रेरणा देने के लिए लिखित संदेश देते हुए गुरुदेव ने कहा—''तुमने नौ वर्ष की वय में मुनि-दीक्षा स्वीकार करके बचपन को सफल बनाया है। बड़े भाग्य की बात है। अब जीवन का स्थायी निर्माण करना है अत: कुछ बातों पर विशेष ध्यान दो—

* अपने मनोबल को वर्धमान रखना है।
* विनय, विवेक और विद्या का विकास करना है।
* दिनचर्या नियमित रखना है और उसका सतत पालन करना है।
* स्वाध्याय एवं ध्यानयोग का व्यवस्थित अभ्यास रखना है।

---

१. अणुव्रत १-१५ जनवरी २००३, पृ. १७।

* आलस्य और प्रमाद में समय नहीं खोना है और सतत जागरूक रहना है।
* पापभीरुता को विकसित करना है।
* संयम का निरतिचार पालन करना है।[१]

इसी प्रसंग में बालमुनि योगेश कुमार (सुजानगढ़) को दिया गया लिखित संदेश भी अनेकों के भविष्य का मार्गदर्शन करने वाला है—

एक वर्ष हो गया तुम्हें दीक्षित हुए। इस उपलक्ष्य में तुम्हें संकल्प करना है—

* मैं अध्ययन में मन लगाऊंगा।
* समय का उपयोग करूंगा।
* आदेश-निर्देश का हृदय से पालन करूंगा।
* अच्छा साधु बनूंगा।[२]

महात्मा गांधी ने अध्यापकों को प्रेरणा देते हुए कहा कि हर अध्यापक दीक्षान्त भाषण में विद्यार्थी को भविष्य के लिए नए दायित्व- बोध हेतु ऐसी प्रेरणा दे कि वह जिंदगी भर पाथेय का कार्य करे।'' आचार्य तुलसी दीक्षा देते समय दीक्षान्त प्रवचन में ऐसी प्रेरणा देते थे, जो जीवन भर उसके व्यक्तित्व-विकास के लिए आलोक का कार्य करती थी। उदाहरण के लिए प्रथम समण दीक्षा के दीक्षान्त प्रवचन का कुछ अंश यहां प्रस्तुत है—

.....अब तुम्हें वे ही कार्य करने हैं, जिनसे आत्म-जागरण हो। तुम्हें निराशा, कुंठा और तनाव से मुक्त होकर आनंद का जीवन जीना है। अभीक्ष्ण ज्ञान और ध्यान के उपयोग में रत रहना है।''

कहा जा सकता है कि आचार्य तुलसी का व्यक्तित्व महान् आदर्शों से प्रेरित था इसीलिए वे अनेकों व्यक्तित्वों का निर्माण कर सके।

---

१. आचार्य तुलसी के पत्र भाग २ पृ. १९६।
२. आचार्य तुलसी के पत्र भाग २ पृ. २६१।

२९. अध्यापन के साथ सर्वांगीण विकास

उसी समाज, संगठन एवं देश का भविष्य उज्ज्वल होता है, जिसकी नई पीढ़ी के सर्वांगीण विकास के उपक्रम पर ध्यान दिया जाता है। टी. पी. नन के अनुसार अध्यापक का मुख्य कार्य है—बालक के व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास, जिससे व्यक्ति अपनी पूर्ण योग्यता के अनुसार मानव-जीवन को उपयोगी बना सके। यदि शिक्षा छात्र के आचार, व्यवहार एवं वक्तृत्व में परिवर्तन नहीं ला पाती तो वह अधूरी है। अध्यापक को समय-समय पर समाज की परम्पराओं, मान्यताओं एवं रूढ़ियों का ज्ञान कराकर विद्यार्थी के आचरण को परिष्कृत करते रहना चाहिए। केवल पुस्तकीय एवं व्यावसायिक ज्ञान से बालक का एकांगी विकास होता है। सर्वांगीण विकास का तात्पर्य है—बालक की विभिन्न योग्यताओं का विकास करने के लिए प्रयत्न करना, जिससे उसकी आत्मा, मस्तिष्क, वाणी और कर्म सभी के विकास में संतुलन बना रहे। महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी के शब्दों में पूज्य गुरुदेव केवल पुस्तकीय ज्ञान सिखाकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मान लेते थे। वे विद्यार्थी के सर्वांगीण व्यक्तित्व-विकास का लक्ष्य सामने रखते थे।''

गुरुदेव तुलसी जानते थे कि बौद्धिक ज्ञान के साथ यदि भावनात्मक विकास नहीं कराया जाएगा तो विद्यार्थी के व्यक्तित्व का एकांगी विकास होगा अत: समय-समय पर वे संवेग-नियंत्रण के सूत्र एवं उसके प्रयोग भी बताते रहते थे। इस संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ का निम्न वक्तव्य उनके इसी वैशिष्ट्य को प्रकट करने वाला है—''**मुझे पूछा गया कि आचार्य बनने के बाद भी आपका वजन नहीं बढ़ा, यह कैसे संभव है?' मैंने उत्तर दिया—''गुरुदेव तुलसी ने मुझे पहले योगी बनाया और बाद में आचार्य, इसलिए ऐसा नहीं हो सका।** मांसल होना शायद मेरी नियति में नहीं है। आदमी हर्ष में मोटा होता है पर मेरे आचार्य ने मुझे पहले समता में प्रतिष्ठित कर दिया इसलिए विशिष्टता उपलब्ध होने पर भी हर्ष की बात मेरी नियति में नहीं है।''

पूज्य गुरुदेव मानते थे कि शिक्षा का सम्बन्ध शरीर, मन, बुद्धि और भाव सबके साथ है। एकांगी विकास की तुलना शरीर की उस स्थिति के साथ की जा सकती है, जिसमें सिर बड़ा हो जाए और हाथ-पांव दुबले रहें। शरीर की भांति व्यक्तित्व का असंतुलित विकास उसके भौंडेपन को प्रदर्शित करता है।''[१] महात्मा गांधी ने भी इसी तथ्य की संपुष्टि की है।''[२]

अमरकोश में शिक्षित के अनेक पर्यायवाची नामों में एक नाम वैज्ञानिक''[३] है। पूज्य गुरुदेव के अध्यापन में अध्यात्म और विज्ञान का मणि-कांचन योग था। वे मानते थे कि विज्ञान और अध्यात्म के योग के बिना शिक्षा पूर्ण नहीं हो सकती। **वे अपने अध्यापन से आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व तैयार करना चाहते थे। वैज्ञानिक दृष्टि से अन्वेषक दृष्टि तथा आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मशक्ति, सत्यनिष्ठा, नैतिकता आदि मानवीय मूल्यों की संक्रान्ति का योग करना चाहते थे।**

विविध उच्चस्तरीय प्रतियोगिताओं एवं वाद-विवाद के माध्यम से छात्र उच्च एवं महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील होता है। इससे न केवल अभिव्यक्ति-कौशल का विकास होता है, अपितु आत्मविश्वास और उत्साह भी बढ़ता है। दूसरों से आगे निकलने के लिए वह रात-दिन परिश्रम करता है। गुरुदेव तुलसी विद्यार्थी साधु-साध्वियों की तर्क शक्ति, निर्णायक शक्ति एवं वक्तृत्व कला के विकास में नया उत्साह भरने के लिए समय-समय पर अपनी सन्निधि में प्रतियोगिताओं का आयोजन करते रहते थे। वक्तृत्व-विकास के संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ का अनुभव उन्हीं के शब्दों में पठनीय है—'गुरुदेव हमें पक्ष-प्रतिपक्ष में बोलने का अवसर देते, प्रयोग करते। एक बार भीनासर में मैं और मुनि बुद्धमलजी पक्ष-प्रतिपक्ष में बोल रहे थे।

---

१. धर्म : एक कसौटी : एक रेखा पृ. १३७।

२. शिक्षा से मेरा तात्पर्य है—बालक के शरीर, मन, आत्मा और बुद्धि को सर्वोत्कृष्ट रूप को प्रस्फुटित कर उसमें सामंजस्य स्थापित करना।

३. अभिधान चिन्तामणि कोश ३/७।

चर्चा करते-करते हम इतने तेज बोलने लगे कि बाहर सड़क पर सैकड़ों लोग इकट्ठे हो गए। वे पूछने लगे—''क्या हुआ, महाराज लड़ने क्यों लगे हैं ?'' तब लोगों को बताया जाता कि लड़ाई नहीं हो रही है, चर्चा हो रही है। तत्त्वज्ञान की चर्चा चल रही है। इतनी स्वतंत्रता गुरुदेव हमें देते। जब दोनों पक्ष आमने-सामने आ जाते तो स्वयं उपसंहार में आचार्यश्री सामंजस्य बिठा देते।''

पूज्य गुरुदेव अध्यापन के साथ-साथ लेखन, शुद्ध वर्तनी, वक्तृत्व, कवित्व, वाद-विवाद एवं आशुकवित्व आदि का भी समय-समय पर विकास कराते रहते थे। जब उन्होंने शासन का भार संभाला, तब कोई भी साध्वी स्टेज पर खड़े होकर अपने विचार व्यक्त नहीं कर सकती थी। उनके परिश्रम और प्रेरणा से आज सैकड़ों साध्वियां एवं समणियां बड़ी से बड़ी विद्वत्परिषद् में धाराप्रवाह प्रवचन करने में सक्षम हैं। यहां वि. सं. २००८ का प्रसंग उद्धृत करना असमीचीन नहीं होगा। अध्यापन के अंत में गुरुदेव ने सभी साध्वियों को वक्तृत्व देने के लिए प्रेरित किया। सभी साध्वियां असमंजस की स्थिति में थीं। वे एक स्वर में बोलीं—''बिना पूर्व तैयारी के हम नहीं बोल सकतीं।'' गुरुदेव ने फरमाया—''आज नहीं तो कल, तैयारी करके आना।'' दूसरे दिन भी साध्वियों ने बोलने के लिए आना-कानी की, टालना चाहा लेकिन गुरुदेव ने आदेश देते हुए कहा—''बोलना सबको अनिवार्य है, चाहे कितना ही बोलो। **घुड़सवारी की भांति वक्तृत्व-कला अभ्यास के द्वारा ही अधिगत होती है। यदि जनता के बीच बोलने का अभ्यास नहीं होगा तो व्यक्तित्व अधूरा रहेगा। किसी कवि ने यहां तक कह दिया—''बोलणो न सीख्यो तो सब सीख्यो गयो धूल में।''** साध्वियों ने लड़खड़ाते हुए अपने विचार प्रस्तुत किए। अंत में गुरुदेव ने शिक्षा फरमाते हुए कहा— 'वक्तव्य देने वाला यह नहीं देखे कि मेरे सामने विद्वान् बैठे हैं। मैं कैसे बोलूंगा, इस भय से वह अपने विचारों की सम्यक् प्रस्तुति नहीं कर सकता। भाषण देते समय निम्न बातों का ध्यान वक्तृत्व को प्रभावी बना सकता है—

१. श्रोता किस धर्म में विश्वास रखते हैं ?

२. उनकी रुचि क्या है ?
३. उनकी शिक्षा कैसी है ?
४. वे किस वर्ग में काम करते हैं ?
५. वक्तव्य के अन्तर्गत दिए गए सैद्धान्तिक प्रमाणों की ठोसता है या नहीं ?
६. प्रतिपाद्य में नवीनता क्या है ?
७. प्रवचन में शाश्वत एवं सामयिक समस्याओं का समाधान है या नहीं ?
८. विषयानुकूल आर्ष वाणी के उद्धरणों का प्रयोग है या नहीं ?''

बात को आगे बढ़ाते हुए गुरुदेव ने कहा—''वाणी की स्पष्टता, मधुरता और प्रतिपादन शैली—इन सब बातों पर वक्ता को ध्यान रखना अनिवार्य है। वक्ता और श्रोताओं की तन्मयता ही वक्तव्य की सफलता का प्रमाण है। जो वक्ता समय और परिस्थिति देखकर बोलता है, वह श्रोताओं का हृदय जीत लेता है। **वक्तृत्व-कला के विकास हेतु दोहा, कवित्त, गीत, लोकोक्ति, कथा, चुटकुले आदि का संग्रह भी आवश्यक है। वक्तृत्व सामग्री के अभाव में अच्छे से अच्छा वक्ता भी असफल हो जाता है। वक्तृत्व गंभीर, सरस, साधार और आगम सम्मत होना चाहिए। अब तुम सब लोग लक्ष्य बनाओ कि मुझे अच्छा वक्ता बनना है।**''

जब कोई साधु, साध्वी या समणियां वक्तृत्व-संगोष्ठी में भाग नहीं लेतीं तो गुरुदेव उन्हें मनोवैज्ञानिक शैली में विकास की प्रेरणा देते थे। सन् १९६३ जनवरी मास का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव ने अपनी सन्निधि में साधु-साध्वियों की वक्तृत्व-गोष्ठी का आयोजन किया। उसमें कुछ साधु-साध्वियों ने भाग नहीं लिया। पूज्य गुरुदेव ने भविष्य के लिए प्रेरणा देते हुए कहा—''आज कई साधु-साध्वियों ने वक्तृत्व गोष्ठी में भाग नहीं लिया। उनका संकोच उनके ही विकास में अवरोधक है। युवा होने पर भी वे अपने को पुराना मान बैठे हैं। मैं नहीं चाहता कि वे अपने विकास के मार्ग को खुला नहीं रखें। उन्हें अपनी उदासीनता को मिटाकर आगे आना चाहिए।'' बात को मोड़

देते हुए संस्कृत रचना की प्रेरणा देते हुए उन्होंने कहा—''साधु-साध्वियां संस्कृत में स्फुट रचना अधिक करते हैं। स्वतंत्र काव्य-रचना की ओर उनका ध्यान कम गया है। वर्तमान में तुलसीमहाकाव्यम्, भिक्षुमहाकाव्यम्, अभिनिष्क्रमणम्, सम्बोधि, अश्रुवीणा, मुकुलम् और उत्तिष्ठत जाग्रत आदि ग्रन्थ मुख पर आते हैं। इस दृष्टि से औरों को भी प्रयास करके आगे आना चाहिए।[१]''

किशोरवय में भी अपने पास अध्ययनरत विद्यार्थी साधु के वक्तृत्व विकास हेतु पूज्य गुरुदेव उन्हें कविताएं या कवित्त बनाकर दिया करते थे। एक बार कालूगणी के पदारोहण दिवस पर मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ) को निम्न कवित्त बनाकर दिया—

''तात के पुत्र अनेक हुए, पण नंदन के पितु एक कहावै,
ज्यों घन के बहु इच्छु हुवै, पण चातक तो चित्त मेघ ही ध्यावै।
सागर के मछ कच्छ हुवै, बहु मीन तो चित्त समुद्र ही चावै,
ज्यों गुरु के बहु शिष्य हुवै, पण एक गुरु चित्त शिष्य कै भावै॥''

पूज्य गुरुदेव विद्यार्थी साधु-साध्वियों के सुलेख, स्पष्ट लेख एवं शुद्धलेख के प्रति भी बहुत जागरूक थे। अनेक बार वे अपने जीवन के अनुभवों से ही विद्यार्थियों को प्रेरणा देते थे कि किस प्रकार कालूगणी उनको सुंदर लेख के लिए प्रेरित करते थे एवं उसका अभ्यास करवाते थे। वे स्वयं भी साधुओं को इसका अभ्यास करवाते थे। सन् १९८४ की डायरी में गुरुदेव ने लिखा है—''अभी हम साधुओं को लेखन-शुद्धि का अभ्यास करवा रहे हैं। अच्छा रसप्रद वातावरण बन रहा है। आनंद का अनुभव हो रहा है।'' इतने महान् आचार्य, राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री भी जिनके चरणों की उपासना के लिए लालायित रहते थे, वे यदि इतने सामान्य कार्य में अपने समय का नियोजन करते हैं तो अवश्य ही यह उनके व्यक्तित्व का विशिष्ट पक्ष है और

---

१. १३/१/६३ के प्रवचन का अंश।

पाश्चात्य विचारक की इस उक्ति को सिद्ध करने वाला है कि साधारण रहकर या साधारण कार्य करके ही व्यक्ति असाधारण बन सकता है।

मुनि श्री सागरमलजी स्वामी के शब्दों में उन्होंने शिष्य समुदाय को शिक्षा, शोध, संस्कार, समन्वय, साधना, सेवा और साहित्य की धुरियों पर खूब घुमाया, पढ़ाया, बढ़ाया और बनाया। क्या नहीं किया उन्होंने ? जो भी धारा, वह कर दिखाया।'

जिस शिक्षा का उद्देश्य एक मात्र भौतिक विकास ही रह जाता है, वहां जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष अध्यात्म सर्वथा गौण हो जाता है। ऐसी शिक्षा से शिक्षित देश की युवा पीढ़ी न चारित्रिक मूल्यों को उन्नत कर पाती है, न राष्ट्रीय भावना को बढ़ा पाती है, न सामाजिकता का विकास कर सकती है और न पारिवारिक रिश्तों को मधुर बना सकती है। इस एक पीढ़ी की अपूर्णता एक साथ तीन-तीन पीढ़ियों के लिए त्रासदी बन जाती है।

शिक्षा को बनाएं .... पृ. ७४, आचार्य तुलसी

एक व्यक्ति अध्ययनशील तो नहीं पर साधनाशील है, उससे मैं प्रसन्न हूं। एक अध्ययनशील भी है और साधनाशील भी, मैं उससे बहुत प्रसन्न हूं। एक अध्ययनशील तो है पर साधनाशील नहीं, वह व्यक्ति मुझे प्रिय नहीं। एक अध्ययनशील भी नहीं और साधनाशील भी नहीं, वह तो किसी काम का ही नहीं।

एक बूंद ..... पृ. १३०२

३०. जीवन-व्यवहार का प्रशिक्षण

पुस्तकीय ज्ञान के साथ व्यावहारिक ज्ञान और व्यवहार-सुधार का प्रशिक्षण देने वाला अध्यापक अपनी शिक्षा को समर्थ और प्रभावी बना सकता है। आचार्य विनोबाभावे का मंतव्य है कि किसी भी शिक्षा का मध्यबिन्दु जीवन ही होना चाहिए जैसे कि ग्रह माला का मध्य सूर्य है।.....भगवद्गीता जैसे कुरुक्षेत्र में कही गई, वैसे ही शिक्षा जीवन क्षेत्र में देनी चाहिए, तभी वह सार्थक हो सकती है।''

यदि अध्यापक सुसंस्कृत व्यवहार से युक्त नहीं है, जीवन-व्यवहार का प्रशिक्षण नहीं देता है तो अध्यापन के दौरान न वह स्वयं आनंद का अनुभव कर सकता और न ही सम्मान का पात्र हो सकता है। वह अपने असामान्य व्यवहारों से विद्यार्थियों में भी नकारात्मक सोच उत्पन्न कर देता है। पूज्य गुरुदेव अनेक बार इस स्वर को अभिव्यक्ति देते थे—''**मैं शिक्षा का विरोधी नहीं, पर उसी शिक्षा को सार्थक मानता हूं, जो जीवन-व्यवहार को परिष्कृत करने वाली हो। जो शिक्षा जीवन का सही निर्माण न कर सके, ऐसी शिक्षा की कोई विशेष उपयोगिता मैं नहीं देखता, बल्कि कहना चाहिए कि वह मात्र भार है।**''

शिक्षक विद्यार्थी के लिए सामाजिक अंत:करण की भांति होते हैं अत: सभ्य समाज में कैसे व्यवहार करना, कैसी भाषा बोलना, यह सिखाना अध्यापक का नैतिक कर्तव्य है। यदि इस कर्तव्य का सम्यक् निर्वहन नहीं होता है तो ऐसे अध्यापक को समाज सहन नहीं कर सकेगा।''[१] योग्य अध्यापक शाश्वत सत्यों एवं व्यक्तिगत जीवन के बीच माध्यम का कार्य करता है। पूज्य गुरुदेव तुलसी पुस्तकीय ज्ञान से भी अधिक विद्यार्थी के उठने-बैठने, खाने-पीने और व्यवस्थित रहन-सहन के प्रशिक्षण के क्रम को अधिक महत्त्व देते थे। उनकी दृष्टि में पुस्तकीय ज्ञान से अधिक मूल्य चरित्र, स्वावलम्बन,

१. शिक्षण कला पृ. २२।

सहिष्णुता और श्रम का था। अध्यापन के दौरान वे बात-बात में व्यवहारकुशलता एवं पारस्परिक सामंजस्य के अनेक सूत्र संप्रेषित कर देते थे। इस संदर्भ में स्वामी विवेकानंद का चिन्तन भी अत्यन्त मार्मिक है—''**क्या वह शिक्षा कहलाने योग्य है, जो सामान्य जन-समूह को जीवन के संघर्ष के लिए अपने आपको तैयार करने में सहायता नहीं देती है और उनमें शेर का साहस उत्पन्न नहीं करती है।**''[१]

पूज्य गुरुदेव का अधिगम बहुविध और बहुआयामी था, यही कारण है कि वे विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों की व्यवहार चेतना और बौद्धिक चेतना को साथ-साथ जगा सके। अपने जीवन-व्यवहार से वे बाल-साधुओं की छोटी से छोटी क्रिया को कौशल के साथ सम्पन्न करने का प्रशिक्षण देते रहते थे। पाश्चात्य विचारक गेटे के अनुसार अध्यापन तभी सफल होता है, जब वह अपने अनुभव और जीवन-व्यवहार के द्वारा विद्यार्थी के जीवन में रूपान्तरण ला सके, पवित्र बना सके।'' यहां पूज्य गुरुदेव के जीवन के कुछ प्रेरक प्रसंग प्रस्तुत हैं, जब उन्होंने बात-बात में विद्यार्थी साधु-साध्वियों को जीवन-व्यवहार की सामान्य बातों का प्रशिक्षण दिया। ये जीवन्त प्रसंग आने वाली भावी पीढ़ी को भी प्रेरणा देते रहेंगे—

* लाडनूं में पूज्य गुरुदेव प्रज्ञाहॉल में टहल रहे थे। तीन बाल मुनि उनके साथ थे। सामने एक पशु की ओर इशारा करते हुए गुरुदेव ने पूछा—''यह कौन है?'' मुनि ने तत्काल उत्तर दिया—''यह भैंसा है।'' गुरुदेव ने फरमाया—''यह तुमने कैसे जाना?'' मुनि बाल सुलभ सहजता से बोले—''यह तो प्रत्यक्ष है।'' गुरुदेव ने वत्सलतापूर्वक उनका कान पकड़ते हुए कहा—''हमारी भाषा संयत और विवेकपूर्ण होनी चाहिए। दूर से हम कैसे निर्णय कर सकते हैं कि यह भैंसा है या भैंस अत: शब्द के साथ जाति शब्द का प्रयोग करो, जिससे भाषा का दोष न लगे।'' दशवैकालिक सूत्र की गाथा बताते

---

१. शिक्षा सिद्धान्त पृ. ३, डॉ शालिग्राम त्रिपाठी।

हुए गुरुदेव ने फरमाया—''पंचेन्द्रिय प्राणी में जब तक स्त्री और पुरुष के भेद का ज्ञान न हो, तब तक जाति शब्द का प्रयोग करना चाहिए। अन्यथा सत्य की सुरक्षा नहीं हो सकती।''[१] सभी विद्यार्थी संतों को भाषा समिति का सम्यक् प्रशिक्षण मिल गया।

* साध्वी आरोग्यश्रीजी गुरुदेव की उपासना में कोई लेख पढ़ रही थी। पुस्तक उनकी आंखों के बहुत निकट थी। गुरुदेव ने पूछा—''क्या तुम्हारी आंखें कमजोर हैं।'' उन्होंने कहा—''नहीं, आंखें तो ठीक हैं।'' तत्काल गुरुदेव ने फरमाया—''**पुस्तक और आंखों के बीच उचित दूरी होनी चाहिए। न अधिक दूर और न अधिक नजदीक। दोनों स्थितियों में आंख खराब होने की संभावना रहती है। पढ़ने का तरीका उचित होना चाहिए, जिससे नेत्र लंबे समय तक सहयोग कर सकें।**''

* दोपहर के समय पूज्य गुरुदेव युवा मुनियों को अन्ययोग व्यवच्छेदिका का अध्यापन कर रहे थे। अति गहन विषय चल रहा था। उसी समय सड़क पर कुत्ते भौंकने लगे। लगता था कोई दूसरा कुत्ता वहां आ गया। गुरुदेव ने प्रेरणा देते हुए कहा—'ये कुत्ते हैं पर इनमें कई गुण हैं। ये अत्यन्त सजग हैं। हलचल होते ही फौरन जाग जाते हैं। दूसरा गुण है—अपनी सीमा की सुरक्षा करना। अगर सीमा में दूसरा कुत्ता आ गया तो तब तक चैन से नहीं बैठेंगे, जब तक उसे भगा न दें। क्या इनकी एकता और सजगता सबके लिए अनुकरणीय नहीं है ? अगर ऐसी सजगता जीवन की हर क्रिया में आ जाए तो जीवन का सहज ही विकास हो सकता है।'' पूज्य गुरुदेव के द्वारा अध्यापन के दौरान दिए गए उस मार्मिक प्रशिक्षण ने सबके मन-मस्तिष्क को झंकृत कर दिया और भविष्य के लिए कृतसंकल्प भी।

* पूज्य गुरुदेव के हाथों में अणुव्रत के दो अंक थे। एक मुनि ने

---

१. दश ७/२१ ; पंचिंदियाण पाणाणं, एस इत्थी अयं पुमं।
जाव णं न विजाणेज्जा, ताव जाइ त्ति आलवे॥

कहा—'ये दोनों जनवरी के अंक हैं।'' गुरुदेव ने कहा—'नहीं, ये अलग-अलग अंक हैं।' मुनि ने पुन: अपनी बात की पुष्टि की तो गुरुदेव ने दोनों अंकों को दिखाते हुए कहा—'देखो, १ जनवरी का है और दूसरा १५ जनवरी का है। प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाई देने से मुनि भय और संकोच से भर गए। गुरुदेव ने वात्सल्य बरसाते हुए दार्शनिक सत्य प्रकट करते हुए कहा—''आंखों ने तुम्हें ही धोखा नहीं दिया, तुमसे पहले और भी संतों को ऐसा ही भ्रम हुआ है। व्यवहार में आंखें प्रमाण मानी जाती हैं। वास्तव में इन्द्रियों द्वारा जो प्रत्यक्ष होता है, वह सब सत्य नहीं होता। वास्तविक सत्य इन्द्रियों से परे होता है, इन्द्रियां केवल व्यवहार सत्य का बोध देती हैं। ग्रहण में यदि सतर्कता न हो तो व्यवहार सत्य भी नहीं मिलता। इसलिए कभी भी विवाद में आग्रह नहीं होना चाहिए। धोखा देने वाली आंखों पर विश्वास किया भी कैसे जा सकता है? जो करता है, उसे पश्चात्ताप करना होता है इसलिए अनुभवी साधकों ने कहा है—''आंखों पर विश्वास मत करो, ये अपूर्ण हैं। सत्य अतीन्द्रिय ज्ञान से मिलता है।'' **सत्य के विषय में गांधीजी का मंतव्य था कि सत्य और शिक्षा को अलग नहीं किया जा सकता। जो अध्यापक अपने विद्यार्थियों में सूक्ष्म सत्यनिष्ठा पैदा नहीं कर सकता, वह अपनी अर्हता में कमी ला देता है।''**

पूज्य गुरुदेव प्रत्येक विद्यार्थी साधु-साध्वी के व्यवहार का सूक्ष्म निरीक्षण करते थे। जहां कहीं उन्हें विनय-व्यवहार में कमी लगती, सम्बन्धित साधु को बुलाकर उसे मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रेरणा देते थे। उनकी मान्यता थी कि यदि विद्या के साथ विनय, सहिष्णुता, सहानुभूति, सहयोग और सद्भावना आदि गुणों का विकास नहीं होगा, आत्मत्याग एवं सामुदायिकता की भावना जागृत नहीं होगी तो अध्ययन भारभूत बन जाएगा तथा जीवन में भी समरसता नहीं आ सकेगी। विनय से रहित विद्या वैसे ही निष्फल होती है, जैसे धान्य के बिना खेती।

सुजानगढ़ का प्रसंग है। साधु-साध्वियों की परम्परागत अध्ययन की परीक्षाएं चल रही थीं। उस दिन एक साधु को छोड़कर प्राय: सभी साधु गुरुदेव

को बिना वंदन किए एवं बिना मंगलपाठ सुने परीक्षा देने चले गए। गुरुदेव ने फरमाया—''सारे परीक्षार्थी साधुओं को यहां बुलाओ। साधुओं के आने पर उन्हें प्रतिबोध देते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''**विद्या को तुम लोग इतना महत्त्व देते हो कि उसमें विनय का कोई स्थान ही न रहे। परीक्षा देने के लिए जा रहे हो और बिना गुरु का आशीर्वाद पाए उसमें सफल हो पाओगे, क्या यह कल्पना भी की जा सकती है ?** ऐसे अवसरों पर मैं कुछ कहूं, यह अटपटा सा लगता है पर कर्तव्यवश मुझे कहना पड़ रहा है। हमारे शासन में विद्या की अपेक्षा विनय और विवेक की प्राथमिकता है। विनय में कमी आती है तो समझ लो विद्या की क्षति भी हो गई।.....मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे हृदय में विनय की कमी नहीं है पर व्यवहार भी तो एक तथ्य होता है। क्या तुम्हें भी पढ़-लिखकर आज के विद्यार्थियों की भांति विनय शून्य बनना है ? यदि ऐसी गलतियां पुन: दुहराई गईं तो मैं समझता हूँ कि मुझे शिक्षा ही बंद करनी पड़ेगी। मैं शिक्षा की कमी सहन कर सकता हूं पर जीवन संस्कारहीन हो जाए, यह मुझसे नहीं सहा जाता। मैं सबको उच्च संस्कारों से संस्कारित देखता चाहता हूं।'' पूज्य गुरुदेव का कठोर लेकिन हितकर उपालम्भ सुनकर सबको अपनी गलती पर पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने पंचांग प्रणति करते हुए गलती पर अनुताप व्यक्त किया। पूज्य गुरुदेव ने भी प्रसन्न मन से मुस्कराते हुए उन्हें परीक्षा में सफल होने का आशीर्वाद दिया। सारे विद्यार्थी प्रसन्नमन से जीवन-व्यवहार का नया प्रतिबोध लेकर परीक्षा देने चले गए।

अध्यापन के दौरान पूज्य गुरुदेव अनेक बार साधु-साध्वियों को इस बात का प्रशिक्षण देते रहते थे कि उच्च विद्या प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हीनभावना और अहंभावना से बचा जाए। हीनभावना आने पर चिंतन करो कि असफलता सफलता की पहली सीढ़ी है। असफलता को लांघकर ही व्यक्ति सफलता के द्वार पर दस्तक देता है। जो विद्यार्थी प्रारम्भिक असफलता को देखकर हीनता की ग्रंथि से ग्रसित हो जाता है, वह सफलता को नहीं पा सकता। अहंकार आने पर सोचा जाए कि केवलज्ञान की अनंत ज्ञानराशि के

समक्ष मेरा ज्ञान सूर्य के सामने एक टिमटिमाते दीपक जैसा है। जब हरिभद्र और मानतुंग जैसे उद्भट विद्वान् आचार्य भी स्वयं को अल्पज्ञानी कहकर संबोधित करते हैं, तब हम अपने अल्पज्ञान का अहंकार क्यों करें?''

पूज्य गुरुदेव जब देखते कि अमुक साधु या साध्वी ज्ञान से उत्पन्न मद के हाथी पर सवार हो गया है तो वे तत्काल अनुशासन के अंकुश से उसका अहं नीचे उतार देते थे। जब कभी वे देखते कि अमुक साधु-साध्वी या समणी हीनभावना से प्रभावित होकर प्रगतिपथ से पिछड़ गई है तो उसका आत्मबल जागृत करके उसे विकास के पथ पर अग्रसर कर देते थे।

अध्यापन के साथ पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी का जीवन-व्यवहार का मार्मिक प्रशिक्षण आज की शिक्षा पद्धति के लिए नया प्रतिबोध है। यदि प्रत्येक शिक्षक इस दृष्टि से जागरूक हो जाए तो चरित्र हनन संबंधी अनेक पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का सहज समाधान संभव है।

पचास बड़े-बड़े पोथे पढ़कर भी यदि व्यक्ति ने यह नहीं सीखा कि उसे आचारनिष्ठ रहना चाहिए, किसी को पीड़ा नहीं देनी चाहिए तो उसका ज्ञान भारभूत है। इस कथन का यह तात्पर्य भी नहीं कि पुस्तकीय ज्ञान सर्वदा अनुपयोगी है, अनुपादेय है। वह भी उपयोगी है, उपादेय है, बशर्ते वह व्यक्ति को आचारसम्पन्न बनाने में निमित्तभूत बने। दूसरे शब्दों में यों भी समझा जा सकता हैं कि पुस्तकीय ज्ञान आचार के साथ ही शोभित होता है। जीवन-यापन की शिक्षा जीवन जीने की कला के साथ जुड़कर ही सार्थक हो पाती है।

शिक्षा को बनाएं .... पृ. १२२, आचार्य तुलसी

३१. अनेक विषयों का अध्यापन

जैन आचार्यों ने विद्यार्थी को सर्वांगीण ज्ञान कराने हेतु शिक्षण में निक्षेप विधि का विकास किया। निक्षेप पद्धति के माध्यम से विद्यार्थी उस विषय से सम्बन्धित सभी क्षेत्रों का विस्तृत ज्ञान कर लेता था। पाश्चात्य विचारक योकन और सिम्पसन का अभिमत है कि अच्छे अध्यापक का दायित्व है कि वह विद्यार्थी को एकांगी न बनाकर एक विषय के साथ अनेक विषयों की जानकारी प्रदान करे। उसके मस्तिष्क को उर्वर बनाकर सही दृष्टिकोण का विकास करे। अच्छा शिक्षण विद्यार्थी के सम्मुख अनुसंधान के नए क्षेत्र प्रस्तुत करता है, एक विषय के अन्तर्गत उसे अन्य नए विषयों से अवगत कराता है, जिससे वह जीवन के किसी भी मोर्चे पर परास्त न हो।''[१]

अध्यापन के समय आचार्य तुलसी की प्रेरणा रहती थी कि एक विषय में अधिकृत योग्यता प्राप्त करनी चाहिए लेकिन सामान्य ज्ञान अनेक विषयों का होना चाहिए। भारत की प्राचीन परम्परा रही है कि **'एकं शास्त्रमधीयानः न किंचिदपि शास्त्रं विजानाति'** केवल एक शास्त्र को जानने वाला कुछ भी नहीं जानता। पूज्य गुरुदेव तुलसी एक साथ विविध विषयों की जानकारी देते हुए विद्यार्थी को बहुश्रुतता की दिशा में प्रस्थित कर देते थे।

प्रायः देखा जाता है कि एक सामान्य अध्यापक किसी एक ही अधिकृत विषय का अध्यापन सम्यग् प्रकार से कर सकता है, अनेक विषयों में उसकी गति नहीं होती। पूज्य गुरुदेव इसके अपवाद थे। उन्होंने अपने जीवन में अनेक विषयों का अध्यापन किया। यद्यपि संस्कृत-साहित्य, दर्शन, व्याकरण एवं संगीत—ये उनकी रुचि के विषय थे लेकिन समय-समय पर वे आगम, इतिहास, तत्त्वज्ञान, योग आदि से संबंधित ग्रंथों का अध्यापन भी करते रहते थे। उन्होंने समय-समय पर पातञ्जल योग दर्शन, कौटिल्य अर्थशास्त्र,

---

१. Modern Methods and Technique of teaching P. 11 Yoakan and Simpson.।

तत्त्वालोकालंकार, तत्त्वार्थराजवार्तिक, स्याद्वादरत्नाकर, प्रमाणमीमांसा, षड्दर्शनसमुच्चय तथा छान्दोग्य उपनिषद् आदि प्राचीन गंभीर ग्रंथों का अध्यापन भी किया।

एक विषय के अध्यापन के साथ पूज्य गुरुदेव विद्यार्थियों को प्रसंगवश अनेक विषयों की जानकारी देते रहते थे। सन् १९८६ लाडनूं का प्रसंग है। एक बार विद्यार्थी साधु-साध्वियों से पूज्य गुरुदेव ने पूछा—''हस्तलिखित प्रतियों में कलात्मक ढंग से बीच में खाली जगह छोड़ी जाती है, इसका उद्देश्य क्या है? कोई भी साधु-साध्वी सटीक उत्तर नहीं दे सके। पूज्य गुरुदेव ने उनको समाहित करते हुए कहा—''प्राचीन काल में वास्तुकला का अधिक विकास नहीं था अत: लोग कच्चे मकानों में रहते थे। नमी के कारण वहां दीमक आदि की संभावना रहती थी अत: पुस्तकों की सुरक्षा के लिए छेद करके पुस्तकों को फानूस की भांति लटका दिया जाता था, जिससे दीमक का भय नहीं रहता था।'' गुरुदेव तुलसी से प्राचीनकाल में प्रति की सुरक्षा हेतु नई जानकारी प्राप्त करके सभी साधु-साध्वियां कृतार्थ हो गईं।

एक बार पूज्य गुरुदेव बाल मुनि कुमारश्रमण एवं अन्य शैक्ष साधुओं का अध्यापन कर रहे थे। गहन अध्ययन के बीच मनोरंजन एवं ज्ञानवृद्धि हेतु गुरुदेव ने उनको निम्न दोहे का अर्थ करने को कहा—

पापकरण में मन लग्यो, पापकरण रो जोग।
पापकर्यां प्रभुता मिले, पापकरो सब लोग॥

इस पद्य को सुनकर सभी शैक्ष मुनि असमंजस में पड़ गए। कोई भी सही अर्थ नहीं कर सका। कुछ समय बाद इस पद्य में आए श्लेष को स्पष्ट करते हुए गुरुदेव ने कहा—''यहां पापकरण—पाप करना अर्थ नहीं अपितु पापकरण अर्थात् पैर पकड़ना अर्थ अभीष्ट है। पैर पकड़ने से क्या लाभ होता है, यह बताया गया है। व्यावहारिक और श्लेष युक्त उक्त पद्य का अर्थ सुनकर सभी विद्यार्थी साधु आनंद-सागर में निमग्न हो गए।

कुछ समणियों ने स्नातक वर्ष उत्तीर्ण किया। परीक्षा परिणाम लेकर जब वे पूज्य गुरुदेव के समक्ष पहुंचीं तो गुरुदेव ने पूछा—''स्नातक पास किया

है तो बताओ स्नातक का अर्थ क्या होता है ?'' समणियों ने सोचा जब गुरुदेव पूछ रहे हैं तो अवश्य ही कोई विशेष अर्थ होना चाहिए। असमंजस की स्थिति में उत्तर देने का साहस कोई समणी नहीं कर सकी। गुरुदेव ने फरमाया— ''**स्नातक का अर्थ है—स्नान किया हुआ। स्नातक होने के बाद भी यदि मानसिक और भावनात्मक स्तर पर शुद्धीकरण की प्रक्रिया चालू नहीं होती तो डिग्री का कोई महत्त्व नहीं होता।**'' गुरुदेव के मुख से स्नातक की व्याख्या सुनकर सभी समणियां गहन चिन्तन में लीन हो गईं।

धार्मिक आचार्य होते हुए भी उन्होंने विद्यार्थी साधु-साध्वियों की ज्ञानवृद्धि हेतु शृंगारवैराग्यतरंगिणी, शृंगारशतक एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् आदि अनेक शृंगाररस के ग्रंथ भी पढ़ाए। अपनी प्रत्युपन्न प्रतिभा से वे उत्कट शृंगाररस के पद्य को भी वैराग्य रस में परिणत कर देते थे। एक बार पूज्य गुरुदेव 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक का अध्यापन कर रहे थे। एक प्रसंग में दुष्यन्त शकुन्तला के शारीरिक सौन्दर्य का शृंगार प्रधान चित्र खींचते हुए कहता है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै,
रनाविद्धं रत्नं मधुनवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानाम् फलमिव च तद्रूपमनघं,
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥

पूज्य गुरुदेव ने इसका शाब्दिक अर्थ बताने के बाद इस पद्य की दूसरे नय से व्याख्या करते हुए कहा—''विद्यार्थी जीवन ऐसे पुष्प के समान है, जिसे आज तक किसी ने सूंघा नहीं है, ऐसा किसलय है, जो नखों से अविद्ध है, ऐसा अमूल्य रत्न है, जो बींधा नहीं गया है। ऐसा नव मधु है, जिसका रस चखा नहीं गया है। अखण्ड पुण्यों के फल से यह पवित्र विद्यार्थी जीवन मिलता है। अब देखना है कि विधि किस भोक्ता को उपस्थित करती है, जो इस जीवन का सही उपयोग कर सके।'' आचार्यवर ने प्रेरणा देते हुए कहा—''विद्यार्थी जीवन जीवन का स्वर्णिम काल है। इसका जो सही उपयोग करता है, वही आगे जाकर विकास के पथ पर आरोहण कर सकता है।''

३२. संस्कृति का संवहन

संस्कृति किसी भी राष्ट्र की धरोहर होती है। शिक्षा और संस्कृति का अविनाभावी व्यापक सम्बन्ध है। इससे किसी भी देश की संस्कृति का निर्माण ही नहीं होता, उसे नया मोड़ भी मिलता है। शिक्षण का उद्देश्य है—अतीत की सांस्कृतिक धरोहर को सुरक्षित रखना तथा उसके माहात्म्य को स्थापित करके आने वाली पीढ़ी में उसे संक्रमित करना। इसके बिना बालक सांस्कृतिक आदर्शों से परिचित नहीं हो पाता। गांधीजी के अभिमत से अक्षरज्ञान से भी अधिक महत्त्व शिक्षा के सांस्कृतिक पहलू का है। संस्कृति के अभाव में शिक्षा नि:सार और निष्प्रयोजन हो जाती है। शिक्षा द्वारा ही मनुष्य सुसंस्कृत और सभ्य बनता है। सांस्कृतिक मूल्यों से संयुक्त शिक्षा व्यक्ति को संकीर्ण दृष्टि से ऊपर उठाकर उसमें विश्वव्यापी सोच पैदा करती है। विवेकानंद के अनुसार शिक्षा का मूल उद्देश्य यह होना चाहिए कि राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपनी संस्कृति को पहचाने, समझे और उसे अपने जीवन में अपनाए।''

गुरुदेव श्री तुलसी का मंतव्य था कि शिक्षक और संत—ये दो वर्ग संस्कृति के संवाहक होते हैं। वे माली की भांति विद्यार्थी के संस्कारों की जड़ों में खाद देते हैं और अपने श्रम से उन्हें सींचकर विराट् रूप प्रदान करते हैं। यदि वे इस दायित्व का सम्यक् प्रकार से निर्वहन नहीं करते हैं तो भावी पीढ़ी के निर्माण में बहुत बड़ी कमी रह जाती है। संस्कारविहीन शिक्षा से अन्तरंग व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो सकता।''

उपयुक्त समय पर विद्यार्थी के हृदय को यदि सत्संस्कार मिल जाते हैं, उसके जीवन में सांस्कृतिक मूल्यों की आस्था बिठा दी जाती है तो शिक्षा के साथ अहंकृत बुद्धि से होने वाली दुस्संभावनाओं का डर कम हो जाता है। शिक्षा और संस्कृति के संबंध के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए पाश्चात्य विद्वान् ब्रामेल्ड कहते हैं कि संस्कृति की सामग्री से ही शिक्षा का प्रत्यक्ष रूप से निर्माण होता है और यही सामग्री शिक्षा को न केवल उसके

स्वयं के उपकरण वरन् उसके अस्तित्व का कारण भी प्रदान करती है।''[१] प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री ओटावे भी इस कथन का समर्थन करते हुए कहते हैं कि शिक्षा का कार्य है—समाज के सांस्कृतिक मूल्यों और व्यवहार के प्रतिमानों को उसके तरुण और समर्थ सदस्यों को हस्तान्तरित करना।''

गुरुदेव तुलसी शिक्षा को संस्कृति के पूरक तत्त्व के रूप में ग्रहण करते थे। शिक्षा संस्कृति को परिष्कृत करने का एक अंग है। उनका स्पष्ट चिंतन था कि शिक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण करके हम न तो उन्नत बन सकते हैं और न ही अपने अस्तित्व की रक्षा करने में कामयाब हो सकते हैं। **विलायती को भी हम भारतीय बना सकें, यह हमारी विशेषता होनी चाहिए। बाहर से आयातित संस्कृति हमारी भारतीय भूमि के लिए कितनी अनुकूल है, यह विवेक सापेक्ष है। यदि केवल दूसरों की नकल करके अपनी परम्परा में बदलाव कर दिया जाएगा तो हमारी मूल संस्कृति विद्रूप हो जाएगी।** वे अनेक बार प्रवचनों में इस क्रान्त स्वर को बुलन्द करते थे कि भारतीय संस्कृति को विदेशी लोगों से उतना खतरा नहीं, जितना इस संस्कृति को जीने वालों से है क्योंकि वे अपनी संस्कृति को महत्त्व न देकर दूसरों को महत्त्व प्रदान कर रहे हैं।''[२]

पूज्य गुरुदेव शिक्षा के साथ संस्कार-निर्माण को वरीयता देते थे। जिससे विद्यार्थी यथार्थ की जमीन पर खड़ा होकर अपने जीवन को देखे और आने वाले उतार-चढ़ावों में संतुलन बनाए रखे। अपनी आत्मकथा में उन्होंने इसी सत्य को प्रस्तुति दी है—''मेरे अभिमत से अच्छे संस्कारों के अभाव में शिक्षा बहुआयामी लाभ नहीं दे सकती। संस्कारविहीन शिक्षा बिना नमक की

---

१. "It is from the stuff of culture that education is directly created and that gives to education not only its own tools and materials but its reason for existing all"— Cultural Foundation of Education, P. 6, Theodore Brameld।

२. आचार्य तुलसी साहित्य : एक पर्यवेक्षण, पृ. ५०।

रोटी के समान है।'' आचार्य तुलसी द्वारा बाल साधुओं को उच्च संस्कार देने का कार्य दिन में अनेक बार विविध रूपों में चलता रहता था। कुमारश्रमणजी ने लघुवय में दीक्षा ग्रहण की। गुरुदेव उनको समय-समय पर अनेक बातों का प्रशिक्षण देते रहते थे। एक दिन बालमुनि कुमारश्रमणजी गुरुदेव की सन्निधि में स्वाध्याय कर रहे थे। गुरुदेव ने एक प्राचीन लोक कहावत के माध्यम से संस्कार-वपन करते हुए कहा—

घणी गई थोड़ी रही, अब भी मन समझाय।
पाछल खेती नीपजै, तो हि दरिद्दर जाय॥

पूज्य गुरुदेव ने उनकी वय को देखते हुए तत्काल आशु कविता के माध्यम से बोध देते हुए कहा—

तीन बरस तो बीत ग्या, बैठयो क्यूं बेभान?।
बलि बलि बाहुड ना मिलै, आ शैशव की शान॥
मार पछार प्रमाद नै, शिशु मुनि श्रमणकुमार।
ओ अमोघ अवसर मिल्यो, क्षण मत खो बेकार॥

उत्तर प्रदेश की यात्रा में पूज्य गुरुदेव ने अध्यापन के दौरान प्रतिबोध देते हुए कहा—''हमें अपनी संस्कृति के प्रति जागरूक रहना चाहिए। यदि उपमा या लोकोक्ति का प्रयोग करना हो तो वह भी जैन संस्कृति के अनुरूप होनी चाहिए।'' उदाहरण देते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''**यदि किसी कार्य की असंभाव्यता प्रकट करना है तो प्रायः यह कहा जाता है कि भले सूर्य इधर से उधर हो जाए पर यह कार्य नहीं हो सकता। इसके स्थान पर हम जैन संस्कृति को उजागर करने वाले इस वाक्य का प्रयोग करें—यह कार्य अभव्य को भव्य बनाने जैसा है।**''

एक बार पूज्य गुरुदेव जैन विश्व भारती संस्थान में पधारे। गुरुदेव के प्रवचन में कुशल अध्यापक के जीवन-निर्माण सम्बन्धी अनेक बातों का सरस विवेचन था। प्राध्यापक तन्मय होकर गुरुदेव के प्रवचन-रस का पान कर रहे थे। प्रवचन के अंत में गुरुदेव ने फरमाया—''मैं अपनी त्रुटि स्वीकार करता हूँ

कि इतने दिन आप लोगों के बीच क्यों नहीं आया ? मैं आज आप लोगों को प्रभावित करने नहीं, पर अनुशास्ता होने के कारण भावित एवं संस्कारित करने आया हूँ। आप सब लोगों का जीवन भारतीय संस्कृति के अनुरूप होगा, तभी यह विश्वविद्यालय अपना अद्वितीय स्थान बना पाएगा।''

पूज्य गुरुदेव शिक्षा के साथ श्रम की संस्कृति को उज्जीवित रखना चाहते थे। स्नातक या स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी यदि शारीरिक श्रम करने में शर्म की अनुभूति करता है तो इसका अर्थ है कि उसने शिक्षा के मर्म को नहीं समझा है। एक बार विश्वविद्यालय के शिक्षकों को प्रेरणा देते हुए पूज्य गुरुदेव ने कहा—''**अकर्मण्यता सफलता की सबसे बड़ी शत्रु है। श्रम से विमुख होना विकास से विमुख होना है। बौद्धिक लोग यानी शिक्षक श्रम का अंकन नहीं कर पा रहे हैं। वे अपने व्यवहार से बच्चों को श्रम का पाठ पढ़ाएं।** श्रम में लज्जा की अनुभूति नहीं अपितु गौरव की अनुभूति होनी चाहिए। कठोर श्रम का प्रवाह रुकने से आज शिक्षा एकांगी हो गई है। श्रम को छोटे-बड़े का प्रतीक मानना उचित नहीं है। ऊंचे से ऊंचे पद पर रहकर छोटे से छोटे काम करने में संकोच न हो, तभी शिक्षा सार्थक होती है।'' इसी संदर्भ में विद्यार्थियों को झकझोरने वाली निम्न उक्तियां और संस्मरण भी कितने वेधक बन पड़े हैं—

*''यह एक प्रकार की दुर्बलता है कि व्यक्ति खेती के लिए श्रम तो नहीं करता पर अच्छी फसल चाहता है। दही मथने का श्रम नहीं करता पर मक्खन पाना चाहता है। व्यवसाय में पुरुषार्थ का नियोजन नहीं करता पर धनपति बनना चाहता है। पढ़ने में समय लगाकर मेहनत नहीं करता पर परीक्षा में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होना चाहता है। शिक्षा के साथ विद्यार्थी को यदि श्रम करने की प्रेरणा नहीं दी गई तो उसका अध्ययन व्यावहारिक जीवन में असफल हो जाएगा।''

* शिक्षा के विकास का यह अर्थ नहीं कि शरीर का श्रम या पैतृक व्यवसाय में हीनता का अनुभव किया जाए। हाथ, हृदय और बुद्धि का

समन्वित प्रयोग ही शिक्षा की सार्थकता है। श्रम करना समय नष्ट करना नहीं है।

* हार्ट, किडनी, श्वास आदि हर क्षण अपना काम करते रहते हैं। घड़ी भी हर क्षण बिना विराम लिए चल रही है। सूर्य प्रतिक्षण गति की प्रेरणा देता है। पर मनुष्य इन प्राकृतिक वस्तुओं से प्रशिक्षण नहीं लेता, पता नहीं क्यों स्वयं को बड़ा मानकर प्रमादी और परावलम्बी बन जाता है।

समय-समय पर घटना विशेष से भी गुरुदेव तुलसी श्रम की प्रेरणा देते रहते थे। प्रात:काल साढ़े चार बजे का समय था। अनेक साधुओं के साथ पूज्य गुरुदेव स्वाध्यायरत थे। पिछली रात तेज आंधी आने से पूरा कमरा धूल से भरा हुआ था। एक भाई हाथ में झाड़ू लेकर कमरा साफ करने आया। गुरुदेव के मन में इस बात की तत्काल प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने विद्यार्थी साधुओं को प्रतिबोध देते हुए कहा—''हमारे आसपास धूल जमी हुई है, क्या हम इसे स्वयं साफ नहीं कर सकते? स्वाध्याय, ध्यान और शिक्षण से भी अधिक महत्त्व इस बात का है कि हम अपने परिपार्श्व को अपनी साधना के अनुरूप बनाएं। क्या स्थान की अस्वच्छता मन की स्वच्छता में सहयोग करेगी? हमारे साधु-संघ में अमीरीपन क्यों आए? श्रम की प्रतिष्ठा हमारे द्वारा नहीं होगी तो कौन करेगा? मैं आवश्यक समझता हूँ कि साधु-साध्वियां जिस कमरे में रहें, कम से कम एक बार वहां की सफाई स्वयं करें। स्वावलम्बी आदमी को किसी भी कार्य के लिए दूसरे की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।'' गुरुदेव से प्रतिबोध प्राप्त करके संत तत्काल रजोहरण लेकर आए और कमरा साफ कर दिया। दूसरे दिन आंधी आने पर बिना किसी प्रेरणा के संतों ने कमरा स्वच्छ कर दिया। इसे देखकर गुरुदेव को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

पूज्य गुरुदेव ने स्वयं अनेक कठिनाइयां सहन करके ज्ञान प्राप्त किया अत: वे विद्यार्थियों को भी कठोर श्रम एवं कठिनाई सहने की प्रेरणा देते रहते थे। **उनका मंतव्य था कि सुख-सुविधाएं क्षणिक आनन्द अवश्य देती हैं लेकिन उसका परिणाम सुखद नहीं होता। जो ज्ञान बिना परिश्रम के प्राप्त**

होता है, उसे प्राप्त करने में आनंद की अनुभूति नहीं हो सकती और न ही वह किसी महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। अध्यापन के दौरान वे अनेक बार निम्न पद्य विद्यार्थियों को सिखाया करते थे—

सुहेण भाविदं नाणं, दुहे जादे विणस्सदि।
दुहेण भाविदं नाणं, सुहे जादे न णस्सदि॥

अर्थात् सुख से प्राप्त ज्ञान दु:ख आने पर नष्ट हो जाता है, लेकिन जो ज्ञान कठिनाई एवं दु:ख से प्राप्त किया जाता है, वह सुख आने पर नष्ट नहीं होता।

अपने विद्यार्थी जीवन का अनुभव लिखते हुए पूज्य गुरुदेव कहते हैं—''उस समय पढ़ने के लिए कितनी कठिनाइयां झेलनी पड़ीं, इस बात को या तो मैं जानता हूँ या पूज्य गुरुदेव कालूगणी जानते थे। वे अन्य विषय में हमारे प्रति अत्यन्त दयालु एवं कृपालु थे पर अध्ययन के मामले में पूरे कठोर थे। उनकी कठोरता को सहन कर मैं कुछ बन सका, इसका मुझे बहुत अधिक गौरव है।''

गुरुदेव तुलसी अध्ययनरत साधु-साध्वियों के अध्ययन का पूरा ध्यान रखते थे लेकिन अध्ययन भारी न हो, काम-काज एवं व्यावहारिक जीवन में अंतर न आए, साधना गौण न बने, इस बात का भी पूरा ध्यान रखते थे और समय-समय पर कठोर जीवन जीने की प्रेरणा देते रहते थे।

सन् १९६८ का प्रसंग है। दोपहर की चिलचिलाती धूप में प्रवचन के लिए शामियाने की व्यवस्था की गई। पंडाल के लिए खूंटा गाड़ना था अत: एक शहरी युवक ने दो-तीन बार जमीन पर फावड़ा चलाया किन्तु वह जमीन नहीं खोद सका। हांफने के कारण थककर वह एक ओर बैठ गया। फतेहगढ़ के एक दूसरे भाई ने फावड़ा चलाकर गड्ढा खोदा और पाल बांध दिया। पास बैठे अध्ययनरत विद्यार्थी साधुओं को प्रेरणा देते हुए गुरुदेव ने फरमाया—**''अमीरी से अमरीकीपन बढ़ता है। अमेरिका में ज्यों-ज्यों अमीरी बढ़ी, त्यों-त्यों हाथ-पैर निकम्मे होने लग गए। मुझे भय है कि यह अमीरी तुम**

लोगों के जीवन में न आ जाए।.....सुविधाओं को बढ़ाने की बातें एक बार मीठी लगती हैं किन्तु उन्हें बढ़ाने वाले साधक अपने चारों ओर दुःख और अशांति की दीवार खड़ी कर लेते हैं। यदि तुम लोग दुःख नहीं चाहते हो तो सुविधाओं को छोड़ना होगा।'' व्यवहार-बोध में भी काव्य की भाषा में उन्होंने यही प्रेरणा संप्रेषित की है—

समय-समय पर सुविधावाद छोड़कर श्रमनिष्ठा हेतु दी गई प्रेरणा विद्यार्थी साधु-साध्वी को सदैव कर्मण्य बनाए रखती थी। कठोर जीवन जीकर भी वे सदैव प्रसन्नता की अनुभूति करते थे।

* छोटी-छोटी मर्यादा पर लापरवाही,
धीरे-धीरे बढ़ती ही जाएगी खाई।
प्रतिस्रोत का पथ जो हमने अपनाया है,
खबरदार! जो सुविधावाद पनप पाया है॥

व्यवहारबोध पृ. ५९, आचार्य तुलसी

अपना ही वर्चस्व रहे, एकांगी चिंतन घातक है,
तैल बिंदु जल पर छा जाए, वैसे छा जाना पातक है।
क्षीर-नीर सम मिलना जाने, वही सचेतन चातक है।।

व्यवहार बोध, आचार्य तुलसी

३३. कंठस्थ ज्ञान एवं उसके अर्थ की प्रेरणा

प्राचीन काल में १२ साल तक शिष्य को केवल सूत्र कंठस्थ कराए जाते फिर उनका अर्थ हृदयंगम कराया जाता था। आचार्य विनोबाभावे ने अपने विद्यार्थी काल में लगभग २५ हजार श्लोक याद किए। उनका मानना था कि प्रत्येक विद्यार्थी को प्रारम्भ में उत्तम अर्थज्ञान से युक्त कम से कम दस हजार पद्य तो याद रहने ही चाहिए। आज की शिक्षा में बहुत बड़ी कमी है कि सारा ज्ञान पुस्तकों में ही रह जाता है, कंठ में नहीं आता। पुस्तकीय विद्या समय पर काम नहीं आती इसलिए विद्या कंठगत ही होनी चाहिए।''[१] वर्तमान शिक्षा पद्धति कंठस्थ ज्ञान को अनुपयोगी और रूढ़ मानकर इसे उपेक्षित करती है। कम्प्यूटर के युग में लोग कंठस्थ करना भूल-सा गए हैं। इस यांत्रिक युग में भी पूज्य गुरुदेव तुलसी ने कंठस्थ की परम्परा को जीवित रखा। उन्होंने अपने बाल्यकाल में २० हजार श्लोक याद करके एक कीर्तिमान स्थापित किया। कुछ ग्रंथों को तो उन्होंने आचार्य बनने के बाद कंठस्थ किया। प्रसंगवश एक बार एक मुनि ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए गुरुदेव से पूछा—''आपने आचार्य बनने के बाद 'शान्त सुधारस' जैसा बड़ा ग्रंथ कैसे कंठस्थ कर लिया?'' गुरुदेव ने फरमाया—''एक शांत सुधारस ही नहीं, मैंने तो आचार्य बनने के बाद बहुत चीजें सीखी हैं। ज्ञान कंठस्थ करने में न पद बाधा है और न व्यवस्था। लगन और दृढ़ संकल्प होना चाहिए। बीदासर में स्थित साध्वी सूरजकुमारीजी (खाटू) ने भयंकर गठिया रोग की स्थिति में एक-एक बोल सुनकर व्यवहार बोध और अर्हत् वाणी कंठस्थ कर ली। मंत्री मुनि मगनलालजी ने मेरे थोड़े से संकेत को प्राप्त करके वृद्धावस्था में नई पंचपद वंदना तथा उत्तराध्ययन के कई अध्ययन कंठस्थ कर लिए। आंतरिक लगन हो तो कुछ भी असंभव नहीं है।''

---

१. शिक्षा विचार पृ. ८०।

गुरुदेव तुलसी के स्मृति प्रकोष्ठ बहुत जागृत थे। वर्षों पूर्व पढ़े हुए ग्रंथों के उद्धरण तत्काल उनके स्मृति-पथ पर अवतरित हो जाते थे। अध्यापन के समय उनके प्रयोग से विद्यार्थी के मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव पड़ता था। बाल साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों को वे व्याकरण, कोश एवं काव्य ग्रंथों को कंठस्थ करने की प्रेरणा देते रहते थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि बचपन में किया गया कंठस्थ ज्ञान आगे चलकर ज्ञान का ठोस आधार बन जाता है। जब कोई साधु या साध्वी उनके सामने समस्या रखते कि कंठस्थ करने में माथापच्ची बहुत होती है। रटते-रटते सिर में दर्द हो जाता है तो उन्हें समाहित करते हुए पूज्य गुरुदेव कहते थे—''**बचपन में हिलते हुए जोर-जोर से रटना चाहिए। जिस प्रकार बड़ी कोठी में अनाज डालते समय हिला-हिलाकर भरा जाता है तो उसमें अधिक अनाज समा जाता है, उसी प्रकार बालक भी एकाग्र होकर हिलते हुए कंठस्थ करे तो अधिक कंठस्थ होता है। बाल्यावस्था में रट-रटकर जितना भर सको, उतना भरते चलो।.....प्रतिदिन यदि एक गाथा भी कंठस्थ की जाती है तो वर्ष में ३६५ गाथाएं तुम लोगों की निजी सम्पत्ति बन जाएगी।**''

पूज्य गुरुदेव कभी प्रलोभन, कभी प्रोत्साहन, कभी प्रशंसा, कभी प्रेरणा, कभी उपालम्भ तथा कभी शिक्षा—इन सब विधियों से विद्यार्थी साधु-साध्वियों को कंठस्थ करने की प्रेरणा देते रहते थे। इस क्रम से अनेक ऐसे व्यक्ति, जिनको कंठस्थ करने में बिल्कुल रुचि नहीं थी, वे भी उत्साह के साथ एक दिन में अनेक श्लोक कंठस्थ करने लगे।

मुनि श्री रवीन्द्रकुमारजी जब दीक्षित हुए, तब उन्हें कंठस्थ करने में बिल्कुल रुचि नहीं थी। उनकी यह धारणा थी कि कंठस्थ करने में समय लगाना समय की बरबादी है। पूज्य गुरुदेव को जब यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने सोचा यदि इस उम्र में कंठस्थ नहीं किया जाएगा तो बड़े होने के बाद तो बिल्कुल भी संभव नहीं है। गुरुदेव ने मनोवैज्ञानिक ढंग से कंठस्थ करने वाले पाठ को स्वयं पढ़ाना प्रारंभ किया उसका अर्थ समझाया और निर्देश दिया कि

दूसरे दिन इतने श्लोक कंठस्थ करके सुनाने हैं। इस उपक्रम से बाल मुनि को कंठस्थ करने में रस आने लगा। एक दिन गुरुदेव ने फरमाया—''आज तुम जितनी गाथाएं कंठस्थ करो, उतनी ही गाथाएं पुरस्कार स्वरूप जमा कर लेना।'' पुरस्कार के लोभ में वे दुगुने उत्साह से कंठस्थ करने लगे। पूज्य गुरुदेव के सामयिक उपाय ने उन्हें कंठस्थ के क्षेत्र में आगे बढ़ाकर बहुश्रुत बनने की दिशा में प्रस्थित कर दिया।

वर्तमान में अध्यापक न तो स्वयं संस्कृत के कोश कंठस्थ करते हैं और न ही विद्यार्थियों को कंठस्थ करने की प्रेरणा देते हैं। इसी कारण उनकी शब्द-संपदा समृद्ध नहीं हो पाती। पूज्य गुरुदेव को आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विरचित संस्कृत कोश अभिधान चिन्तामणि कोश कंठस्थ ही नहीं, हृदयंगम भी थी। जब भी साहित्य में कोई जटिल शब्द आता, उन्हें अपने नाम की भांति कोश का वह स्थल याद आ जाता था। संस्कृत-साहित्य के अध्यापन में उन्हें प्राय: कोश देखने की अपेक्षा नहीं रहती थी।

किशोरवय से ही दूसरों को कंठस्थ कराने में वे अपने श्रम का पूरा नियोजन करते थे। 'मेरा जीवन : मेरा दर्शन' में उल्लिखित निम्न अनुभूति उनके इसी अध्यापन-वैशिष्ट्य को प्रकट करने वाली है—''**मेरा अध्यापन का अपना क्रम था। मैं अपने विद्यार्थियों को न तो किसी दूसरे के भरोसे छोड़ता था और न उनको स्वतंत्रता देता था। अपने पास बिठाकर मैं उनको आधा-आधा घण्टा तक पाठ रटाता था। जब तक उनका उच्चारण शुद्ध नहीं हो जाता, उन्हें छुट्टी नहीं मिलती।** शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण होने के बाद उन्हें स्वतंत्र बैठकर कंठस्थ करने का निर्देश देता। कई विद्यार्थी साधुओं को पूरी नाममाला इसी क्रम से याद कराई। लगभग पन्द्रह सौ श्लोकों को इस प्रकार रटाने में बहुत समय लगता था। किन्तु ऐसा किए बिना वे शुद्ध पाठ नहीं सीख पाते। फिर उन्हें कालूकौमुदी और भिक्षुशब्दानुशासन कंठस्थ कराया। उनकी साधनिका कराई। मैं उनको पाठ पढ़ाता ही नहीं था, प्रतिदिन उनसे सैकड़ों पद्य सुनता। स्वाध्याय कराता। कुछ नया सीखने-समझने की प्रेरणा

देता और उनके व्यक्तित्व-निर्माण के प्रति सजग रहता।''[१]

गुरुदेव तुलसी अध्यापन के दौरान विद्यार्थियों के मस्तिष्क में हलचल पैदा करने के लिए कोश के संदर्भ में नए शब्दों के अर्थ पूछते रहते थे। यहां उनके इसी अध्यापन वैशिष्ट्य को प्रकट करने वाले कुछ घटना प्रसंग प्रस्तुत हैं—

वि. सं. २०३९ का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव चातुर्मास हेतु राणावास पधार रहे थे। यात्रा में आचार्यवर बाल साधु-साध्वियों को दशवैकालिक सूत्र का अर्थ करवाते थे। एक दिन गुरुदेव ने साध्वी विवेकश्रीजी से पूछा—''छेक का क्या अर्थ है ?'' साध्वीश्री ने बुद्धि के द्वारा अर्थ करते हुए कहा—''छह और एक—इन दोनों शब्दों की संधि करने से 'छेक' शब्द बनता है।'' साध्वीश्री की बात सुनकर सभी साधु-साध्वियां हंसने लगे। गुरुदेव के चेहरे पर भी मंद मुस्कान थिरकने लगी। साध्वी विवेकश्री जी को अर्थबोध देते हुए गुरुदेव ने कहा—''सब शब्दों की संधि नहीं होती। छेक एक ही शब्द है। इसका अर्थ है—निपुण, कुशल। लगता है तुमने अभी तक शब्दकोश कंठस्थ नहीं किया है।'' नाममाला का उद्धरण देते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''छेको विदग्धः[२]....।'' कोश कंठस्थ करने की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि इससे शब्द का अर्थ एवं साहित्य का संदर्भ समझने में सुविधा रहती है।''

लाडनूं का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव ने अभिधान चिन्तामणि कोश के 'भूमांश्चेति कविरूढ्या'[३] पद में कविरूढ़ि शब्द का तात्पर्य पूछा। संतों ने कहा—''इसका अर्थ है कवियों द्वारा सम्मत परम्परा''। गुरुदेव ने इसे उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहा—''जैसे पंकज का अर्थ है—कीचड़ में उत्पन्न होने वाला। शाब्दिक अर्थ के अनुसार मेंढक भी कीचड़ में पैदा होता है पर पंकज शब्द का प्रयोग मेंढक के लिए नहीं हो सकता। यह कविरूढ़ि विद्वानों द्वारा

---

१. मेरा जीवन : मेरा दर्शन भा. १, पृ. १५४।
२. अभिधान चिन्तामणि ३//७।
३. अभिधान चिन्तामणि १/५।

सम्मत परम्परा है। कोश से हम शब्द की अर्थ-परम्परा का ज्ञान कर सकते हैं।''

सन् १९९२ लाडनूं का घटना प्रसंग है। प्रात: वंदना के समय मुमुक्षु बहिनों ने 'श्रद्धा विनय समेत, नमो अरहंताणं, प्राञ्जल प्रणत सचेत' गीत गाया। गुरुदेव ने बहिनों से 'प्राञ्जल' शब्द का अर्थ पूछा। एक बहिन ने उत्तर दिया—''प्राञ्जल का अर्थ है—जुड़े हुए हाथ।'' गुरुदेव ने फरमाया—''यह अर्थ सही नहीं है।'' अन्य बहिनें एवं कुछ समणियां भी सही अर्थ नहीं बता सकीं। तब गुरुदेव ने सबको प्रेरणा देते हुए कहा—'अर्थ पर ध्यान दिए बिना केवल गाना या चितारना रूढ़ि है। समझपूर्वक गाना चाहिए, जिससे गाने में तन्मयता आ सके।'' तत्काल अभिधान चिन्तामणि कोश का संदर्भ प्रस्तुत करते हुए गुरुदेव ने फरमाया—'ऋजुस्तु प्राञ्जलोऽञ्जस:'[१] प्राञ्जल का अर्थ है—ऋजु। अब तो तुम लोगों को प्राञ्जल शब्द का अर्थ याद रहेगा? गुरुदेव के मुख से समाधान पाकर सबका हृदय अभिनव प्रकाश से भर गया।

एक बार पूज्य गुरुदेव कल्याणमंदिर का वाचन कर रहे थे। गुरुदेव ने विद्यार्थी संतों से पैंतालीसवें श्लोक के 'तवगोत्रपवित्रमंत्रै:' पद का अर्थ पूछा। लगभग सभी संतों ने गोत्र का अर्थ 'जाति' बताया। अंत में पूज्य गुरुदेव ने नाममाला के 'गोत्रं संज्ञा नामधेयं'[२] की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—''यहां गोत्र का अर्थ नाम है। यदि कोश को इस प्रकार काम में नहीं लोगे तो कंठस्थ करना ही व्यर्थ हो जाएगा। **जैसे एक वर्ष सुनना बंद करने से कान बेकार हो जाते हैं। कान क्या, शरीर के किसी भी अंग को संचालित करने में कठिनाई होती है। उसी प्रकार कोश को काम में न लेने से उसका कोई उपयोग नहीं होगा।**'' इस प्रकार पूज्य गुरुदेव अध्यापन के दौरान नए-नए अर्थों की अवगति देते रहते थे, जिससे विद्यार्थी को आंतरिक आह्लाद की अनुभूति होती थी।

---

१. अभिधान चिन्तामणि ३/३९।

२. अभिधान चिन्तामणि २/१७४।

कंठस्थज्ञान के साथ उसके अर्थज्ञान पर भी गुरुदेव उतना ही महत्त्व देते थे। यदि कंठस्थ ज्ञान के साथ उसके अर्थ का अवबोध या विश्लेषण नहीं होता तो वह गुरुदेव की दृष्टि में गधे के द्वारा चंदन का भार ढोने के समान था। बचपन में कंठस्थ किए ज्ञान के अर्थ को हृदयंगम करने वाला ही उस ज्ञान से आनंद प्राप्त कर सकता है। गुरुदेव प्रतिदिन अनेकों बार किसी न किसी प्राकृत, संस्कृत एवं हिंदी के पद्य का अर्थ पूछते रहते थे।

सन् १९८५ का प्रसंग है। अपर रात्रि में मुनि श्री मुदितकुमारजी (आचार्य महाश्रमण) पूज्य गुरुदेव के पास सिन्दूरप्रकर का स्वाध्याय कर रहे थे। उसमें एक श्लोक आया—किमभिलषता श्रेयः श्रेयः सः निर्गुणसंगमः।

गुरुदेव ने पास बैठे मुनि विजयकुमार से इसका अर्थ पूछा। वे इसका सही अर्थ नहीं कर सके। फिर मुनि मुदितकुमारजी (आचार्य महाश्रमण) से अर्थ पूछा। उन्होंने इसका सही अर्थ बता दिया। अर्हत् वंदना का शब्द होने पर सभी संत उपस्थित हो गए। आचार्यवर ने अन्य बाल संतों से पूछा—''इस पंक्ति में श्रेयः शब्द दो बार क्यों आया है?'' विद्यार्थी संतों में कोई भी इसका सही उत्तर नहीं दे सका। आचार्यवर ने पूछा—''कितने संतों को सिन्दूरप्रकर कंठस्थ है?'' लगभग ९-१० विद्यार्थी संतों के नाम सामने आए। गुरुदेव ने प्रेरणा देते हुए कहा—''**कोरा रटने से क्या लाभ? जब तक उसका अर्थ नहीं आता, वह भारभूत है। कब तक केवल पुनरावर्तन करते रहोगे? बच्चों के लिए केवल पुनरावर्तन ठीक है लेकिन दस वर्ष के बाद भी केवल चितारते रहो, यह ठीक नहीं है।**'' मुनि विजयकुमारजी ने निवेदन किया—''आचार्यवर को समय हो तो हम अर्थ करना चाहते हैं।'' गुरुदेव ने फरमाया—''मुझे तो पढ़ाने में रस आता है, कोई पढ़ने वाला चाहिए। पढ़ाने और अर्थ कराने में मुझे जितना रस आता है, उतना अन्य कार्य में नहीं।'' दूसरे दिन से ही गुरुदेव ने सिन्दूरप्रकर के अर्थ की वाचना देनी प्रारंभ कर दी।

व्यक्तिगत स्तर पर भी पूज्य गुरुदेव विद्यार्थी साधु-साध्वियों को अर्थ हृदयंगम करने की प्रेरणा देते रहते थे। अनेक बार उनके मुख से सुना गया

कि तुम लोगों को जो चीजें कंठस्थ हों, उनका अर्थ मुझसे कर लिया करो। वि. सं. २०३१ का प्रसंग है। साध्वी चन्द्रलेखाजी को दीक्षित हुए तीन साल ही हुए थे। एक दिन गुरुदेव ने उनसे पूछा—''तुम प्रतिदिन भक्तामर चितारती हो, उस समय केवल शाब्दिक उच्चारण करती हो या अर्थ का अनुचिन्तन भी करती हो? अर्थ के बिना केवल उच्चारण अधिक लाभकारी नहीं होता। अब से लक्ष्य बनाओ कि अर्थ के साथ भक्तामर का स्वाध्याय करना है।'' पूज्य गुरुदेव की प्रेरणा से दूसरे दिन से ही उन्होंने यह क्रम प्रारंभ कर दिया। इस उपक्रम से उन्हें इतने आनंद की अनुभूति हुई कि आज तक वह क्रम अबाध गति से चल रहा है। इससे उन्हें चित्त की निर्मलता और मानसिक प्रसन्नता का अनुभव भी हो रहा है।

आदर्श अध्यापक के पास बच्चा एक घंटा भी रहे तो उस पर असर होता है लेकिन अध्यापक जब स्वयं ही दुर्व्यसनी है, शराबी है तो उसका क्या असर हो सकेगा? ऐसे अध्यापक के विद्यार्थी भी सुसंस्कारी नहीं हो सकते। सुसंस्कारी अध्यापकों के विद्यार्थी ही सुसंस्कारी हो सकते हैं इसलिए विद्यार्थियों को सुसंस्कारित करने के लिए पहले अध्यापकों को स्वयं को सुसंस्कारित होना होगा। जहां विद्यार्थियों का जीवन निर्मित होगा, वहां अनुशासनहीनता जैसे कुसंस्कारों के लिए अवकाश ही नहीं रहेगा।

आगे की सुधि लेइ पृ. १६४, आचार्य तुलसी

३४. मनन एवं पुनरावर्तन की प्रेरणा

प्राचीनकाल में शिक्षा के अंदर आज की भांति परीक्षा-प्रणाली प्रचलित नहीं थी। गुरु हर दिन पूर्व पठित पाठ का पुनरावर्तन कराकर सबसे मौखिक या लिखित रूप में उस पाठ को सुनते थे, जिससे त्रुटियों का संशोधन हो जाता था तथा ज्ञान भी चिरस्थायी होता था। अध्यापन के साथ मनन की प्रेरणा देने वाला अध्यापक विद्यार्थी को ठोस ज्ञान प्राप्त करवा सकता है। बिना मनन के अधीत ज्ञान स्मृति प्रकोष्ठों में स्थिर नहीं रह सकता। पूज्य गुरुदेव के शब्दों में हजारों पुस्तकों के पठन-पाठन का कोई महत्त्व नहीं, यदि उसके साथ मनन और आचरण नहीं जुड़ता अत: खाने के बाद जैसे पचाने की अपेक्षा रहती है, ठीक उसी प्रकार अध्ययन के बाद मनन करने की अपेक्षा रहती है।'' कभी-कभी पूज्य गुरुदेव आर्षवाणी के आलोक में भी मनन की प्रेरणा देते थे। एक बार अध्यापन के दौरान गुरुदेव ने कहा—''सुदृढ़ अधिगम के लिए अनुयोगद्वार के चार शब्द याद रखो—सिक्खियं ठियं चियं परिचियं अर्थात् पहले सीखो, फिर जानो, फिर धारणा करो और फिर उसे स्थिर अर्थात् विस्मृत मत होने दो। इस प्रक्रिया से ज्ञान आत्मसात् हो जाता है। प्रशिक्षण का यह उपक्रम ज्ञान के स्थिरीकरण का सशक्त उपाय है।'' मनन और प्रत्यावर्तन की प्रेरणा का निम्न प्रसंग उनके विलक्षण व्यक्तित्व का द्योतक है।

सन् १९८० धुरी (पंजाब) का प्रसंग है। गुरुदेव को एक बालमुनि ने निवेदन किया— 'आप हमें प्रतिक्रमण का अर्थ कराते थे, वह क्रम स्थगित हो गया, कृपा करके आप उस क्रम को पुन: प्रारम्भ करवाएं। पूज्य गुरुदेव ने भेद भरी दृष्टि डालते हुए कहा—''तुम लोग ग्राहक बुद्धि रखते हो या नहीं, वापिस प्रत्यावर्तन करते हो या नहीं, यह देखने के लिए जानबूझ कर मैंने यह क्रम स्थगित किया है। प्रथम चार पाटियों का अर्थ पूरा हो गया, तुम लोगों ने उसके अर्थ का प्रत्यावर्तन किया या नहीं ?'' गुरुदेव की बात सुनकर सभी बाल मुनि एक दूसरे का मुंह देखने लगे। गुरुदेव ने प्रतिबोध देते हुए कहा— ''प्रत्यावर्तन

के बिना केवल सुनने से क्या लाभ ? दूसरी बात मैं तुम्हारी तड़प देखना चाहता था।'' सकुचाते हुए एक मुनि ने निवेदन किया—''हम परस्पर तो सोचते थे पर संकोचवश आपसे अनुरोध नहीं कर पाए।'' गुरुदेव के इंगित से तत्काल सभी बालमुनि एकत्रित हो गए। गुरुदेव ने 'तस्स उत्तरीकरणेणं' का अर्थ पूछा। सटीक उत्तर कोई नहीं दे पाया। गुरुदेव ने अध्ययन की सही प्रेरणा देकर बोध देते हुए कहा—''अनुत्तरस्य उत्तरकरणं उत्तरीकरणं। उत्तरीकरण का अर्थ है—समाधान करना। दोष के समाधान से आत्मा निर्दोष और उज्ज्वल बनती है।'' भविष्य में सम्यक् अध्ययन की विधि बताते हुए गुरुदेव ने कहा—**''मनन से समझशक्ति की वृद्धि होती है, मस्तिष्कीय क्षमता भी बढ़ती है। इसके बिना ज्ञान का विस्तार नहीं हो सकता। कुछ भी पढ़ो, उसका मनन अवश्य करो, तभी अध्ययन की सार्थकता है।''**

सन् १९९४ दिल्ली में तत्काल निर्मित संस्कृत श्लोक के माध्यम से मनन की प्रेरणा देते हुए पूज्य गुरुदेव ने कहा—

पठितं मननीयं स्यादकिंचन्मननं विना।
मननेन मनस्तुष्टिः, आत्मतुष्टिस्ततो रतिः॥

गुरुदेव ने कहा—''अध्ययन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण मनन है। जो केवल कंठस्थ करते हैं, वे केवल ज्ञान का भार ढोते हैं, वे उसकी सौरभ का अनुभव नहीं कर सकते।'' पुनः मनोवैज्ञानिक रूप से प्रतिबोध देने हेतु एक और श्लोक की रचना करके कहा—

पुण्यात्मानो यूयं, सुलभा येनात्र गुरोः सेवा।
श्रुत्वावधारितश्चेत्, शिक्षावाणी सफलता सूचा॥

अर्थात् तुम लोग भाग्यशाली हो, जो तुम्हें गुरु की सेवा का अवसर मिल रहा है, यदि इस शिक्षा को सुनकर धारण कर सको तो यह सफलता की सूचना है।

कंठस्थ ज्ञान का भी यदि पुनरावर्तन नहीं होता तो वह स्थिर नहीं रहता। पूज्य गुरुदेव अनेक बार विद्यार्थी साधु-साध्वियों को प्रत्यावर्तन की

प्रेरणा देते हुए कहते थे—''**पुनरावर्तन के अभाव में कंठस्थ ज्ञान को भूलना कठोर श्रम से कमाई पूंजी को अपने प्रमाद से खोने के बराबर है। ज्ञान के पुनरावर्तन से मानसिक स्थिरता बढ़ती है तथा आत्मलीनता की स्थिति बनती है। कम पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी यदि बार-बार पुनरावर्तन करे तो बड़ा विद्वान् बन सकता है** अत: कंठस्थ करने में जितना उत्साह रहता है, उतना ही प्रत्यावर्तन में रहना चाहिए। पुस्तक देखकर पुनरावर्तन करने से कंठस्थ ज्ञान कच्चा हो जाता है तथा हमेशा दूसरों के साथ पुनरावर्तन करने से भी उच्चारण में अशुद्धियां एवं ज्ञान कच्चा हो जाता है।'' पूज्य गुरुदेव प्रतिदिन हजारों गाथाओं का पुनरावर्तन कर लेते थे । बचपन में कंठाग्र किए ग्रंथ उनको जीवन के सांध्य काल तक अपने नाम की भांति याद थे।

सन् १९८५ बेमाली का प्रसंग है। पश्चिम रात्रि में गुरुदेव के पास दो संत स्वाध्याय रत थे। अर्हत् वंदना के समय सभी संतों के आने पर प्रेरणा देते हुए गुरुदेव ने कहा—''आजकल प्रात:काल स्वाध्याय का शब्द बहुत कम सुनाई देता है। स्वाध्याय अंत:शुद्धि और ज्ञानप्राप्ति का सशक्त माध्यम है।'' गुरुदेव ने व्यक्तिश: भी सबको स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी। गुरुदेव की प्रेरणा से सबके भीतर स्वाध्याय की रुचि जागृत हो गई और दूसरे दिन प्रात:कालीन शान्त वातावरण स्वाध्याय की मधुर ध्वनि से गुंजायमान होने लगा।

पूज्य गुरुदेव फतेहपुर विराज रहे थे। प्रात:काल गुरुवंदन का समय था। कुछ साधु गुरुदेव के पास संस्कृत का अध्ययन कर रहे थे। गुरुदेव ने एक साधु से पूछा—''क्या तुम्हें नाममाला कंठस्थ है?'' साधु ने संकोच के साथ उत्तर दिया—''कंठस्थ की थी लेकिन अब भूल गया हूं।'' गुरुदेव ने प्रश्नायित नजरों से उसे देखा और पूछा—''इसका कारण?'' साधु ने करबद्ध उत्तर दिया—''परावर्तन के रूप में स्मरण नहीं किया इसलिए विस्मृत हो गयी।'' आचार्य प्रवर ने मुस्कुराते हुए कहा—''**तुम सत्य ही कहते हो, बिना स्मरण किए तो आदमी भी रूठ जाता है फिर भला पाठ क्यों न रूठे?**'' विनोद के साथ दी गयी इस प्रेरणा ने संतों को नया प्रतिबोध दे दिया। साधु भविष्य में

कंठस्थ पाठ का पुनरावर्तन करने के लिए कृत संकल्प हो गए।

द्रुतगति से किए गए प्रत्यावर्तन को भी आचार्य तुलसी पसंद नहीं करते थे। उनकी सदैव प्रेरणा रहती थी कि जो भी सीखो, अर्थ सहित सीखो तथा प्रत्यावर्तन भी जल्दी-जल्दी न करके धीरे-धीरे उच्चारण के साथ करो, जिससे उसका अर्थबोध होता रहे। चाहे कोश हो या काव्य, उसके प्रत्यावर्तन की गति धीमी होनी चाहिए। अर्थ सहित प्रत्यावर्तन और मनन की प्रेरणा के सैकड़ों प्रसंग गुरुदेव के जीवन से सम्बन्धित हैं। यहां कुछ घटना प्रसंग प्रस्तुत हैं—

मुमुक्षु सुनीता (साध्वी सोमप्रभा) एवं मुमुक्षु सविता (मुख्य नियोजिका साध्वी विश्रुतविभा) एक दिन प्रातः जैन विश्व भारती में गुरुदेव के सम्मुख सामायिक कर रही थीं। विलम्ब होने से उनकी सामायिक पूर्ण होने से पूर्व ही वर्षा प्रारम्भ हो गई। आचार्यश्री ने बहिनों को पूछा—''नाममाला में आर्षभिः शब्द का क्या अर्थ है?'' दोनों बहिनें आर्षभिर्भरतस्तत्र बोलती रहीं लेकिन अर्थ बताने में समर्थ नहीं हो सकीं। आचार्यश्री ने फरमाया—''ऋषभस्य अपत्यं पुमान् आर्षभिः अर्थात् भरत।'' फिर प्रेरणा स्रोतस्विनी बहाते हुए कहा—''अर्थ के बिना नाममाला याद करना व्यर्थ है क्योंकि समय पर उसका सही उपयोग नहीं हो सकता।''

अध्यापक यदि पठित पाठ की पुनरावृत्ति या परीक्षा नहीं लेता तो विद्यार्थी का ज्ञान स्थायी नहीं हो सकता। विद्यार्थी साधु-साध्वियां उनकी बात को कितनी ध्यान से सुनते हैं, पठित पाठ का पुनरावर्तन करते हैं या नहीं, यह जानने हेतु पूज्य गुरुदेव प्रायः सप्ताह के अंत में पुनरावृत्ति एवं प्रश्न पूछने का क्रम चलाते रहते थे। इससे विद्यार्थी साधु-साध्वी पुनरावर्तन का अभ्यास रखते थे। वे अनेक बार अधीत पाठ की व्याख्या या अर्थ विद्यार्थी साधु-साध्वी या समण-समणी से करवाते थे और साथ-साथ भूल-सुधार भी करते रहते थे, जिससे अपरिपक्व और मंद बुद्धि साधु-साध्वी भी सहजता से विषय को हृदयंगम कर लेते थे। साध्वीश्री फूलकुमारी जी (लाडनूं), जो उनकी

पुरानी विद्यार्थी साध्वी रही है, इस संदर्भ में उनका अनुभव पठनीय है— ''हमारी शिक्षा का प्रारंभ कालूकौमुदी एवं हेमचन्द्राचार्य रचित नाममाला से हुआ। गुरुदेव श्री तुलसी स्वयं हर पक्ष में हमारी मौखिक परीक्षा लेते थे। **उच्चारण की सूक्ष्म स्खलना गुरुदेव को जरा भी नहीं भाती थी। वे शुद्ध, स्पष्ट और अस्खलित सुनाने वालों को जहां पुरस्कृत करते, वहां स्खलना करने वालों को आंख भी दिखाते।** हम लोगों के उत्तरोत्तर विकास हेतु गुरुदेव विविध विधाओं में प्रतियोगिताओं का समायोजन करवाते रहते थे। कभी संस्कृत सप्ताह का आयोजन तो कभी हिंदी सप्ताह का। कभी संस्कृत में समस्या-पूर्ति तो कभी वक्तृत्व एवं संगीत-कला का आयोजन, कभी निबन्ध-लेखन तो कभी वाद-विवाद प्रतियोगिता। इस प्रकार हमारा अध्ययन सतत चलता रहता था।''

विद्यार्थी के विचारों को परिपक्व एवं ज्ञान को स्थायी बनाने हेतु आचार्य तुलसी मनन और प्रत्यावर्तन की प्रेरणा देते रहते थे। यदि यह कहा जाए कि उनका कोई दिवस इस प्रेरणा को देने में और स्वयं पुनरावर्तन करने में वन्ध्य नहीं गया तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

शिक्षा आत्मा में मनुष्य का सतत जन्म है, यह आंतरिक राज्य की ओर जाने वाला राजमार्ग है। सारी बाह्य महिमा आंतरिक प्रकाश का प्रतिफलन-मात्र है। शिक्षा सर्वोच्च जीवन-मूल्यों के चुनाव की ओर उन पर दृढ़ रहने की पूर्व कल्पना करती है।

डॉ. एस. राधाकृष्णन

३५. प्राचीन भाषा के अध्ययन की प्रेरणा

शिक्षण का प्रथम आधार भाषा है। भाषा के बिना अध्यापक और विद्यार्थी के बीच संवाद स्थापित नहीं हो सकता। पूज्य गुरुदेव तुलसी के अध्यापन की मूल भाषा हिंदी थी। उनका मंतव्य था—''**राष्ट्रीय एकता के लिए सम्पूर्ण देश की भाषा एक ही होनी चाहिए। वह हिंदी ही हो, यह मेरा आग्रह नहीं है पर यह आग्रह अवश्य है कि वह भारतीय भाषा होनी चाहिए।**'' मातृभाषा पर पूर्ण अधिकार होने पर प्रान्तीय एवं विदेशी भाषाओं को सीखना भी आवश्यक है। राष्ट्रभाषा को उपेक्षित करके केवल अंग्रेजी भाषा के माध्यम से विश्व के वर्तमान के साथ सम्पर्क किया जा सकता है किन्तु भारत के गौरवपूर्ण अतीत के साथ सम्पर्क नहीं साधा जा सकता। इससे अतीत का समृद्ध साहित्य विस्मृत हो जाएगा। महात्मा गांधी ने तो यहां तक कह दिया कि ''मेरा यह विश्वास है कि राष्ट्र के जो बालक अपनी मातृभाषा के बजाय दूसरी भाषा में शिक्षा प्राप्त करते हैं, वे आत्महत्या ही करते हैं।''[१] डा. राधाकृष्णन् का स्पष्ट अभिमत था कि यदि हम भारतीय संस्कृति की रक्षा करना चाहते हैं तो हमें संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं को सीखना ही होगा। आचार्य तुलसी कहते थे—''संस्कृत-प्राकृत वाङ्मय में मैं अपनी संस्कृति के बीज पाता हूँ अत: उसकी श्रेष्ठता स्वीकार करता हूँ। प्राकृत आगमों की मूल भाषा है। इसे पढ़े बिना आगमों का गहन अध्ययन नहीं हो सकता। इसी प्रकार हजारों वर्षों की संस्कृति, परम्पराएं और इतिहास संस्कृत भाषा में उपलब्ध है। अपने पूर्वजों से विरासत में हमें जो संपदा मिली है, उसकी सुरक्षा और संवर्धन करना हमारा कर्तव्य है।''

राजगोपालाचार्य ने अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहा—''**यदि भारतवासियों ने अपनी परम्परागत संस्कृति या भाषा की उपेक्षा की तो नि:संदेह यह महामूर्खता होगी। .....अगर हमारे स्कूलों और कालेजों में**

---

१. शिक्षा का माध्यम, पृ. ११।

पढ़ने वाले छात्र संस्कृत से अनभिज्ञ रहे तो यह समझ लेना चाहिए कि उन्होंने वह कुंजी खो दी, जिसके द्वारा वे अपने पूर्वजों के सांस्कृतिक खजाने का ताला खोल सकते हैं और वस्तुतः यह महान् दुर्घटना होगी।''[१]

पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी **'मेरा जीवन : मेरा दर्शन'** पुस्तक में अपने अनुभव लिखते हुए कहते हैं—''कालूगणी ने अपना उत्तराधिकार मुझे सौंपा, उसके साथ विरासत में संस्कृत प्रेम भी सौंप दिया। विरासत में प्राप्त उन संस्कारों का संरक्षण और संवर्धन करना मेरा कर्तव्य है। मैंने साधुओं की भांति साध्वियों को भी संस्कृत पढ़ाना शुरू कर दिया।''[२] धीरे-धीरे उनकी रुचि परिष्कृत हुई। उन्हें भी अध्ययन में रस आने लगा।

पूज्य गुरुदेव संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के शिक्षण हेतु नई-नई युक्तियां काम में लेते रहते थे, जिससे अध्यापन सरस एवं प्रेरक बना रहे। विद्यार्थी साधु-साध्वियों की संस्कृत भाषा पुष्ट करने के लिए गुरुदेव ने उन्हें संस्कृत भाषा में निबंध लिखने की प्रेरणा दी। साधु-साध्वियों ने अनेक निबंध लिखे, जिससे उनका भाषा पर अधिकार होने लगा। लेखन के पश्चात् गुरुदेव का ध्यान संस्कृत भाषा में वक्तृत्व पर गया। वि. सं. २००२ में एक दिन गुरुदेव ने अपने मन की पीड़ा व्यक्त करते हुए कहा—''**क्या मैं अपने संघ में कुछ साधुओं को धाराप्रवाह संस्कृत भाषा में बोलने का स्वप्न साकार रूप में देख सकता हूं?**'' गुरुदेव की ऊर्जस्वल प्रेरणा ने अनेक संतों के मस्तिष्क को झंकृत कर दिया। आडसर में गुरुदेव ने संस्कृत भाषण प्रतियोगिता प्रारंभ की। लगभग २० साधुओं ने इस प्रतियोगिता में भाग लिया। प्रतियोगिता से पूर्व गुरुदेव ने एक मापदण्ड प्रस्तुत किया कि एक महीने तक लगातार नए-नए विषयों पर संस्कृत में भाषण प्रतियोगिता होगी, उसमें जो साधु एक भी शब्द अशुद्ध नहीं बोलेगा, उसे पुरस्कृत किया जाएगा। बीस साधु प्रतियोगी के रूप में प्रस्तुत हुए। सरदारशहर पहुंचने पर यह क्रम सम्पन्न हुआ। इस प्रतियोगिता

१. भारतीय काव्यशास्त्र के नए क्षितिज पृ. ८।
२. मेरा जीवनः····भाग-२ पृ. १७१।

में मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) ने प्रथम स्थान प्राप्त किया। गुरुदेव ने उन्हें ११०० गाथाओं का पुरस्कार प्रदान किया।

वि. सं. २०११ में आचार्य तुलसी मुम्बई प्रवास कर रहे थे। भारतीय विद्या भवन में एक विशेष कार्यक्रम आयोजित हुआ। उसमें शिवराम आप्टे आदि सैकड़ों संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् उपस्थित थे। उस कार्यक्रम में मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) ने संस्कृत में धाराप्रवाह भाषण दिया। सभी विद्वान् उनका धाराप्रवाह प्रवचन सुनकर चमत्कृत हो गए। कार्यक्रम सम्पन्न होने पर मुनि नथमलजी को अनेक विद्वानों ने घेर लिया और पूछा—''आपने किस विश्वविद्यालय में अध्ययन किया है?'' मुनि नथमलजी ने उत्तर दिया—''तुलसी विश्वविद्यालय में।'' उन्होंने साश्चर्य पूछा—''इस विश्वविद्यालय का तो हमने आज तक नाम ही नहीं सुना। यह विश्वविद्यालय भारत के किस प्रान्त में स्थित है?'' मुनिश्री ने आगे चल रहे आचार्य तुलसी की ओर इंगित करते हुए कहा—''तुलसी विश्वविद्यालय आगे-आगे चल रहा है।'' विद्वान् अनुपम विश्वविद्यालय के अद्भुत विद्यार्थी के प्रति नतमस्तक होकर बोले—''**आज विश्वविद्यालयों में ऐसी शिक्षा कहां हो रही है? संस्कृत में एम. ए. पास विद्यार्थी संस्कृत के चार शुद्ध वाक्य नहीं बना सकते। वहां आचार्य तुलसी ने पारम्परिक शिक्षा के माध्यम से आपको संस्कृत का प्रकाण्ड विद्वान् बना दिया। स्रग्धरा छंद में घटिका (घड़ी) विषय पर आपने जो समस्या-पूर्ति की, वह हम सबके लिए आह्लाद और आश्चर्य का विषय है।**''

साधुओं की भांति विद्यार्थी साध्वियों को भी पूज्य गुरुदेव संस्कृत भाषा में बोलने की प्रेरणा देते रहते थे। वि. सं. २००५ छापर चातुर्मास में अध्ययनरत साध्वियों को पूरे दिन आपस में संस्कृत बोलने की प्रेरणा दी। साध्वियों ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहा—''गुरुदेव! हमारे पास न शब्दकोष है और न धातुकोष अतः हम इस संकल्प को कैसे निभा पाएंगी?'' गुरुदेव ने उन्हें समाहित करते हुए कहा—''**तुमको क्या आता**

है क्या नहीं, यह मत सोचो। परस्पर वार्ता के समय जब भी शब्द या धातु के प्रयोग में कठिनाई हो, यहां हमारे पास आकर पूछ लेना। तुम्हारी समस्या का समाधान मैं करूंगा।''

एक सप्ताह में साध्वियों के समक्ष अनेक समस्याएं आईं। वे उनको समाहित करने हेतु गुरुदेव के समक्ष पहुंच जातीं। गुरुदेव से शब्दरूप एवं धातुरूपों की जानकारी प्राप्त करके साध्वियों का आत्मविश्वास बढ़ गया और उनका संस्कृत भाषा में बोलने का अभ्यास बढ़ने लगा।

पण्डित रघुनंदनजी से प्रेरणा लेकर पूज्य गुरुदेव ने संतों को संस्कृत में एकाह्निक शतक बनाने की प्रेरणा दी। सर्वप्रथम मुनि नथमलजी (बागौर) एवं मुनि नगराजजी (बहिर्भूत) ने एकाह्निक शतक बनाए। पूज्य गुरुदेव ने उनको पुरस्कृत किया और अन्य संतों को भी इस दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। कुछ वर्षों बाद मुनि श्री राकेशकुमारजी ने एक दिन में १ हजार संस्कृत श्लोकों की रचना की।

वि. सं. २०१६ में मुनिश्री गुलाबचंदजी ने संस्कृत श्लोकों का शतक बनाया। उस समय गुरुदेव ने उन्हें प्रेरणा दी—''शतक की बात तो अब पुरानी हो गई, इससे आगे बढ़ो तो पता लगे।'' **गुरुदेव की इस प्रेरणा को उन्होंने चुनौती के रूप में स्वीकार किया और दो वर्षों में अभ्यास बढ़ाकर एक दिन में १७ घंटों में ११०१ श्लोक बनाकर गुरुदेव के स्वप्न को साकार किया।** उस समय की अपनी प्रसन्नता को संस्मरणों का वातायन में प्रकट करते हुए पूज्य गुरुदेव कहते हैं—''विकास की नई संभावनाओं का एक उदाहरण मुनि गुलाब ने प्रस्तुत किया है। वह कर्मठ और धुनी साधु है। उसकी कार्यशैली व्यवस्थित है। उसकी वह विशिष्ट उपलब्धि देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैंने उसे प्रगति का आशीर्वाद देते हुए प्रोत्साहित और पुरस्कृत किया।''

विद्यार्थी साधु-साध्वियों के संस्कृत भाषा के विकास हेतु पूज्य गुरुदेव अनेक बार समस्यापूर्ति का अभ्यास भी करवाते थे। उदाहरण के रूप में कुछ समस्याएं इस प्रकार हैं—

* कथं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलः जलधरः।
* कथं कान्ते दान्ते गलितवदनाभा नववधूः।
* गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम्।

संस्कृत भाषा का अभ्यास होने के बाद पूज्य गुरुदेव ने साधु-साध्वियों को संस्कृत भाषा में आशुकविता के लिए प्रेरित किया। वि. सं. २००५ में गुरुदेव ने छोटी-छोटी साध्वियों को अनुष्टुप् छंद में समस्या-पूर्ति करने का निर्देश दिया। समस्या-पूर्ति की पंक्ति थी—'प्रणमामि पदे-पदे'। साध्वियों के लिए यह निर्देश हिमालय उठाने जैसा भारी था। पूरी शक्ति और समय लगाने पर भी साध्वियां केवल शब्द-संकलना मात्र कर पाईं। पूज्य गुरुदेव ने साध्वियों की रचना को देखा, उसमें संशोधन किया और श्लोक-निर्माण के नियमों की अवगति दी। चातुर्मास के प्रारंभ में जो साध्वियां अनुष्टुप् का एक श्लोक नहीं बना पाती थीं, वे चातुर्मास के अंत में दो सौ श्लोकों का निर्माण करने लगीं। फिर उपजाति, बसन्ततिलका और शिखरिणी आदि छंदों में भी समस्या-पूर्ति करने लगीं।

वि. सं. २००१ में सर्वप्रथम मुनिश्री बुद्धमलजी ने आशुकविता का अभ्यास गुरुदेव के चरणों में निवेदित किया। फिर २००४ में राजलदेसर में मार्गशीर्ष मास में जनता के समक्ष संस्कृत में आशुकविता का कार्यक्रम रखा गया, जिसमें मुनिश्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) एवं मुनिश्री बुद्धमलजी ने आशुकविताएं प्रस्तुत कीं। उसके बाद पूज्य गुरुदेव की प्रेरणा से आशुकवित्व का सतत अभ्यास करने से अनेक विद्यार्थी साधु इस रूप में निष्पन्न हो गए, जो कठिन से कठिन विषय पर तत्काल आशुकवित्व कर सकें। उनके विद्यार्थियों में प्रखर आशुकवि के रूप में आचार्य महाप्रज्ञ को उदाहरण के रूप में रखा जा सकता है, जिन्होंने अनेक बार विद्वत्संगोष्ठियों में कठिन से कठिन विषय पर आशुकवित्व करके विद्वानों को चमत्कृत कर दिया।

जब आचार्य तुलसी भरतपुर पधारे, तब पंडितों ने मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ) को 'सूच्यग्रे कूपशतकं तदुपरि नगरी तत्र गंगाप्रवाहः' इस चरण का आलंबन लेकर आशुकवित्व करने के लिए कहा। इस चरण का

अर्थ है—सूई के अग्रभाग पर सौ कुएं, उन पर एक नगरी में गंगा प्रवाहित हो रही है। अपनी प्रखर प्रतिभा और विशिष्ट कल्पना-वैभव से उन्होंने उत्कृष्ट कोटि की समस्यापूर्ति कर दी, जिसे सुनकर सभी विद्वान् आश्चर्यचकित हो गए। यह सब आचार्य तुलसी के विशिष्ट अध्यापन-कौशल एवं प्रेरणा-प्रोत्साहन से ही संभव हो सका।

नये छात्रों के लिए व्याकरण अलूणी शिला चाटने के बराबर है लेकिन सरसता उत्पन्न करने के लिए बीच-बीच में गुरुदेव विद्यार्थियों का मनोविनोद भी करते रहते थे। एक बार गुरुदेव समणियों को व्याकरण में समास प्रकरण का अध्यापन करा रहे थे। गुरुदेव ने फरमाया—'मैं तुम्हें एक श्लोक बताता हूं, तुम लोग इसका अर्थ बताओ—

द्वन्द्वं द्विगुरपि चाहं, मद्गेहे नित्यमव्ययीभावः।
तत्पुरुष! कर्म धारय, येनाहं बहुव्रीहिः स्याम॥

समणियां इसका सम्यक् रूप से अर्थ नहीं कर पाईं। गुरुदेव ने फरमाया—'देखने में लगता है कि श्लोक में केवल समास के नाम हैं लेकिन इसमें एक कथा भी छिपी हुई है अतः इस श्लोक में श्लेष है। इसको याद करने से सभी समासों के नाम स्वतः याद हो जाएंगे।' अपनी अध्यापन प्रक्रिया को जारी रखते हुए गुरुदेव ने फरमाया—एक गरीब ब्राह्मण राजा के पास जाकर बोला—''राजन्! हम द्वन्द्व अर्थात् घर में पति-पत्नी दो सदस्य हैं।'' द्विगु—हमारे घर में दो गाएं भी हैं। मेरे घर में नित्य अव्ययीभाव—अर्थात् खर्च चलाने के लिए कुछ भी नहीं है। तत्पुरुष कर्म धारय—आप विशिष्ट पुरुष हैं अतः ऐसा कर्म धारण करें, जिससे मैं बहुव्रीहि—बहुत अधिक धान्य वाला बन जाऊं।'' रूपक के माध्यम से दिया गया वह प्रतिबोध चित्र की भांति सबके मस्तिष्क में अंकित हो गया।

विद्यार्थी साधु-साध्वियों के संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के विकास हेतु गुरुदेव ने हस्तलिखित पत्रिकाएं निकालने की प्रेरणा भी दी। उनकी प्रेरणा से साधुओं ने 'जयज्योति' और 'एषणा' तथा साध्वियों ने 'अन्वेषणा,'

'तरंगिणी' और 'पराग' आदि पत्रिकाओं का संपादन किया। कुछ समय तक 'प्रयास' नामक पत्रिका भी निकाली गई, जिसमें प्रारम्भिक एवं नवीन साधु-साध्वियां संस्कृत या हिन्दी में रचना लिखते थे। इन पत्रिकाओं से साधु-साध्वियों का संस्कृत, प्राकृत एवं हिंदी में शोध निबंध लिखने का विकास हो गया। साध्वियों ने जब प्रथम बार अन्वेषणा पत्रिका श्रीचरणों में उपहृत की, तब संपादिका साध्वी जतनकुमारीजी (सरदारशहर) एवं मंजुलाजी (संघमुक्त) को गुरुदेव ने एक-एक हजार गाथाओं से पुरस्कृत किया।

एक दिन सूर्योदय के बाद गुरु-वंदन के समय पूज्य गुरुदेव ने साध्वियों से पूछा—''साध्वियों में प्राकृत भाषा का अध्ययन चलता है या नहीं?'' साध्वियों का सकारात्मक उत्तर सुनकर गुरुदेव ने अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा—''प्राकृत भाषा बहुत काम की है। प्राकृत के बिना आगमों को समझना कठिन है। मैं चाहता हूं कि साधु-साध्वियां श्रावक-श्राविकाओं में भी यह भाषा सीखने की रुचि पैदा करें।''

साध्वियों ने कहा—''गुरुदेव ने आज तक जितने भी स्वप्न देखें हैं, वे प्रायः सफल हुए हैं, यह भी अवश्य सफल होगा लेकिन यह क्रम वर्षों पहले शुरू हो जाता तो अब तक अच्छा विकास हो जाता।'' **गुरुदेव ने मंद मुस्कान बिखेरते हुए कहा—''क्या करूं, स्वप्न ही देरी से आया।'' गुरुदेव तुलसी की प्रेरणा से अनेक साधु-साध्वियों एवं समणियों में आगम कंठस्थ करने एवं उनका पारायण करने की अभीप्सा जाग गई।**

दूरद्रष्टा होने के कारण उन्हें आने वाले युग की आहट का पहले ही आभास हो जाता था। युग के साथ चलने के लिए वे प्राचीन भाषाओं के साथ आधुनिक भाषाओं के अध्ययन की प्रेरणा भी देते रहते थे। अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होने के कारण अंग्रेजी भाषा के अध्ययन हेतु भी वे जोर देते हुए कहते थे—''आज भाषा के माध्यम से समूचे विश्व का संबंध जुड़ रहा है। अंग्रेजी भाषा अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में मान्य हो रही है। इस भाषा में अनेक गंभीर ग्रंथ लिखे जा रहे हैं अतः इसका साहित्य भी समृद्ध है। मैं चाहता हूं कि हमारे

साधु-साध्वियों में अन्यान्य भाषाओं की भांति इसका भी विकास हो। आने वाला युग अंग्रेजी का होगा यदि अंग्रेजी नहीं पढ़ोगी तो विकास में पिछड़ जाओगी।''

भाषायी ज्ञान हेतु वे व्यक्तिगत प्रेरणा भी देते रहते थे। मुमुक्षु जीवन में मुझे (समणी कुसुमप्रज्ञा) गुरुदेव तुलसी ने अंग्रेजी अध्ययन की अनेक बार प्रेरणा दी। कभी-कभी तो गुरुदेव यहां तक फरमा देते थे कि यदि अभी अंग्रेजी का अध्ययन नहीं करोगी तो देखना भविष्य में तुम हमको याद करोगी। आने वाला युग अंग्रेजी का होगा। यदि इस भाषा को नहीं सीखोगी तो विकास में पिछड़ जाओगी।''

एक बार गंगाशहर में मुमुक्षु बहिनों ने 'अब रोता है क्यूं'? एकांकी का मंचन किया। पूज्य गुरुदेव उस कार्यक्रम में उपस्थित थे। उस एकांकी में मेरी मुख्य भूमिका थी। लगभग पौन घंटे तक कुब्ज व्यक्ति के रूप में रोते हुए कथन बोलने थे। एकांकी की परिसम्पन्नता पर गुरुदेव टहल रहे थे। सब बहिनें चारों ओर खड़ी थीं। मुझे लक्ष्य करके गुरुदेव ने कहा—''आश्चर्य है स्टेज पर खड़ी होकर पौन घंटे रो सकती हो पर अंग्रेजी नहीं पढ़ सकती।'' यह मेरी मूढ़ता ही थी कि गुरुदेव की उस प्रेरणा पर मैंने ध्यान नहीं दिया। आज सेमीनार या कान्फ्रेंस में अनेकों बार इस बात का अनुभव होता है कि कितना अच्छा होता यदि उस समय अंग्रेजी का अध्ययन हो पाता।

कहा जा सकता है कि साध्वियों में संस्कृत व प्राकृत भाषा का ज्ञान, आगम-कार्य एवं अंग्रेजी भाषा का अभ्यास पूज्य गुरुदेव के नेतृत्व काल की विशिष्ट उपलब्धि है।

मेरा अभिमत है कि पुस्तकीय शिक्षा के साथ मूल्यपरक शिक्षा से विद्यार्थी के व्यक्तित्व का समग्र एवं संतुलित विकास होता है। उनमें मानवीय संवेदनाएं जागती हैं तथा श्रेष्ठ वृत्तियों का जागरण होता है।

आचार्य तुलसी

३६. अध्यापन में शिक्षण-विधियां

सफल शिक्षण की आधारशिला उसके नियोजन और नई-नई शिक्षण-विधियों के प्रयोग पर टिकी हुई है। जे. कृष्णमूर्ति के अनुसार एक आदर्श अध्यापक किसी एक शिक्षण-प्रणाली पर निर्भर नहीं रहेगा, बल्कि विद्यार्थी की क्षमता और योग्यता के अनुसार शिक्षण-प्रणाली में नए रूप देता रहेगा। हिग्रेट के अनुसार शिक्षण-विधियां देश और काल के अनुसार बदलती रहती हैं।''[१] पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री स्किनर मानते हैं कि शिक्षण-विधि के सम्यक् ज्ञान से शिक्षक का व्यक्तित्व प्रभावी बनता है तथा विद्यार्थी भी दत्तचित्त होकर उसकी बात का श्रवण करते हैं। शिक्षण विधि जितनी वैज्ञानिक, सरस और प्रभावक होगी, उतनी ही सीखने की गति शीघ्र एवं सरल होगी अन्यथा विद्यार्थी को उस विषय से विरक्ति अथवा अरुचि हो जाती है। ए. एच. गारलिक के अनुसार योग्य अध्यापक को सर्वप्रथम यह निर्णय लेना होता है कि वह क्या और किस उपयुक्त विधि से पढ़ाएगा?'' आचार्य तुलसी का अभिमत था कि राष्ट्र का धूमिल और स्वर्णिम भविष्य उसकी शिक्षा-प्रणाली और शिक्षा-नीति पर निर्भर रहता है।'' यदि शिक्षण-विधि प्रभावी नहीं है तो विद्यार्थी कक्षा में मौन, निष्क्रिय और उदासीन होकर बैठे रहते हैं। सही शिक्षण तकनीकी से अध्यापक कठिन से कठिन विषय को विद्यार्थी के समक्ष सुग्राह्य और रोचक बनाकर परोस देता है। डॉ. एस. पी. कुलश्रेष्ठ के अनुसार अच्छे शिक्षण की कुछ प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं—

* अच्छे शिक्षण में व्यक्ति स्वयं सीखने के लिए प्रेरित होता है।
* अच्छे शिक्षण के लिए प्रभावशाली नियोजन आवश्यक है।
* अच्छे शिक्षण में विद्यार्थी सदा सक्रिय रहते हैं।
* अच्छा शिक्षण दया और सहानुभूतिपूर्ण होता है।
* अच्छा शिक्षण प्रगतिशील होता है।

१. The art of teaching p. 3।

* अच्छा शिक्षण संवेगात्मक स्थिरता उत्पन्न करता है।
* अच्छा शिक्षण निदानपरक और उपचारात्मक होता है।
* अच्छा शिक्षण बालक की प्रच्छन्न और प्रसुप्त योग्यताओं का विकास करता है।
* अच्छे शिक्षण में छात्र और शिक्षक के सम्बन्ध मधुर होते हैं।''[१]

पूज्य गुरुदेव इस बात को जानते थे कि किस विधि से कौन से विद्यार्थी को पढ़ाया जाए क्योंकि एक ही अध्यापन-प्रणाली हर स्थिति में समान रूप से प्रभावी नहीं हो सकती। **पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी न्याय, दर्शन या व्याकरण जैसे जटिल विषय भी इतनी सरस और स्पष्ट शैली से पढ़ाते थे कि विद्यार्थी को थकान, तनाव या बोरियत का अनुभव नहीं होता था। अध्ययन से उदास या निराश विद्यार्थी साधु-साध्वी को भी वे यह अनुभव करवा देते थे कि सीखने की अनंत संभावनाएं उनके भीतर हैं अतः उनके पास अध्ययन रत विद्यार्थी प्राणवान्, कर्मण्य, उत्साहित और ऊर्जासम्पन्न बन जाता था।**

रेन (Wren) ने शिक्षण-विधि में व्याख्यान-प्रणाली को मान्य नहीं किया। उसका मानना था कि इस शिक्षण पद्धति में ज्ञान का प्रवाह एक तरफा होता है, छात्र चुपचाप बैठा सुनता रहता है। परस्पर संवाद न होने से इस पद्धति में क्रियाशीलता का अभाव रहता है। इससे विद्यार्थी शीघ्र ही मानसिक थकान का अनुभव करता है। इस विधि में अध्यापक को यह समझना कठिन होता है कि बालक मानसिक रूप से कक्षा में उपस्थित है अथवा नहीं?''[२] डबल्यू डी पीयर्स तथा लार्बर आदि शिक्षाशास्त्रियों ने इसे उत्तम शिक्षणविधि के रूप में स्वीकृत किया है क्योंकि इससे विद्यार्थी को ज्ञानप्रद सामग्री प्राप्त होती है।''[३]

---

१. शैक्षिक तकनीकी के मूल आधार पर पृ. ५०, ५१।
२. Percival the Indian Teacher's guide p. 98, Wren।
३. विस्तार हेतु देखें objectives and method for secondary teaching 1977 p. 93, Pierce W. D. and Lorber।

आचार्य तुलसी का शिक्षण इन दोनों विधियों के मध्य से गुजरता था।

शिक्षण-विधि को अधिक प्रभावी बनाने के लिए आज अनेक शिक्षण-विधियों का विकास किया जा रहा है। डेवीज, हरबर्ट और मोरीसस आदि पाश्चात्य विचारकों ने इस क्षेत्र में गहन चिंतन किया है। बिग आदि शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षण स्तर को तीन स्तरों में विभक्त किया है—

१. स्मृति स्तर शिक्षण (Memory level teaching)

२. बोध स्तर शिक्षण (Uderstanding level teaching)

३. चिन्तन स्तर शिक्षण (Reflective level teaching)

अध्यापन की प्राथमिक अवस्था है—स्मृति स्तर शिक्षण। इसमें केवल तथ्यों एवं सूचनाओं के प्रस्तुतीकरण एवं रटने पर बल दिया जाता है। इस शिक्षण-विधि में चिंतन का कोई महत्त्व नहीं होता लेकिन यह बोधस्तर और चिन्तनस्तर शिक्षण के लिए आधारशिला का कार्य करता है। शिक्षाशास्त्री विग्मी के अनुसार स्मृति स्तर का अधिगम तथ्यपूर्ण सामग्री की स्मृति कराता है, इससे अधिक कुछ नहीं। केवल स्मृति स्तर के अध्यापन में विद्यार्थी में कल्पना, तर्क, समझ, सृजनशीलता एवं स्वतंत्र चिन्तन जैसे गुणों का समुचित विकास नहीं हो सकता। समझ और विवेक विकसित न हो तो एक समय के बाद कंठस्थ ज्ञान यांत्रिक एवं भारभूत बन जाता है।''[१] प्राचीन एवं मध्यकाल में स्मृति स्तर के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता था, जिससे विद्यार्थी को व्याकरण, कोश आदि अनेक ग्रंथ शब्दशः याद करा दिए जाते थे। इस विधि की एक उपयोगिता तो यह थी कि विद्यार्थी का शब्द-भंडार समृद्ध हो जाता था। उसे बार-बार कोश देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। आज की शिक्षा में इस दृष्टि से बहुत कमी आई है।

बोध स्तर के अध्यापन में शिक्षक और विद्यार्थी—दोनों ही सक्रिय रहते हैं। यह शिक्षण सोद्देश्य तथा सूझ-बूझ युक्त होता है। इस पद्धति में रटने पर बल न देकर उसका बोध या अर्थ का ज्ञान कराया जाता है। डॉ. एस. पी.

१. शैक्षिक तकनीकी के मूल आधार, पृ. १८४, डॉ. एस. पी. कुलश्रेष्ठ।

कुलश्रेष्ठ के अनुसार बोधस्तर की शिक्षण-पद्धति के पांच सोपान होते हैं— १. अन्वेषण २. प्रस्तुतीकरण ३. आत्मीकरण ४. व्यवस्था और ५. अभिव्यक्तीकरण।

चिन्तन स्तर को परावर्तन स्तर का शिक्षण भी कहते हैं। इस शिक्षण-विधि में अध्यापक अपने विद्यार्थियों के मानसिक स्तर को ज्ञात करता है। यह शिक्षण की सर्वोच्च विधि मानी गयी है क्योंकि इसमें अध्यापक विद्यार्थी को पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं करवाता, किसी ज्वलन्त समस्या विशेष पर मौलिक चिन्तन करने का अवकाश भी देता है तथा स्वयं भी आलोचनात्मक दृष्टि से उदाहरणों सहित तथ्यों को प्रकट करता है। ज्ञान को उचित दिशा एवं स्थायित्व प्रदान करने के लिए इस विधि का प्रयोग किया जाता है। इस शिक्षण से विद्यार्थी की सृजनात्मक क्षमताओं का विकास होता है।

आचार्य तुलसी का मंतव्य था कि बोधस्तर और चिन्तनस्तर की भूमिका तभी परिपक्व हो सकती है, जब स्मृति स्तर का शिक्षण परिपक्व हो। वैसे भी कुछ विषयों को केवल स्मृति स्तर पर ही पढ़ाया जा सकता है, जैसे— संस्कृत कोश आदि। बिना स्मृति के कोश का उपयोग नहीं किया जा सकता।

गुरुदेव तुलसी ने स्मृति स्तर, बोध स्तर और चिंतन स्तर तीनों को आधार बनाकर अध्यापन का कार्य किया। वे बाल संतों को सर्वप्रथम केवल स्मृति स्तर का शिक्षण करवाते थे क्योंकि उनका मंतव्य था कि जैसे धन पास में होने से वाञ्छित वस्तु का क्रय किया जा सकता है, उसी प्रकार ज्ञान कंठस्थ हो तो उसका यथेष्ट उपयोग करने में कहीं भी रुकावट नहीं होती। लेकिन स्मृति स्तर में भी समझ या सात्मीकरण होना आवश्यक है अन्यथा वह केवल भारभूत बन जाता है।

वर्तमान शिक्षण पद्धति में जो कुछ पढ़ाया जाए, उसके नोट्स लेने की प्रक्रिया चलती है। वर्तमान शिक्षाशास्त्रियों ने खोज की है कि उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए यह विधि प्रभावशाली हो सकती है लेकिन प्रारम्भिक कक्षाओं में यह विधि उत्तम नहीं रहती क्योंकि इसमें कापी में लिखने से विद्यार्थी अपने मस्तिष्क का उपयोग नहीं करता।

अध्यापन के समय यदि कोई साधु-साध्वी या समणी केवल प्रत्येक शब्द का अर्थ लिखने में ही दत्तचित्त रहती तो वह पूज्य गुरुदेव को अच्छा नहीं लगता था। सन् १९८२ सिरियारी चातुर्मास में पूज्य गुरुदेव साध्वियों को भिक्षुन्यायकर्णिका की वाचना देते थे। एक दिन अर्थ का नोट्स लेती हुई साध्वी पर गुरुदेव की दृष्टि टिक गई। गुरुदेव ने प्रतिबोध देते हुए कहा— ''यदि सुने या पढ़े हुए गंभीर तथ्यों का भविष्य में उपयोग करना हो या लेख लिखना हो तो नोट्स लेना बहुत अच्छा है किन्तु पाठ्य पुस्तकों का अर्थ हृदयंगम करने के स्थान पर नोटबुक में लिख लिया जाए तो समझ और स्मृति दोनों का ही विकास नहीं हो सकता। **स्वतंत्र चेतना एवं समझ शक्ति के विकास हेतु कापी में नहीं, दिमाग में नोट करना सीखो। केवल कॉपी में नोट किया गया तो कॉपी में ही रह जाएगा। दिमाग में नोट करोगी तो स्थायी रहेगा अतः पुस्तक या कॉपी में नहीं दिमाग और हृदय में लिखो, तभी ज्ञान पक्का होगा। यदि केवल पढ़ोगी तो वह ज्ञान एक दिन में भी समाप्त हो सकता है, सीखने का प्रयत्न करने से अनुभव के स्रोत खुल जाते हैं।**''

व्याकरण में स्मृति स्तर और बोधस्तर दोनों विधियां अपेक्षित रहती हैं। पूज्य गुरुदेव बोधस्तर का शिक्षण कराकर विद्यार्थी में विषय को पहचानने, समझने, अनुभूति करने तथा तथ्यों को समझने की क्षमता विकसित करते थे। उनकी दृष्टि में स्मृति स्तर का अध्ययन तभी फलदायी बनता है, जब वह बोधस्तर की भूमिका तक पहुंचे। चिन्तन स्तर के अध्यापन से वे विषय को हृदयंगम करवाकर विद्यार्थी साधु-साध्वी एवं समण-समणियों में एक सूझ पैदा कर देते थे, जिससे वह जीवन की किसी भी विकट परिस्थिति या समस्या का हल निकाल सके। शास्त्र में लिखित तथ्यों का मूल्यांकन और जीवन की प्रयोगशाला में प्रयोग करने की प्रेरणा देने से अध्यापनकालीन वातावरण सजीव, प्रेरक, आलोचनात्मक, संवदेनशील और नवीन बना रहता था।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार अच्छा अध्यापक संसूचन-विधि के द्वारा पहले किसी पाठ या ग्रंथ की संक्षिप्त जानकारी देता है, उसके बाद वह विस्तार से पाठ की व्याख्या करता है। अध्ययन की इस विधि के द्वारा विद्यार्थी को उस पाठ का हार्द और प्रयोजन स्पष्ट और सुबोध हो जाता है। ए पिसेंट के अनुसार इस विधि से विद्यार्थी में सुसंगत विचारों की उत्पत्ति होती है, असंगत विचारों का बहिष्कार होता है तथा अध्ययन के प्रति अभिरुचि की वृद्धि में सहायता मिलती है।''[१]

इस संदर्भ में वेस्तावे ने विज्ञान के एक प्रखर बुद्धि वाले लड़के का कथन उद्धृत किया है—''महोदय, मुझे बहुत अफसोस है कि यद्यपि मैं श्रीमान् की हर बात को आसानी से समझ सका था परंतु मैं इस बात को एकदम नहीं समझ सका कि उनके पढ़ाने का अभिप्राय क्या था?''[२]

पूज्य गुरुदेव अध्यापन में प्राय: संसूचन विधि को अपनाते थे, जिससे पाठ थकानयुक्त या उबाऊ नहीं लगता था। अध्यापन से पूर्व उद्देश्य स्पष्ट करने से विद्यार्थी को उस विषय में रुचि पैदा हो जाती थी। किसी भी विषय के अध्यापन से पूर्व अध्यापक उस विषय में ग्रंथ की प्रस्तावना प्रस्तुत करता है तो विद्यार्थी सचेतन रूप से उस ज्ञान के प्रति उत्सुक हो जाता है क्योंकि प्रस्तावना नवीन ज्ञान या ग्रंथ की रूपरेखा प्रस्तुत कर देती है।

प्रभावी शिक्षणविधि का प्रमुख आधार है—पाठ्यक्रम का सही नियोजन। नियोजन के अभाव में शिक्षण अस्त-व्यस्त, नीरस, अप्रभावी और अधूरा रह जाता है। आचार्य तुलसी के अनुसार पाठ्यक्रम उतना ही रखा जाए, जिससे विद्यार्थी को भार का अनुभव न हो तथा ऐसा ज्ञान दिया जाए जो भीतरी क्षमता को जगाए। वह विद्यार्थी के लिए प्रश्नचिह्न नहीं अपितु उसकी जीवन की समस्याओं का समाधान करने वाला हो।'' नियोजन के अभाव में निर्धारित समय में अध्यापन पूरा नहीं हो पाता। **पूज्य गुरुदेव हर कार्य में नियोजन को आवश्यक मानते थे। किस साधु को कौन से अध्ययन में नियोजित करना**

१. अध्यापन-विधि के सिद्धान्त पृ ४००, ए. पिसेंट, अनु. श्रीमती संतोष नंदा।
२. Science of teaching P. 65, वेस्तावे।

एवं किसके द्वारा अध्यापन करवाना, यह सब उनके दिमाग में नियोजित रहता थीं। जब वे तेरापंथ के आचार्य बने, उस समय शिक्षा के लिए कोई व्यवस्थित और निश्चित पाठ्यक्रम नहीं था। विद्यार्थी साधु-साध्वियां परम्परागत रूप से प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करती थीं। एक बार पूज्य गुरुदेव ने किसी पत्रिका में स्वायत्त पाठ्यक्रम के बारे में पढ़ा। उन्होंने मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) एवं पंडित रघुनंदन शर्मा को इस ओर इंगित किया। थोड़े ही समय में गहन चिंतन-मनन के बाद व्यवस्थित पाठ्यक्रम निर्धारित हो गया। उन्होंने विश्वविद्यालय के समकक्ष योग्य-योग्यतर एवं योग्यतम—इन तीन श्रेणियों का सप्तवर्षीय पाठ्यक्रम निर्धारित कर दिया। सात वर्ष के बाद Ph. D. के समकक्ष 'कल्प' नाम से एक उपक्रम भी रखा गया, जिसमें विद्यार्थी को लघु शोध निबंध लिखना था। उस पाठ्यक्रम को करने वाले विद्यार्थियों के सामने आज के स्नातकोत्तर कक्षा के विद्यार्थी बहुत पीछे रह जाते हैं। महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाजी उसी पाठ्यक्रम के निकष पर निखरी हुई एक विशिष्ट प्रतिभा हैं।

आचार्य तुलसी आधुनिक और परम्परागत शिक्षण पद्धति में समन्वय के पक्षधर थे। उनका मंतव्य था कि अध्यापक को आधुनिक शिक्षण पद्धति की सीमा को जानकर उसे परम्परागत श्रेष्ठता के साथ जोड़ना चाहिए, जिससे प्राचीन और अर्वाचीन—दोनों पद्धतियों का न केवल समन्वय किया जा सके वरन् उनकी अच्छाइयों को भी आत्मसात् किया जा सके।

आचार्य तुलसी शिक्षा को केवल परीक्षोन्मुखी बनाने के पक्षधर नहीं थे। उनका मंतव्य था कि परीक्षा विद्यार्थी की प्रतिभा और समझ का सही मापदण्ड नहीं हो सकती। परीक्षा लेकर विद्यार्थी के भीतर भय पैदा करना शिक्षा का उद्देश्य नहीं होना चाहिए। सम्यक् शिक्षणविधि यही है कि अध्यापन के दौरान अध्यापक ही इसका सही मूल्यांकन करे कि अध्ययन के दौरान कौन विद्यार्थी कितना ज्ञान-पिपासु है और कौन कितना विषय की गहराई में पहुंचा है। पूज्य गुरुदेव अध्यापन के दौरान ही प्रत्येक विद्यार्थी की समझ की परख एवं कसौटी कर लेते थे।

३७. प्रश्नोत्तर शैली

भारतीय परम्परा में शिक्षण में प्रश्नोत्तर विधि का प्रयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है। बोसिंग के अनुसार प्रश्न किए बिना शिक्षण विधि को प्रभावी और स्थायी नहीं बनाया जा सकता।''[१] इस कला के माध्यम से वह विद्यार्थी को अधिक पढ़ने एवं खोज करने के लिए प्रेरित करता है।''[२] प्रभावी प्रश्न पूछना शिक्षक की कुशलता का एक मुख्य अंग है। थिंग्र के अनुसार शिक्षण का अर्थ है—''कुशलतापूर्वक प्रश्न पूछकर मस्तिष्क को देखने, व्यवस्थित करने और कार्य करने के लिए बाध्य करना। जो अध्यापक कक्षा में सारे समय बोलता रहता है, छात्रों को बोलने का अवसर नहीं देता, उसकी कक्षा में मानसिक सजगता, सक्रियता, सतर्कता और सजीवता का अभाव होता है।''[३] भगवती सूत्र के हजारों प्रश्न इस शैली के साक्षी हैं। सुकरात की शिक्षण-विधि प्रश्नोत्तर पर आधृत थी इसलिए इस विधि को सुकरात-विधि भी कहा जाता है।''[४] प्लेटो ने भी शिक्षण में संवाद-विधि को अधिक महत्त्व दिया। उनके अनुसार प्रश्नों के द्वारा छात्र के मन की शंकाओं का समाधान करके नवीन ज्ञान को आत्मसात् करने के लिए उचित मार्ग की ओर ले जाना ही उपयुक्त शिक्षण है।

प्रश्न पूछना भी एक कला है। रेमाण्ट के अनुसार प्रश्न पूछने की अच्छी और प्रभावशाली शैली का होना शिक्षक की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में से एक विशेषता है।'' अध्यापन-काल में प्रश्नों के माध्यम से शिक्षक विद्यार्थी में नवीन ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा को जागृत करता है, साथ ही मस्तिष्क-विप्लव द्वारा विद्यार्थी में आत्मविश्वास, सक्रियता जागरूकता तथा सृजनात्मकता

---

१. Progressive methods of teaching in secondary school, Bossing N. L..
२. भावी शिक्षकों के लिए आधारभूत कार्यक्रम पृ. २२५, जगदीश नारायण पुरोहित।
३. सफल शिक्षण कला, पृ. १७।
४. भावी शिक्षकों के लिए आधारभूत कार्यक्रम पृ. २२५।

आदि गुणों का विकास करके उसकी मौलिक विचार-शक्ति को भी उत्तेजित करता है। प्रश्नोत्तर विधि के द्वारा शिक्षक और विद्यार्थियों के बीच अन्त: प्रक्रिया के अवसर प्राप्त होते रहते हैं।

प्रभावी प्रश्न अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, जैसे— प्रत्यास्मरण के लिए, तुलनात्मक कार्य के लिए, सृजनात्मक विकल्प ढूंढने के लिए, वर्गीकरण के लिए, उदाहरण एवं दृष्टान्त के लिए, सहसंबंध देखने के लिए, छात्रों को प्रोत्साहन, रुचि और स्फूर्ति प्रदान करने के लिए, छात्रों को निष्कर्ष प्राप्त कराने के लिए, उनकी अधिगम सम्बन्धी कठिनाई को दूर करने के लिए, स्पष्टीकरण हेतु तथा विचारों एवं कल्पना शक्ति को स्फूर्त करने के लिए।''[१] इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण स्थलों पर ध्यान केन्द्रित करने हेतु, विद्यार्थी कितना सीख पाए हैं, इसकी अवगति हेतु तथा ज्ञान को आधुनिक परिवेश में प्रस्तुति देने हेतु भी कक्षा में प्रश्नोत्तर किए जाते हैं। कोलविन के अनुसार प्रश्न सबसे अच्छा उत्तेजक है।''[२] **एक पाश्चात्य अध्यापक ने अपना अनुभव लिखते हुए कहा है कि अध्यापन के दौरान छह सेवकों को मैं सदैव अपने पास रखता हूं—(१) क्या ? (२) क्यों ? (३) कब ? (४) कैसे ? (५) कहां ? (६) और कौन ?**

पूज्य गुरुदेव तुलसी अध्यापन-काल के अतिरिक्त भी प्रश्नोत्तर के माध्यम से साधु-साध्वी एवं समण-समणी को विविध विषयक ज्ञान कराते रहते थे। उनका स्वयं का आत्मविश्वास प्रकर्ष पर था अत: प्रश्नोत्तर के माध्यम से विद्यार्थियों के आत्मविश्वास को भी जागृत करते रहते थे। प्रश्न पूछने के पीछे अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए पूज्य गुरुदेव कहते थे—''अपनी प्रकृति के अनुसार मैं प्राय: घुमा-फिराकर प्रश्न पूछता रहता हूं, जिससे उनकी विचारशक्ति, सृजनशक्ति और कल्पनाशक्ति जागृत हो सके। बहुत बार उन

---

१. शिक्षा के नूतन आयाम पृ. २८१।

२. Colvin s.s ; The question is one of the best stimuli and is readily available to teacher.

प्रश्नों का उत्तर देने में साधु-साध्वियों से चूक भी हो जाती है पर **प्रश्न पूछने के पीछे मेरा एक ही उद्देश्य रहता है कि मैं साधु-साध्वियों को हर क्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहूं। उसका अच्छा परिणाम भी सामने आता है। इसलिए जब भी अवकाश मिलता है, मैं प्रश्नों के माध्यम से विद्यार्थी साधु-साध्वियों की चेतना को झकझोरता रहता हूं।''**

आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों ने छह प्रकार के प्रश्न स्वीकृत किए हैं—

१. संशय प्रश्न—संशय मिटाने हेतु पूछे जाने वाले प्रश्न।
२. व्युद्ग्रह प्रश्न—मिथ्याभिनिवेश से दूसरे को पराजित करके पूछे जाने वाले प्रश्न।
३. अनुयोगी प्रश्न—व्याख्या हेतु पूछे जाने वाले प्रश्न।
४. अनुलोम प्रश्न—कुशल कामना से पूछे जाने वाले प्रश्न।
५. तथाज्ञान प्रश्न—स्वयं जानते हुए भी दूसरों की ज्ञानवृद्धि हेतु पूछे जाने वाले प्रश्न।
६. अतथाज्ञान प्रश्न—अज्ञात विषय के सम्बन्ध में पूछे जाने वाले प्रश्न।

गुरुदेव तुलसी व्युद्ग्रह प्रश्न को छोड़कर प्राय: सभी प्रकार के प्रश्नों का अपनी अध्यापन शैली में प्रयोग करते थे।

सामान्यत: अध्यापक द्वारा विद्यार्थी को पूछे गए प्रश्न दो प्रकार के होते हैं—(१) ज्ञान के परीक्षण सम्बन्धी प्रश्न (२) विचारात्मक प्रश्न। अध्यापन काल में पूज्य गुरुदेव दोनों प्रकार के प्रश्नों का प्रयोग करते थे। प्रथम प्रकार के प्रश्न से वे विद्यार्थी साधु-साध्वियों के पूर्व पठित ज्ञान का परीक्षण तथा उस ज्ञान का प्रत्यावर्तन करवाते थे। विचारात्मक प्रश्न द्वारा वे किसी गहन समस्या को प्रस्तुत करते, जिससे विद्यार्थी गंभीर चिंतन एवं मनन के बाद उस प्रश्न का उत्तर दे सकें। इस प्रक्रिया से विद्यार्थी सदैव नए ज्ञान के अन्वेषण हेतु उत्कंठित रहते थे।

पूज्य गुरुदेव अध्यापन के समय स्वयं प्रश्न करके विषय को सहज और सरस बना देते थे। उनके प्रश्न संक्षिप्त, सरल, स्पष्ट, यथार्थ, सोद्देश्य

उच्चस्तरीय एवं प्रासंगिक होते थे। प्रश्न पूछते समय उनकी वाणी भी शांत और संयत होती थी। **विद्यार्थी साधु-साध्वी एवं समण समणी के द्वारा सही उत्तर देने पर उसकी पुष्टि वे कभी मुस्कान के द्वारा, कभी हाथ उठाकर, कभी संकेत के द्वारा या कभी सिर हिलाकर करते थे। कभी-कभी प्रशंसात्मक शब्दों से भी उत्तरदाता का उत्साह बढ़ाते रहते थे।** प्रश्न के उत्तर में जब तक पूर्ण भावाभिव्यञ्जना नहीं होती, उसे वे मान्य नहीं करते। इसके पीछे उनका दृष्टिकोण यह रहता था कि परिपूर्णता के बिना इनका व्यक्तित्व पूर्ण रूपेण नहीं निखर पाएगा। उनका धैर्य तब तक नहीं डोलता था, जब तक प्रश्न का पूरा उत्तर न आ जाए।

पूज्य गुरुदेव कुछ विशिष्ट विद्यार्थियों तक ही अपने प्रश्नों को सीमित नहीं रखते थे। कमजोर विद्यार्थियों की समझ की जांच हेतु भी वे कुछ न कुछ प्रश्न पूछते रहते थे। केवल आगे बैठने वाले गिने-चुने दो चार विद्यार्थियों से ही प्रश्न पूछने से अन्य विद्यार्थी अध्ययन से विरत, उदासीन या निराश हो जाते हैं। इस संदर्भ में शिक्षाशास्त्रियों का कथन है कि अध्यापक को कक्षा के सभी विद्यार्थियों से प्रश्न पूछने चाहिए। सभी छात्रों से प्रश्न पूछने से कक्षा के वातावरण में सजीवता बनी रहती है और सभी छात्रों का ध्यान अध्ययन में लगा रहता है।

अनेक बार गुरुदेव तुलसी प्रश्नों के माध्यम से विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों के आत्मविश्वास की परीक्षा भी करते थे। वे प्रश्न को घुमाकर इस रूप में प्रस्तुत करते, जिससे उनकी बुद्धि का व्यायाम हो सके। अनेक बार सही उत्तर बता देने पर भी गुरुदेव ऐसा प्रश्न उपस्थित कर देते, जिससे विद्यार्थी अपने आत्मविश्वास को तोल सके। इस प्रक्रिया से विद्यार्थियों के मस्तिष्क में Brain Storming चलती रहती थी। इस अध्यापन-शैली के कारण कोई भी विद्यार्थी कक्षा में अन्यमनस्क या शून्यचित्त होकर नहीं बैठ सकता था। इस संदर्भ में दो-तीन घटना-प्रसंगों को प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

विट्ठलपुर गाँव में रात्रि में प्रतिक्रमण के पश्चात् गुरुदेव ने संतों से 'महीमहेलास्यतमालपत्रकम्' पद का अर्थ पूछा। कोई भी यथार्थ अर्थ नहीं बता सका। फिर पूज्य गुरुदेव ने अर्थ बताते हुए कहा—''पृथ्वी रूपी महिला के मुख पर तिलक की तरह वह नगर बसा हुआ था।'' गुरुदेव ने प्रेरणा देते हुए कहा—''छानबीन की पद्धति छूट गई, अन्यथा इस प्रकार के शब्दों के अर्थ दुरूह नहीं होते। गंभीर ज्ञान के लिए कठिन एवं गंभीर ग्रन्थों का अध्ययन करते रहना चाहिए।''

सन् १९९६ का घटना प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव रात्रि के समय भक्तामर के श्लोकों का पश्चानुपूर्वी क्रम से अर्थ का प्रशिक्षण दे रहे थे। मत्तद्विपेन्द्र... (श्लोक 43) में गुरुदेव ने विद्यार्थी संतों से 'द्विप' शब्द की व्युत्पत्ति पूछी। बहुत अधिक सोचने पर भी विद्यार्थी संत सही उत्तर नहीं दे सके। गुरुदेव ने उनको समाहित करते हुए कहा—'द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबति इति द्विपः अर्थात् हाथी दो साधनों से पानी पीता है। एक साधन है सूंड और दूसरा साधन है मुंह अतः हाथी का एक पर्यायवाची नाम द्विप है। गुरुदेव के मुख से द्विप शब्द की व्युत्पत्ति सुनकर सभी विद्यार्थी संत आनंदविभोर हो उठे।

एक बार लाडनूं में श्रावक संबोध की व्याख्या करते हुए गुरुदेव ने फरमाया—'सम्यग्दर्शन्, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र—ये तीनों मोक्ष के मार्ग हैं। श्रावक जीवन का प्रारम्भ इसी से होता है। गुरुदेव ने साधु-साध्वियों से पूछा—''उत्तराध्ययन में मोक्ष के चार मार्ग बताए हैं फिर उमास्वाति ने रत्नत्रयी को मोक्ष का कारण माना, इसका दूसरा आगमिक आधार क्या है ?'' कुछ संतों ने उत्तर दिया कि तप का समावेश चारित्र में होता है। कुछ संतों का तर्क था कि तप हर कोई नहीं कर सकता अतः रत्नत्रयी मोक्ष का मार्ग है। गुरुदेव ने फरमाया—'ये यौक्तिक समाधान अलग बात है, आगमिक प्रमाण बताओ। कोई भी विद्यार्थी साधु-साध्वी आगमिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके, तब गुरुदेव ने समाहित करते हुए कहा—'ऐसे प्रमाण दिमाग में रखने चाहिए ताकि समय पर याद आ सकें।' प्रमाण बताते हुए गुरुदेव ने कहा—''भगवती सूत्र में

आराधना के तीन प्रकार हैं—नाणाराहणा दंसणाराहणा चरित्ताराहणा।'' गुरुदेव के मुख से संवादी प्रमाण सुनकर सभी शिष्य आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता व्यक्त करने लगे।

कक्षा में जब वे देखते कि अमुक विद्यार्थी साधु-साध्वी या समण-समणी का चित्त अध्ययन में केन्द्रित नहीं है तो वे उससे प्रश्न पूछ लेते थे जिससे वह पुनः मन से कक्षा में उपस्थित हो जाता था।

उत्तर पूछने पर जरा भी अटकने पर सहायता करने वाले अध्यापक विद्यार्थी की स्वतंत्र सोच और आत्मविश्वास को जागृत नहीं कर पाते। पूज्य गुरुदेव का धैर्य इतना प्रबल था कि प्रश्न पूछने के बाद विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों को उत्तर सोचने का पूरा अवकाश देते थे। सरल प्रश्न का गलत उत्तर मिलने पर भी न व्यंग्य करते थे और न ही धैर्य खोते थे। प्रश्न का उत्तर देने में एक साथ सामूहिक उत्तर देने जैसी अनुशासनहीनता उन्हें कतई पसंद नहीं थी। वे जिस विद्यार्थी से प्रश्न पूछते, उसको यदि कोई सहयोग कर देता तो वह उन्हें अभीष्ट नहीं था।

सन् १९६० अक्टूबर मास का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव विद्यार्थी साधुओं को दशवैकालिक सूत्र की वाचना दे रहे थे। कुछ दिनों बाद गुरुदेव ने परीक्षा की बात सोची। निर्धारित समय पर मौखिक परीक्षा प्रारंभ हुई। पूज्य गुरुदेव ने कई साधुओं को गाथा का अर्थ एवं शब्दार्थ आदि पूछे। एक मुनि अटक-अटक कर शब्दों का अर्थ कर रहे थे। पास में बैठे साधु धीरे-धीरे बोलकर उनका सहयोग कर रहे थे। गुरुदेव के कानों में सहयोग करने वाले साधुओं के स्वर टकराए। उनको यह सहयोग अखर रहा था। उन्होंने ओजस्वी स्वर में निग्रह करते हुए कहा—''**क्या छाक उठानी है, जो उसका सहयोग कर रहे हो। यदि सहयोग ही करना था तो दो दिन पहले करते। परीक्षा के समय सहयोग देकर इसको अप्रामाणिक बनाने का प्रयत्न कर रहे हो और स्वयं भी वैसे बन रहे हो। क्या यह बात एक साधु के लिए उचित है?**'' सभी साधु मौन हो गए और भविष्य के लिए सावधान भी।

कठिन प्रश्न का सही उत्तर देने वाले को पूज्य गुरुदेव प्रोत्साहित एवं पुरस्कृत भी करते थे। कमजोर विद्यार्थी यदि सही उत्तर देता तो वे उसे विशेष प्रोत्साहित करते थे। उनकी प्रसन्न और प्रशंसायुक्त दृष्टि ही विद्यार्थियों के लिए पारितोषिक थी, जो उनमें नया आत्मबल भर देती थी।

हिंदू शब्द राष्ट्रवाची होना चाहिए। जो हिन्दुस्तान में रहे, वह हिन्दू। यदि हिन्दू शब्द को राष्ट्रीयता के साथ जोड़ा जाए तो करोड़ों-करोड़ों मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि जो हिन्दुस्तान में रहते हैं, उन्हें भी हिन्दू कहलाने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

एक बूंद : एक सागर पृ. १२८०

मैंने भारत की ओर-छोर की यात्रा की है, पर मैंने एक भी आदमी नहीं देखा, जो भीख मांगता हो या चोर हो। मैंने इस मुल्क में अपार सम्पदा देखी है, उच्च, उदात्त नैतिक मूल्यों को देखा है, इस योग्यता और मूल्यों वाले भारतीयों को कभी कोई जीत नहीं सकता, यह मैं मानता हूं, तब तक, जब तक कि हम इस देश की रीढ़ ही न तोड़ दें और भारत की यह रीढ़ है, उसकी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत इसलिए मैं यह प्रस्ताव करता हूं कि भारत की पुरानी शिक्षा-व्यवस्था को हम बदल दें, उसकी संस्कृति को बदलें ताकि भारतीय यह सोचें कि जो भी विदेशी है, बेहतर है, ताकि वे सोचने लगें कि अंग्रेजी भारतीय भाषाओं से महान है, इससे वे अपना आत्म-सम्मान खो बैठेंगे, अपनी देशज जातीय संस्कृति भूलने लगेंगे और तब वे वह होंगे, जो हम चाहते हैं, सचमुच का एक आक्रांत और पराजित राष्ट्र (२ फरवरी १८३५ को लॉर्ड मैकाले ब्रिटिश संसद को सम्बोधित करते हुए)

नवनीत दिस. २००९ पृ. ३५ से साभार

३८. जिज्ञासा और समाधान

अध्यापक का कार्य केवल पाठ्य पुस्तक का शिक्षण कराना ही नहीं है। जब तक वह विषय हर विद्यार्थी को अधिगत न हो जाए, तब तक उसका शिक्षण अधूरा माना जाता है। शिक्षण और अधिगम की सफलता तभी है, जब विद्यार्थी उस पर खुलकर विचार-विमर्श एवं जिज्ञासा प्रस्तुत करे। बर्लाइन के **अनुसार जिज्ञासा उत्पन्न करना विद्यार्थी के लिए प्रभावी अभिप्रेरक होता है।'' जो अध्यापक अपने शिष्यों के मन में जिज्ञासा और समस्याएं पैदा नहीं कर सकता, उनके मन में उठी जिज्ञासाओं और समस्याओं को समाहित नहीं कर पाता, वह सफल अध्यापन नहीं करा सकता और न ही उनके मस्तिष्क को सक्रिय कर पाता है।** उपन्यासकार जैनेन्द्रजी के अनुसार ज्ञान जिज्ञासा रूप होता है। जो जिज्ञासुता को समाप्त कर दे, वह अज्ञान है।''[१] डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार जिज्ञासा व्यक्ति के विकास में स्थिर विचारों की अपेक्षा ज्यादा सहायक होती है।''[२] पूज्य गुरुदेव विद्यार्थी साधु-साध्वियों को प्रेरणा देते हुए अनेक बार कहते थे—''व्यक्ति का मानस जब तक जिज्ञासु है, ग्रहणशील है, तभी तक वह विद्यार्थी है। यदि जिज्ञासा नहीं है तो वह विद्यार्थी नहीं हो सकता।''[३]

कभी-कभी जब विद्यार्थी साधु-साध्वी या समणी संकोचवश या विषय की गंभीरता के कारण जिज्ञासा उपस्थित नहीं कर पाते तो गुरुदेव को अध्यापन में आनंद नहीं आता था। वे कभी नहीं चाहते थे कि विद्यार्थी साधु-साध्वियां या समण-समणियां केवल श्रोता बनकर उनकी बात सुनते रहें। साध्वी कनकप्रभा (वर्तमान साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा), साध्वी कनकश्री एवं साध्वी यशोधरा आदि साध्वियों को पूज्य गुरुदेव प्रमेयकमलमार्तण्ड का

---

१. शिक्षा और संस्कृति, पृ. ५६।
२. आधुनिक युग में धर्म पृ. १५।
३. आगे की सुधि लेई, पृ. १६१।

अध्यापन कर रहे थे। उनके साथ दीक्षा-पर्याय में बड़ी साध्वियां साध्वी कानकंवरजी, किस्तूरांजी आदि भी अध्ययन के लिए जाती थीं। विद्यार्थी साध्वियां संकोचवश कोई प्रश्न नहीं करती थीं तथा रत्नाधिक साध्वियां यह सोचकर प्रश्न नहीं करती थीं कि हमारे द्वारा प्रश्न पूछने पर विद्यार्थी साध्वियों के अध्ययन में बाधा पहुंचेगी। दो-तीन दिन मौन अध्यापन चलता रहा। तीसरे दिन गुरुदेव ने कहा—''गुम-सुम होकर पाठ सुन लेना ज्ञान-प्राप्ति का सही साधन नहीं है। तुम लोग किसी भी प्रकार का प्रश्न या जिज्ञासा नहीं करतीं, **इसका अर्थ है या तो मेरा पढ़ाया हुआ समझ में नहीं आ रहा है या फिर तुम लोगों का मन अध्ययन में नहीं लग रहा है या फिर मैं ऐसा मानूं कि तुम लोगों को सब कुछ आता है। मिट्टी के बुत की भांति बैठ जाने मात्र से ज्ञान कैसे बढ़ेगा? नए-नए तर्क एवं जिज्ञासा प्रस्तुत करो, जिससे मस्तिष्क की तार्किक शक्ति का विकास हो सके। बिना किसी प्रश्न या जिज्ञासा के अध्यापन नीरस और उबाऊ होता है।**'' गुरुदेव की इस प्रेरणा से दूसरे दिन ही विद्यार्थी साध्वियां अपने तर्क एवं प्रश्न उपस्थित करने लगीं। इस उपक्रम से गुरुदेव संतुष्ट हो गए।

पूज्य गुरुदेव शिष्य के भीतर उत्पन्न जिज्ञासा, तर्क और सुगबुगाहट को अच्छी तरह समझकर उसका सम्यक् समाधान करते थे। कोई भी प्रश्न या तर्क ऐसा नहीं था, जिसका समाधान उनकी औत्पत्तिकी और विलक्षण प्रतिभा के पास न हो। एक ही प्रश्न को दस बार समाहित करते हुए भी वे कभी ऊब का अनुभव नहीं करते थे। निम्न प्रसंग से जाना जा सकता है कि उनकी समाधायक चेतना कितनी जागृत थी?

पूज्य गुरुदेव गंगाशहर में बाल साधुओं को सिन्दूरप्रकर ग्रंथ पढ़ा रहे थे। सत्य-प्रकरण चल रहा था। अर्थ कराते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''जिसकी सत्य के प्रति अटूट आस्था होती है, उसके समक्ष व्याघ्र, सिंह आदि हिंसक प्राणी भी प्रहार करना भूल जाते हैं।'' एक बाल मुनि ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—''ऐसा कैसे संभव है? उस सर्प को क्या पता कि यह सत्यवादी है या

असत्यवादी ?'' समाहित करते हुए गुरुदेव ने कहा—''यद्यपि सांप को यह ज्ञान नहीं होता कि यह सत्यवादी है पर सत्यवादी के आभामंडल का प्रभाव इतना गहरा होता है कि सांप वहां स्थिर हो जाता है और उसके विष का प्रभाव समाप्त हो जाता है। यह सब घनीभूत आस्था से ही संभव है।''

महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाजी पूज्य गुरुदेव के उपपात में विराज रही थीं। गुरुदेव ने पूछा—'इच्छामि खमासमणो' पाटी का अर्थ सबके ध्यान में है या नहीं ? साध्वीप्रमुखाजी ने कहा—'सभी साध्वियां अर्थ जानने का प्रयत्न तो करती हैं।' गुरुदेव ने प्रेरणा देते हुए कहा—''यह गुरु-वंदन की महत्त्वपूर्ण पाटी है। प्राचीनकाल में तिक्खुत्तो के स्थान पर इसी पाटी से गुरु-वंदना की जाती थी।'' गुरुदेव की बात सुनकर बाल मुनि जम्बू ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—''हम तो इस पाटी से गुरुदेव एवं आचार्यश्री को वंदना करते हैं पर आप इसके द्वारा किसको वंदना करते हैं ?'' गुरुदेव ने मुस्कराते हुए कहा—''हम हमारे गुरु की वंदना करते हैं।'' बालमुनि की जिज्ञासा पर सब हंस पड़े। साध्वीप्रमुखाजी ने कहा—''इनके दिमाग में नए-नए प्रश्न उत्पन्न होते रहते हैं।'' **गुरुदेव ने फरमाया—''यह ज्ञान-वृद्धि का अच्छा लक्षण है। जितनी जिज्ञासा होगी, उतनी ही ज्ञान-वृद्धि होगी। इस सूक्त को हमेशा याद रखो—'जिज्ञासा ज्ञानजननी' अर्थात् जिज्ञासा ज्ञान को उत्पन्न करने वाली है।''**

जिज्ञासा भी जब अति तर्क की सीमा में पहुंच जाती तो गुरुदेव उस पर लगाम लगा देते थे। आगमों में निरूपित अनेक तत्त्वों के संदर्भ में जब विद्यार्थी साधु इस प्रश्न को उठाते कि यह कैसे संभव है ? अथवा जो पदार्थ केवली भी न देख पाए, उसे कैसे स्वीकार किया जाए ? उस अवसर पर उनके तर्क पर विराम लगाकर समाधान की भाषा में गुरुदेव कहते—''कुछ पदार्थ तर्कगम्य होते हैं और कुछ पदार्थ श्रद्धागम्य। श्रद्धागम्य तत्त्व के बारे में यदि कोई अनपेक्षित तर्क करके उलझन में पड़ता है तो वह सही तत्त्व को हस्तगत नहीं कर सकता अत: जिज्ञासा, तर्क अथवा प्रश्न भी श्रद्धा के आलोक में ही होने चाहिए।''

३९. अध्यापन में दृष्टांत, रूपक एवं सुभाषितों का प्रयोग

दृष्टान्त या निदर्शन को अंग्रेजी शब्द कोश में इलस्ट्रेशन कहा जाता है। जिसका अर्थ है—प्रकाश डालना। अध्यापन में स्पष्टता के लिए प्राचीन शिक्षण पद्धति में दृष्टान्तों का बहुलता से प्रयोग होता था। योग्य अध्यापक अपनी सूक्ष्म मेधा से ज्ञान को साकार करने हेतु उदाहरण, उपमा, दृष्टान्त आदि का प्रयोग करते थे, जिससे कठिन से कठिन विषय स्थायी तौर पर बोधगम्य हो जाता था। रोचक उपमा या दृष्टान्त से विद्यार्थी का ध्यान अधिगम पर एकाग्र हो जाता है तथा उसकी अनुभवशक्ति विस्तृत हो जाती है।

शब्दों के उचित प्रयोग के बिना अध्यापक दृष्टान्त या उपमा का प्रयोग करते हुए भी उसका स्पष्ट चित्र विद्यार्थी के मस्तिष्क में अंकित नहीं कर पाता। अपने चतुर्मुखी ज्ञान एवं विलक्षण बुद्धि-कौशल से संस्कृत, व्याकरण, दर्शन एवं तत्त्वज्ञान जैसे नीरस एवं गहन विषय को भी पूज्य गुरुदेव काव्य की भांति सरस, सुगम, बुद्धिगम्य एवं हृदयग्राही बनाकर पढ़ाते थे, जिससे विद्यार्थी साधु अध्ययन में तन्मय हो जाते थे। वाणी के उचित उतार-चढ़ाव, स्पष्ट उच्चारण, प्रभावी एवं सजीव शैली से वे अपने शिक्षण को रोचक और बोधगम्य बनाए रखते थे। विषय के अनुकूल दैनिक जीवन से संबंधित अनेक अनुभव, लौकिक उदाहरण, संस्मरण, युक्तियां और दृष्टान्त आदि तत्काल उनके स्मृति-प्रकोष्ठ पर तैर जाते थे, जिससे उनका अध्यापन सजीव बन जाता था। उनके विविधमुखी सटीक और सरल दृष्टान्त अधिगम को सरस बना देते थे, जिससे विद्यार्थी साधु-साध्वी का मन उस विषय में एकाग्र रहता था। कभी-कभी इनके माध्यम से वे विद्यार्थी को जीवन-निर्माण की शिक्षा भी दे देते थे। यहां उनकी सरस अध्यापन-शैली के कुछ प्रसंग प्रस्तुत हैं, जब उन्होंने उपमा या दृष्टान्त द्वारा प्रदत्त बोध को चित्र की भांति स्पष्ट कर दिया।

सन् १९६१ का प्रसंग है। आषाढ़ मास में पूज्य गुरुदेव प्रातः तालाब के किनारे भ्रमण कर रहे थे। तालाब में यत्र-तत्र कमल खिले हुए थे। पूज्य गुरुदेव तालाब की पाल पर एक वृक्ष के नीचे विराज गए। विकसित कमलों

को देखकर आगम सूक्त के माध्यम से प्रतिबोध देते हुए गुरुदेव ने कहा—''**जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा**—जैसे कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है, फिर भी उसमें लिप्त नहीं होता, वैसे ही संसार में रहते हुए भी साधक उससे उपरत रहे, वही वास्तविक संन्यास है। **कमल इसीलिए मुक्त होता है क्योंकि वह कीचड़ में फंसता नहीं है, उससे ऊपर रहता है। साधक की साधना भी तभी पूर्ण होती है, जब वह संसार से पूर्णतः ऊपर उठ जाए।**''

कभी-कभी पूज्य गुरुदेव दर्शन या शोध जैसे जटिल विषय को भी व्यावहारिक उदाहरण से समझाकर उसे सरस एवं सरल बना देते थे। एक बार गुरुदेव दर्शन के अन्तर्गत स्याद्वाद विषय को पढ़ा रहे थे। उसी समय मुमुक्षु बहिनें पहुंच गईं। गुरुदेव ने उनसे पूछा—''क्या तुम मुमुक्षु हो?'' बहिनों ने कहा—''तहत् गुरुदेव।'' गुरुदेव ने विद्यार्थी संतों की ओर संकेत करते हुए कहा—''ये कहते हैं कि तुम मुमुक्षु नहीं हो।'' यह विरोधी बात सुनते ही मुमुक्षु बहिनों में हलचल मच गई। बहिनों को समाहित करते हुए गुरुदेव ने कहा—''**तुम मुमुक्षु हो, यह जितना सत्य है उतना ही सत्य यह है कि तुम मुमुक्षु नहीं हो क्योंकि तुम वृद्ध मुमुक्षु नहीं हो, पुरुष मुमुक्षु नहीं हो, साध्वी मुमुक्षु नहीं हो इत्यादि।**'' अनेकान्त के गूढ़ विषय को पूज्य गुरुदेव ने विभज्यवादी शैली में व्यावहारिक उदाहरण देकर सहज और सरल बना दिया।

एक दिन अध्यापन के दौरान शोध कैसे की जाए, इस विषय को व्यावहारिक दृष्टान्त के द्वारा समझाते हुए गुरुदेव ने विद्यार्थी साधु-साध्वियों से कहा—''जिस प्रकार किसी व्यक्ति का हीरा गिर जाने के बाद उसे ढूंढने के लिए इर्द-गिर्द की सारी रेत एकत्रित की जाती है, उसे चलनी से छानकर धूल व कंकर अलग-अलग कर लिए जाते हैं फिर उसमें से छान-बीन कर हीरा निकाल लिया जाता है। ठीक उसी प्रकार सर्वप्रथम विषय के अनुरूप साहित्य एकत्रित किया जाए। फिर उन पुस्तकों को क्रमशः सलक्ष्य पढ़ा जाए, साथ-साथ विभिन्न विषयों की छान-बीन की जाए फिर निर्धारित विषय के ऊपर अपने मौलिक विचार लिखे जाएं, तब शोध का कार्य महत्त्वपूर्ण होता है।''[१]

१. जैन भारती २६ जून १९६४।

४०. अध्यापन में प्रेरक कथाओं का प्रयोग

कथा-कथन अनौपचारिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण साधन है। प्राचीनकाल से ही विद्यार्थियों में नैतिक मूल्य विकसित करने के लिए कथाओं का प्रयोग होता रहा है क्योंकि उपदेश उतना प्रभावी नहीं होता, जितना कि कथा के पात्रों के माध्यम से दिया गया बोध। वेद, उपनिषद् और आगम-साहित्य में भी कथा के माध्यम से गंभीर तत्त्व एवं आदर्श का निरूपण मिलता है। ग्रीन एवं बरचेनो के अनुसार अध्यापक को कथा-कथन की योग्यता से सम्पन्न होना चाहिए।''[१] डॉ. एस. एस. माथुर के अनुसार कथा सुनाने से विद्यार्थी की कल्पना शक्ति में वृद्धि होती है। जो अध्यापक कथा-कथन की कला में निपुण होता है, वह विद्यार्थी के भीतर मूल्यों को संप्रेषित करने में सफल हो जाता है। कहानी की भाषा-शैली और विषय-वस्तु सरल, शुद्ध, मनोरंजक, रोचक, संक्षिप्त और प्रवाहमयी होनी चाहिए। कथा-कथन का ढंग भी आकर्षक, चित्रात्मक और स्पष्ट होना चाहिए।''[२]

विचारक जारविस का अभिमत है कि कहानी विधि से बालकों के आचरण में आदर्श का निर्माण होता है, जो उनके व्यक्तित्व एवं चरित्र-विकास में सहायक होता है। पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी अध्यापन के दौरान विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों की रुचि एवं अवधान को बनाए रखने के लिए प्रेरक, सरल और रोचक कथाओं के माध्यम से अपने कथ्य को स्पष्ट करते रहते थे। प्रभावी और चित्रात्मक शैली में कथा-कथन से विद्यार्थी का मन आकृष्ट और एकाग्र बना रहता था तथा उनकी कल्पना-शक्ति को विकसित होने का अवसर मिलता था। कभी-कभी उचित हाव-भाव के साथ महापुरुषों के जीवन-प्रसंग सुनाने से विद्यार्थियों में एक नयी प्रेरणा का संचार हो जाता

---

१. A Primer of a teaching Practice P. 20, Green and Birchenough ।
२. शैक्षिक तकनीकी के मूल आधार पृ. १००।

था। अध्यापन के दौरान वे कभी पूरी विस्तार से कथा कहते तो कभी केवल संकेत रूप में कथा का निर्देश कर देते थे।

उद्देश्यहीन कथा-कथन निरर्थक होता है। पूज्य गुरुदेव का कथा-कथन व्यर्थ समय बिताने या केवल मनोरंजन के लिए नहीं होता था। वे उद्देश्य के साथ प्रसंगवश कथा कहते थे। लाडनूं के अंतिम प्रवास का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव सिंदूरप्रकर का वाचन कर रहे थे। अहंकार का प्रसंग चल रहा था। अध्यापन के दौरान प्रशिक्षण देते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''सामान्यत: व्यक्ति अपनी बुराई एवं अपना अज्ञान नहीं देखता। जिस दिन वह अपना अज्ञान देख लेता है, उसके लिए ज्ञान-प्राप्ति के स्रोत खुल जाते हैं।'' यूनान में एक दिन जैंथिप्पी देवी प्रकट हुई। लोगों ने उससे पूछा—''अभी यूनान में सबसे बड़ा ज्ञानी कौन है?'' देवी बोली—''महान् तत्त्ववेत्ता और गहन चिंतक सुकरात सबसे बड़ा ज्ञानी है।'' लोग सुकरात को बधाई देने उसके घर पहुंचे। भीड़ को देखकर उसने लोगों से पूछा—''आज आप लोग यहां क्यों आए हो?'' लोगों ने कहा—''आप हमारे देश के सबसे बड़े ज्ञानी पुरुष हैं अत: बधाई देने आए हैं।'' सुकरात बोला—''आप लोग गलत स्थान पर पहुंच गए हैं। किसी दूसरे व्यक्ति के भरोसे आप यहां आ गए हैं।'' लोग पुन: देवी के पास पहुंचे। देवी ने कहा—''ज्ञानी वही है, दूसरा नहीं अत: तुम वहीं जाओ।'' लोग पुन: सुकरात के पास पहुंचे और देवी द्वारा कही बात बताई। सुकरात बोला—''मैंने अपने अज्ञान को पहचान लिया है अत: मैं इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता।'' लोग जब पुन: देवी के पास पहुंचे तो रहस्य का उद्घाटन करते हुए देवी ने कहा—''जो व्यक्ति अपने अज्ञान को जानता है, वह सबसे बड़ा ज्ञानी होता है।'' उपसंहार में गुरुदेव ने कहा—''तुम लोग भी जिस दिन अपने आपको ज्ञानी मान लोगे, विकास और ज्ञान-प्राप्ति का द्वार बंद हो जाएगा।''

उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन का वाचन चल रहा था। उसमें एक सूक्ति का अर्थ एवं व्याख्या चल रही थी—'**धारेज्जा पियमप्पियं**' अर्थात् मुनि प्रिय एवं अप्रिय सभी परिस्थितियों में सम रहे। गुरुदेव ने प्रेरणा देते हुए

कहा—'**प्रतिकूलता को तो सहा जा सकता है पर अनुकूलता एवं प्रशंसा को सहना बड़ा दुष्कर कार्य है। प्रशंसा सुनने में अच्छी लग सकती है पर उसका परिणाम सुंदर नहीं होता। प्रशंसा सुनकर यदि व्यक्ति उसमें लुब्ध या अहंकारग्रस्त हो जाता है तो उसका पतन अवश्यंभावी है।** मघवागणी में यह विरल विशेषता थी कि वे प्रशंसा में भी अपना संतुलन बनाए रखते थे।'' विषय को सरस और हृदयग्राही बनाने के लिए गुरुदेव ने एक पौराणिक कथा सुनाते हुए कहा—'एक मूर्तिकार ने अपने जीवन के सांध्यकाल में यमराज को ठगने के लिए अपने समान नौ मूर्तियों का निर्माण किया। यमराज आया पर एक समान दस व्यक्तियों को देखकर वह असमंजस में पड़ गया। सोचा किसे ले जाऊं? एक युक्ति का सहारा लेकर वह प्रशंसात्मक शब्दों में बोला—'कमाल! कमाल! कमाल! कितनी सुंदर मूर्तियां बनाई हैं, काश! एक कमी नहीं होती तो कितना अच्छा होता।'' प्रशंसा से अभिभूत मूर्तिकार तत्काल बोला—'कहां है कमी?' यमराज मूर्तिकार की चोटी पकड़कर बोल पड़ा—'यहां।' प्रशंसा ही उसकी मौत का कारण बन गई। प्रेरक कथा के माध्यम से गुरुदेव ने हर परिस्थिति में सम रहने का प्रशिक्षण दे दिया।

पूज्य गुरुदेव ने बाल संत मुनि जंबूकुमारजी को हिन्दी पढ़ने की प्रेरणा दी। अंग्रेजी माध्यम से अध्ययन तथा दक्षिण प्रवासी होने के कारण उनकी हिन्दी में कुछ कम रुचि थी अत: उन्होंने गुरुदेव की बात पर ध्यान नहीं दिया। कुछ दिनों बाद पुन: गुरुदेव ने पूछा—'हिन्दी में आगे बढ़ रहे हो या नहीं?' उनके चेहरे से गुरुदेव को आभास हो गया कि अभी हिन्दी का अभ्यास प्रारम्भ नहीं किया, उन्हें प्रेरणा देते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''**जंबू! मेरी बात को गंभीरता से लो और हिन्दी का सलक्ष्य अध्ययन करो। तुम यह मत सोचो कि अंग्रेजी के सहारे हिन्दी का काम चला लूंगा।**'' उस समय आगम व्याख्या-साहित्य की एक घटना से उन्हें प्रेरणा देते हुए गुरुदेव ने फरमाया—''एक वृद्ध के आठ पुत्र एवं आठ पुत्रवधुएं थीं। एक बार किसी कारण से उसकी आंख की ज्योति क्षीण हो गयी। पुत्रों ने पिता को आंखों की चिकित्सा

कराने का परामर्श दिया लेकिन वृद्ध बोला—''तुम सब लोगों की आंख मेरी ही आंख है। अब मैं तुम लोगों की आंखों से ही देखा करूंगा। मेरी दो आंखें नहीं हैं तो क्या? तुम लोगों की ३२ आंखें मुझे उपलब्ध हैं। यदि मेरी ज्योति चली भी गयी तो क्या अंतर पड़ने वाला है?'' पुत्रों के बार-बार आग्रह करने पर भी वृद्ध ने चिकित्सा नहीं करवाई। कुछ दिनों में वह प्रज्ञाचक्षु हो गया। एक दिन घर में आग लग गयी। परिवार के सभी सदस्य भाग गए। आत्मरक्षा के उपक्रम में सभी वृद्ध पिता को भूल गए। स्वयं की आंखों के अभाव में वह वहीं भस्मसात् हो गया।'' उपसंहार करते हुए गुरुदेव ने प्रतिबोध दिया कि स्वयं की आंख की भांति स्वयं का ज्ञान भी बहुत उपयोगी होता है। दूसरों पर निर्भर रहने वाला पंगु हो जाता है। **इस कथा से प्रेरणा लेकर स्वयं के ज्ञान पर विश्वास करो और हर दिशा में प्रगति करो, जिससे भविष्य में तुम्हें पराश्रित न रहना पड़े।**'' बाल मुनि जम्बू गुरुदेव के मुख से इस कथा को सुनकर हिन्दी सीखने के लिए कृत संकल्प हो गए।

जिन लोगों के पास कोई शास्त्रीय पदवी नहीं होती है, वे प्राय: बड़े अच्छे अध्यापक बनते हैं क्योंकि वे प्रयोग के लिए तैयार रहते हैं। विशेषज्ञ न होने के कारण वे सीखने में, जीवन को समझने में रुचि रखते हैं। एक सच्चे अध्यापक के लिए अध्यापन टेकनिक नहीं है, वह उसकी जीवन-पद्धति है। एक बड़े कलाकार की भांति वह अपने सजृनशील कार्य को छोड़ने के स्थान पर, भूखों मरना अधिक पसन्द करेगा। जब तक व्यक्ति में अध्यापन करने की ज्वलन्त अभिलाषा न हो, उसे अध्यापक नहीं बनना चाहिए। यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि व्यक्ति इसका पता लगाए कि उसमें यह प्रतिभा है अथवा नहीं, केवल जीविकोपार्जन के साधन के लिए अध्यापन में आना उचित न होगा।

शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व पृ. ८५, जे. कृष्णमूर्ति

४१. पत्रों के माध्यम से अनौपचारिक शिक्षण

अच्छा शिक्षक केवल पुस्तक के माध्यम से ही बोध नहीं देता, वह अन्य उपायों का प्रयोग भी कर सकता है। पत्र के माध्यम से शिक्षण या बोध देना प्राचीन भारतीय परम्परा रही है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने जेल में रहते हुए इंदिरागांधी को जो पत्र लिखे, उनमें विविधमुखी ज्ञान का भंडार है। अब्राहम लिंकन ने अध्यापक को पत्र के माध्यम से अपने पुत्र को यथार्थ जीवन जीने की शिक्षा देने का आग्रह किया, वह पत्र आज भी ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में अनेक अध्यापक एवं पुत्रों का मार्गदर्शन करने वाला है। पूज्य गुरुदेव ने पुस्तकों से ही नहीं, पत्रों के माध्यम से भी दूरस्थ शिष्य समुदाय की ज्ञान-चेतना को झकझोरने का प्रयत्न किया। उनका पत्र-साहित्य अत्यन्त मार्मिक, प्रेरक एवं जीवन को नयी दिशा देने वाला है, जो महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाजी द्वारा सम्पादित 'आचार्य श्री तुलसी के पत्र' शीर्षक से तीन भागों में प्रकाशित है। यहाँ पत्र के द्वारा अध्यापन की नई विधि के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं। इन पत्रों में कहीं उनका मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व झलक रहा है तो कहीं उनके ज्ञान की गूढ़ता, कहीं प्रेरक व्यक्तित्व की झलक है तो कहीं सुघड़ साहित्यकार की।

यहाँ क्रमशः साध्वीश्री सुखदेवांजी, मुनि उदितकुमारजी, साध्वी वीणाकुमारीजी, साध्वी सुमनप्रभाजी, परिमलप्रभाजी एवं मुझे (समणी कुसुमप्रज्ञा) को दिए गए पत्रों एवं संदेशों के कुछ अंश उद्धृत किए जा रहे हैं—

*''तुम लेना चाहती हो मुझसे जीवन-सूत्र। वह भी मेरे उनसठवें जन्मदिवस के उपलक्ष में। तो लो मैं लिख देता हूँ कुछ सूत्र—

१. **अप्पणा सच्चमेसेज्जा**—अपने आप सत्य का अन्वेषण करो।

२. **जं सेयं, तं समायरे**— जो श्रेय है, उसका समाचरण करो।

३. **अणायारं परक्कम्म, नेव गूहे न निण्हवे**—गलत काम करके उसे छुपाओ नहीं, उसका अपलाप भी मत करो।

४. **विज्जा चरणं पमोक्खो**—ज्ञान और आचार—ये दोनों समन्वित मोक्ष-मार्ग हैं।

५. **अणुसासिओ न कुप्पेज्जा**—कड़ा अनुशासन होने पर भी कुपित मत बनो।

ये कुछ ऐसे जीवन सूत्र हैं, जिनको लेकर चलने वाला साधक जागरूक रहता है। जागरूक साधक अपने आपको गर्तपात से बचा लेता है।''[१]

*''तुमने शैशव वय में संयम स्वीकार किया है। कुटुंब परिवार के प्यार को छोड़कर कठोर जीवन अख्तियार किया है। कितने सौभाग्य का विषय है। अब तुम्हें अपना निर्माण करना है। विनीत बनना है। विज्ञ बनना है। शिष्ट बनना है और विशिष्ट बनना है। सूत्र पढ़ना है और उनका अर्थ भी पढ़ना है। हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत पढ़ना है तो अंग्रेजी भी पढ़ना है। अनुसन्धाता भी बनना है। सदा हँसते-खिलते रहना है। कहने की बात विवेकपूर्वक कहना है और सब कुछ शांत भाव से सहना है। शासन भक्त की तरह शासन की प्रभावना करते अपना-पराया सबका कल्याण हो, वैसा करना है। बस आने वाले समय को सार्थक बनाना है। इसी विश्वास के साथ अनेक बार शुभकामना।''[२]

*''वीणा की झंकार मधुर होती है। वैसी मधुरता हमारी भाषा में, भावों में होनी चाहिए, नीरसता और विरसता नहीं।''[३]

*''सुमन की सुषमा, कोमलता, विकस्वरता कितनी आकर्षक होती है। उसकी प्रभा पाने वाली साध्वी का जीवन क्या वैसा नहीं होना चाहिए? बस यही निर्देश, आदेश, उपदेश है कि तुम अपने संयमी जीवन को वैसा बनाओ।''[४]

*''जहाँ जाओ, आध्यात्मिक परिमल महकाती रहना, बिखेरती रहना। विनय का विकास, अनुशासन का विकास, श्रमशीलता का विकास,

१. आचार्य तुलसी के पत्र भा.-१, पृ. १९१, १९२।
२. आचार्य तुलसी के पत्र भा.-१, पृ. २४४।
३. आचार्य तुलसी के पत्र भाग-२, पृ. १३३।
४. आचार्य तुलसी के पत्र भा.-१ पृ. २१९।

परस्पर सौहार्द का विकास, स्वाध्याय-ध्यान का विकास—ये सब आध्यात्मिक परिमल हैं, सुगंध हैं। इनका निखार, विस्तार, प्रसार करती रहना। स्वस्थ रहना। ध्रुवयोग को कभी न भुलाना। यही शिक्षा है, संदेश है, आदेश है, उपदेश है।''[१]

तुम बत्तीसवें वर्ष में प्रवेश कर रही हो। आगमों में बत्तीस वर्ष को पूर्ण युवावस्था माना गया है। पिछला जीवन तुमने जैसे सक्रियता और कर्मठता के साथ जीया है, वैसे ही आगे भी श्रम करते रहना है। आगम-साहित्य का अवगाहन कर तुमने धर्मसंघ की तो अपूर्व सेवा की ही है, साथ ही तुम्हें निर्जरा का भी अवसर मिला है।''

अपने गुरु, नेता और साथ में अध्यापक की महनीय भूमिका निभाने वाले मार्गदर्शक के हाथों से लिखे या लिखाए ऐसे पत्र व्यक्ति की चेतना को झंकृत करके तद्रूप में परिणत होने की प्रेरणा देते रहते हैं। गुरुदेव तुलसी ने हजारों पत्र अपने हाथ से लिखकर अथवा अन्य के हाथों लिखवाकर भेजे, जिनके माध्यम से अनेक शिष्यों की न केवल मानसिक प्रसन्नता में वृद्धि हुई, अपितु उन्हें जीने की सही राह भी मिल गई।

मैं जानता हूं कि मेरे बेटे को यह सीखाना होगा कि सभी लोग न्यायपरायण नहीं होते, सभी सच्चे नहीं होते लेकिन उसे यह भी सिखाओ कि हर दुष्ट के मुकाबले में एक शूरवीर भी होता है। उसे यह सिखाओ कि हर शत्रु की तुलना में एक मित्र भी होता है। यदि सिखा सको तो यह भी सिखाओ कि पाए हुए पांच डॉलरों से कमाया हुआ एक डॉलर अधिक मूल्यवान होता है....उसे खोना भी सिखाओ और जीत का मजा लेना भी। अगर हो सके तो उसे ईर्ष्या से दूर रहना भी सिखाओ और शान्त हंसी का रहस्य भी सिखाओ।..... उसे सभी लोगों की बात पर कान देना सिखाओ। पर साथ ही यह भी सिखाओ कि वह जो कुछ सुने, सत्य के कपड़े से छानकर केवल शुभ को ही स्वीकार करे।

१. आचार्य तुलसी के पत्र भा. २ पृ. २५४।

४२. अध्यापन में आशुकवित्व का प्रयोग

आशुकवित्व प्रतिभा का विशिष्ट प्रयोग है। यह एक ओर आशुकवित्व करने वाले की मानसिक एकाग्रता और बाहुश्रुत्य को प्रकट करता है तो दूसरी ओर सुनने वाले के मन को भी बांधता है। पूज्य गुरुदेव ने हिन्दी में सैकड़ों बार आशुकवित्व किया। बाल साधुओं को भाषा का ज्ञान कराने या उनके मनोविनोद हेतु पूज्य गुरुदेव कभी-कभी संस्कृत में भी आशुकवित्व करते थे, जिससे वातावरण एवं अध्यापन सरस हो जाता तथा विद्यार्थी साधुओं का उनके साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता था। यहां अध्यापन के दौरान संस्कृत में आशुकवित्व के कुछ प्रसंग प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

* रतनगढ़ में नौ बाल साधुओं ने गुरुदेव के पास कालूकौमुदी की साधनिका (प्रक्रिया) प्रारम्भ की। अध्यापन के प्रारंभ में गुरुदेव ने एक श्लोक की रचना करते हुए कहा—

'नवमुनयो नवमुनयः, कर्तुं लग्ना नवाम् हि साधनिकाम्।
नवमाचार्यसमक्षे, न हि लप्स्यन्ते कथं नवं ज्ञानम्?

अर्थात् नौ बालमुनियों ने नवम आचार्य के समक्ष व्याकरण की साधनिका करनी प्रारम्भ की है अतः वे नया ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त करेंगे?

* बाल साधुओं के अस्वास्थ्य की स्थिति में जब उनके पढ़ने की मानसिकता नहीं होती तो वे उन्हें पास बुलाकर ऐसी प्रेरणा देते कि विद्यार्थी साधु पढ़ने के लिए तैयार हो जाते। बिलवाड़ी में शैक्ष साधु मुनि मनक एवं कनक बैठे थे। दीक्षित होने के बाद उनको शारीरिक अस्वास्थ्य का सामना करना पड़ा। उस समय की स्थिति का चित्रण करते हुए '**मेरा जीवन : मेरा दर्शन**' में गुरुदेव कहते हैं—''**छोटी अवस्था में जो बालक मेरे पास आ गए, उनके जीवन-निर्माण का दायित्व मुझ पर था। साधना की दृष्टि से मैं प्रायः प्रतिदिन उनको कुछ-न-कुछ प्रेरणा देता रहता था।** संस्कृत भाषा के प्रति बाल साधुओं के मन में आकर्षण पैदा करने के लिए मैंने तत्काल

अनुष्टुप् छंद में संस्कृत के दो श्लोक बनाकर उनको सुनाए—

१ कदाचिदुदरव्याधिः, कदाचिद् दंतपीडनम्।
कदाचिच्चक्षुराक्षेपः कंठशोषो यदा कदा॥
२ इत्याद्यामयसंदोहः, एकगात्रे प्रवर्तते।
कथं स्वाध्याय-सद्ध्यानं, निर्विघ्नं भगवन्! भवेत्?[१]

उक्ति-वैचित्र्य के साथ संस्कृत श्लोकों में स्वाध्याय-ध्यान की प्रेरणा प्राप्त कर दोनों मुनि हर्ष विभोर हो गए। मुनि मनक ने बद्धाञ्जलि प्रार्थना की—''गुरुदेव! आप हम दोनों को ऐसा आशीर्वाद दें, जिससे हम शीघ्र ही स्वास्थ्य-लाभ कर विकास के पथ पर आगे बढ़ सकें।'' बाल साधुओं के प्रोत्साहन हेतु गुरुदेव ने उनकी भावना को भी श्लोकबद्ध करके कहा—

३ प्रार्थनामसकृत् कुर्वे, मनकोऽहं कृताञ्जलिः।
कनकाय च महयं च, शीघ्रं स्वास्थ्यं समर्पय॥
४ बिलबाड्या उपवने, रात्रिवासे सुखास्पदे।
तुलसीगणिना प्रोक्ता, सद्यः श्लोकचतुष्टयी॥

* रीड़ीग्राम का प्रसंग है। शीतकाल का समय था। गणपतजी ने भूल से साढ़े तीन बजे ही पौने पांच बजे की आवाज दे दी। शैक्ष साधु गुरुदेव के पास आकर स्वाध्याय करने लगे। दो घंटे बाद ज्ञात हुआ कि अभी साढ़े पांच ही बजे हैं। गुरुदेव ने शैक्ष साधुओं को पुनः सोने के लिए कहा पर कोई भी साधु गुरु-सन्निधि को छोड़कर सोने के लिए तैयार नहीं हुआ। जल्दी उठने के कारण बाल साधु आलस्य का अनुभव कर रहे थे। उनके ज्ञानवर्धन एवं मनोविनोद के लिए गुरुदेव ने तत्काल चार पद्य बनाए, उनमें से दो पद्य इस प्रकार हैं—

जिनाश्रितानां मर्त्यानां, निर्भयत्वं निसर्गतः।
आनंद उदयं याति, वर्धमानं प्रतिक्षणम्॥ १॥

---

१. मेरा जीवन.....भाग ६ पृ. २६४, २६५।

मृगसरमासे रीड़ीग्रामे, रात्रौ सुखकरपश्चिमयामे।
तुलसी कुरुते मनोविनोदं, शिशुशिष्याणां श्रमापनोदम्[१] ॥ २ ॥

अर्थात् रीड़ीग्राम में मृगसर महीने में पश्चिम रात्रि में शिशु शिष्यों के श्रम को दूर करने के लिए 'तुलसी' मनोविनोद कर रहा है।

सन् १९८० धुरी का प्रसंग है। वहां एक स्थान पर दरवाजा छोटा होने से चोट लगने की पूरी संभावना थी। पश्चिम रात्रि में अनेक संत गुरुदेव के पास आगम का स्वाध्याय कर रहे थे। गुरुदेव ने संस्कृत-ज्ञान के साथ व्यवहार का प्रशिक्षण देने हेतु एक संस्कृत श्लोक की रचना की—

सावधानेन भाव्यं भो, तिष्ठन्नस्मिन् शिलातले।
वरीयानप्रमादोऽयं, शिरः स्फोटनशंकया॥

इस पद्य के माध्यम से गुरुदेव ने संस्कृतज्ञान के साथ सब संतों को जागरूक भी कर दिया।

* पूज्य गुरुदेव की सन्निधि में अनुकम्पा की चौपाई का वाचन चल रहा था। किसी आवश्यक कार्य से समय पर वाचन शुरू नहीं हुआ। वहां उपस्थित साधु-साध्वियों ने आपस में बात करनी प्रारंभ कर दी। इससे वातावरण प्रतिध्वनित होने लगा। एक बार आचार्यवर ने साधु-साध्वियों पर दृष्टि डाली, उसके प्रभाव से एक बार बातें बंद हुईं लेकिन कुछ समय बाद पुनः आपसी वार्तालाप प्रारंभ हो गया।

पूज्य गुरुदेव भूल का अहसास करवाना चाहते थे अतः सद्यः रचित एक संस्कृत श्लोक का उच्चारण किया—

सर्वत्र शोभनं मौनं, धर्मस्थाने विशेषतः।
आत्मनः निर्जरालाभः, प्रतिष्ठा पर्षदः परम्॥

पूज्यवर से संस्कृत पद्य के माध्यम से सामयिक और मार्मिक प्रतिबोध पाकर सबको अपनी गलती का अहसास हो गया।

* कानपुर से कलकत्ता जाते समय आहार, पानी, स्थान आदि की कठिनाई रहती थी किन्तु गुरुदेव का विधायक दृष्टिकोण अभाव में भी आनंद का अनुभव करता था। एक दिन यात्रा संघ का पड़ाव बहुत छोटे गांव में था।

चारों ओर जंगल फैला हुआ था। बाल साधु गुरुदेव के उपपात में बैठे स्वाध्याय कर रहे थे। गुरुदेव ने आसमान की ओर देखा। आकाश तारों से दमक रहा था, ऐसा लगता था मानो रात्रि-सुंदरी ने अपनी ओढ़नी में तारे टांग रखे हों। उस दृश्य को देखकर पूज्य गुरुदेव का प्रकृति-प्रेम मुखर हो उठा। तत्काल उनके मुखारविन्द से संस्कृत श्लोक की रचना हो गई—

अस्तंगते दिवानाथे, निशानाथेऽप्यनुद्गते।
सखे! न खेदमायासि , पश्य तारांकितं नभः॥

सूर्य अस्त हो गया, चांद उगा नहीं फिर भी हे मित्र! निराश मत बनो। मन को पुलकित करने वाला यह तारों भरा आकाश देखते रहो।

* पूज्य गुरुदेव एक बार समणीवृंद का अध्यापन कर रहे थे। प्रसंगवश जीवनोपयोगी बातों को जीवन में उतारने की प्रेरणा देते हुए तत्काल संस्कृत श्लोक की रचना करते हुए उन्होंने कहा—

केवलं कथनं कुर्यात् , करणं तरणं न हि।
ततस्तस्य कृते किं स्याल्लज्जास्पदमतोऽधिकम्॥

कभी-कभी पूज्य गुरुदेव प्राचीन संस्कृत पद्य की समस्या-पूर्ति करके भी विद्यार्थी साधु-साध्वियों को संस्कृत भाषा के साथ नया प्रेरणा-पाथेय प्रदान कर देते थे। दशवैकालिक सूत्र साध्वाचार की आधारभूमि प्रस्तुत करता है अतः इसको कंठस्थ करना सबके लिए अनिवार्य जैसा है। प्राचीन आचार्यों ने व्याकरण पढ़ने की प्रेरणा देने के लिए निम्न पद्य बनाया—

यद्यपि बहुनाधीषे, तथापि पठ पुत्र! व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत्, सकलं शकलं सकृच्छकृत्॥

इस पद्य की समस्यापूर्ति करते हुए गुरुदेव ने विद्यार्थी साधु-साध्वियों को दशवैकालिक सीखने एवं मनन करने की प्रेरणा देते हुए कहा—

यद्यपि बहुनाधीषे, तथापि पठ दशकालिकं सूत्रम्।
आचारोऽनाचारो, मा भूदध्यात्मविस्मृति र्येन॥

इस प्रकार अध्यापन के मध्य आशुकवित्व का प्रयोग करके गुरुदेव तुलसी न केवल अपने अध्यापन को सरस बनाते थे, बल्कि उस प्रेरणा को भी चिरस्मरणीय कर देते थे।

४३. उच्चारण-शुद्धि का अभ्यास

भाषा का आधार शब्द होते हैं लेकिन शब्दों की आत्मा उनके उच्चारण मे बसती है। भाषा की स्पष्ट अभिव्यक्ति अध्यापक का मूल गुण है क्योंकि अध्यापन के समय अध्यापक का उच्चारण अधिगम-क्रिया को बहुत अधिक प्रभावित करता है। **अध्यापक जो कुछ बोले, वह अंतिम पंक्ति में बैठे छात्र को साफ एवं स्पष्ट संप्रेषित होना चाहिए। यदि अध्यापक का उच्चारण स्पष्ट एवं सम्यक् गति विराम के साथ नहीं होता है तो अध्यापन प्रभावी और चित्ताकर्षक नहीं बन सकता।** भाषा का शुद्ध उच्चारण और शुद्ध लेखन भी उसके अंग बनते हैं। संयुक्त अक्षरों का स्पष्ट उच्चारण नहीं करने वाला अध्यापक कक्षा में हंसी का पात्र बन जाता है। यदि उसका वाक्य-विन्यास त्रुटिपूर्ण है तो वह विद्यार्थी को प्रभावित नहीं कर सकता और विद्यार्थी भी वैसा ही अशुद्ध बोलना सीख लेते हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी का उच्चारण स्पष्ट, प्रभावी, उदात्त आदि ध्वनि से युक्त एवं व्याकरण संगत था। लचीला या ढीला-ढाला उच्चारण उन्हें कतई पसंद नहीं था। अस्वास्थ्य की स्थिति में भी उनके स्वर की बुलंदी विद्यार्थी साधु-साध्वियों को आश्चर्य में डाल देती थी।

आदर्श अध्यापक स्वयं के सही उच्चारण के साथ विद्यार्थी की उच्चारण-शुद्धि और शुद्ध वर्तनी पर भी ध्यान देता है। प्राचीन काल में अध्यापन का प्रथम अंग था—उच्चारण-शुद्धि, जिसे संहिता कहा जाता था। भारत के प्राचीन वाङ्मय वेद, आगम, त्रिपिटक आदि शुद्ध उच्चारण के साथ मौखिक रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रान्त होते रहे। आज स्कूल और कॉलेजों में इस बात की कमी आ गई है इसलिए एम. ए. पास विद्यार्थी भी न शुद्ध लिख सकते हैं और न ही शुद्ध उच्चारण कर पाते हैं। गुरुदेव तुलसी अपना बहुमूल्य समय बाल मुनियों की उच्चारण-शुद्धि पर नियोजित करते थे। अनेक बार आगम पद्यों का सामूहिक लयबद्ध उच्चारण करवाते थे। उच्चारण में आरोह-अवरोह,

दीर्घ-ह्रस्व एवं विराम पर पूरा ध्यान देते थे। वे तब तक उच्चारण की पुनरावृत्ति करवाते रहते थे, जब तक सामने वाले अध्येता का उच्चारण-शुद्ध नहीं हो जाता। कभी-कभी तो पच्चीस-तीस बार उसी शब्द को दोहराने पर भी वे क्लान्ति का अनुभव नहीं करते थे। शुद्ध, स्पष्ट एवं अस्खलित उच्चारण करने वालों को पूज्य गुरुदेव जहां पुरस्कृत करते तो स्खलना करने वाले को उचित प्रतिबोध भी देते थे।

जब पूज्य गुरुदेव तुलसी स्वयं विद्यार्थी थे, तब भी वे अपने पास अध्ययनरत साधु-साध्वियों की उच्चारण-शुद्धि में पूरा समय लगाते थे। पूज्य गुरुदेव उच्चारण की सूक्ष्म स्खलना को भी पकड़ लेते थे। अशुद्ध उच्चारण उनके कान में शूल की भांति चुभता था। नव आगंतुक या बालकों को नमस्कार महामंत्र भी बार-बार रटाते रहते थे। परमेष्ठी वंदना या अर्हत् वंदना के सामूहिक उच्चारण में उनके कानों को यदि दीर्घमात्रा के स्थान पर ह्रस्व सुनाई देता या संयुक्त व्यंजन का उच्चारण सही सुनाई नहीं देता तो तत्काल उनका ध्यान वहां चला जाता और उस उच्चारण को सही और शुद्ध करवा कर ही वे आगे का क्रम प्रारंभ होने देते थे। अर्हत् वंदना का वे गोष्ठी में अनेक बार सामूहिक उच्चारण करवाते। सच्चिदानंद सहाय जो गुरुदेव की सन्निधि में कुछ दिन रहे, गुरुदेव की अर्हत् वंदना की प्रशिक्षण-विधि के बारे में अपनी अनुभूति लिखते हुए उन्होंने कहा—''कहां अर्धविराम है ? कहां कितने समय रुकना है ? कहां दीर्घ स्वर है ? कितने समय तक उस स्वर को खींचना है ? किस शब्द को कहां तोड़ना है ? शब्द खंड के किस अंश पर अधिक बल देना है ? किस पर कम बल देना है ? इन समस्त प्रश्नों को प्रतिदिन समाहित करते हुए गुरुदेव अर्हत् वंदना में तल्लीन रहते हैं।''

उच्चारण-शुद्धि की प्रेरणा के अनेक प्रसंग उनके जीवन के साथ जुड़े हुए हैं। एक बार गुरुदेव बाल मुनियों को ज्ञानातिचार के बारे में बता रहे थे कि सूत्र को अशुद्ध बोलना ज्ञान का अतिचार—दोष है अतः सूत्र-पाठ को शुद्ध बोलना चाहिए। एक बाल मुनि ने कहा—''गुरुदेव ! यदि अशुद्ध बोलना दोष है

तो फिर कंठस्थ करना ही नहीं चाहिए क्योंकि कंठस्थ नहीं करने से ज्ञान के दोष से बचा जा सकेगा।'' गुरुदेव ने फरमाया—''**यह चिंतन दूरदर्शितापूर्ण नहीं है। इसका अर्थ हुआ कि तुमने सीखने से हार मान ली। यह तो ऐसा चिंतन हुआ कि भोजन नहीं करेंगे क्योंकि भोजन करेंगे और बीच में मक्खी आ जाएगी तो ? यदि पेट में दर्द हो गया तो! इस 'तो' का तो कोई पार है ही नहीं।** अपनी ओर से शुद्ध सीखने का प्रयत्न करना चाहिए। सावधानीपूर्वक भोजन करने से मक्खी आदि से बचाव हो सकता है, वैसे ही सावधानीपूर्वक कंठस्थ करने से ज्ञान के दोष से बचा जा सकता है।''

पूज्य गुरुदेव उच्चारण की सूक्ष्म गलती एवं यति आदि पर भी पूरा ध्यान रखते थे। यहां उदाहरण स्वरूप उच्चारण-शुद्धि से संबंधित कुछ प्रेरक प्रसंग प्रस्तुत हैं, जो भावी पीढ़ी के लिए भी प्रेरणास्पद बन सकेंगे।

* बाल साधु गुरुदेव के समक्ष व्यवहार बोध का उच्चारण कर रहे थे। प्रथम पद्य के उत्तरार्ध का उच्चारण सुनकर गुरुदेव ने फरमाया—''इसका उच्चारण ठीक नहीं किया है। यदि तुम 'गणनंदन वनवास' बोलोगे तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा। नंदनवन में वास के स्थान पर नंदन में वनवास हो जाएगा अत: तुम लोगों को गण नंदनवन वास इस प्रकार बोलना चाहिए। 'वास' शब्द को एक क्षण रुककर बोलने से अर्थ ठीक हो जाएगा।'' गुरुदेव ने प्रेरणा दी—''उच्चारण ऐसा होना चाहिए, जिससे वही अर्थ निकले जो यथार्थ हो।''

* व्यवहार बोध का स्वाध्याय चल रहा था। बाल मुनि जम्बू तमिलवासी होने के कारण हिंदी का सही उच्चारण नहीं कर पाते थे।

नई कल्पना नई योजना, तदनुरूप पुरुषार्थ अशेष।
सूक्ष्मदर्शिता गुरु तुलसी की, जीवन अनबोला संदेश॥

जब यह पद्य आया तो बाल मुनि जम्बू ने नई के स्थान पर 'नहीं' का उच्चारण किया। गुरुदेव ने मुस्कराते हुए पूछा—'नई' या 'नहीं'? बालमुनि तत्काल बोले—'नहीं' गुरुदेव ने जब इन दोनों शब्दों में अंतर पूछा तो वे बोले—''दोनों एक ही शब्द हैं, कोई अंतर नहीं है। दूसरे बाल वैरागी विमल

(मुनि विश्रुतकुमार) ने 'नई' और 'नहीं' में अंतर बता दिया।'' तब गुरुदेव ने इन दोनों का अंतर समझाने के लिए एक तुकबंदी करते हुए समझाया—

बोलो कोई बात 'नई' है।
क्या बोलूँ? कोई बात 'नहीं' है॥

* इस प्रसंग में मेरे जीवन का एक घटना प्रसंग उद्धृत करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा। इस घटना में पाठक आत्माभिव्यञ्जना न देखकर गुरु की महानता और उदारता का दर्शन करेंगे। हस्तलिखित Ph.D. का ग्रंथ भेंट करते समय पूज्य गुरुदेव ने सुधर्मा सभा में कृपापूर्ण शब्दों में एक पद्य फरमाया—

कुसुमप्रज्ञा विविध विषयज्ञा बनी, समणी सयाणी।
करे स्थापित कीर्तिमान, रिसर्च में 'तुलसी' इयाणी॥

कुछ दिनों बाद प्रातः जब समणियां गुरु-वंदन के लिए पहुंचीं तो गुरुदेव ने फरमाया—''तुम्हारे विषय में जो पद्य बनाया है, वह सबको सुनाओ।'' मैंने उस पद्य का अशुद्ध उच्चारण किया। दूसरे पद को 'बनी समणी सयाणी' ऐसे उच्चारण किया। गुरुदेव ने फरमाया— ''कैसा उच्चारण किया है? क्या पहले सयानी नहीं थी, अब बनी हो। 'बनी' शब्द को 'विविधविषयज्ञा' के साथ जोड़ो अर्थात तुम विविध विषयों में पारंगत बनी हो।'' ऐसे एक नहीं, सैकड़ों प्रसंग उपस्थित किए जा सकते हैं, जब गुरुदेव ने उच्चारण में कहां रुकना, कहां जोर देना तथा कहां धीरे बोलने का प्रशिक्षण दिया।

* बाल मुनि अशोककुमारजी नाममाला के प्रथम काण्ड का श्लोक 'तेषां च देहोद्भुत....' को सस्वर कंठस्थ कर रहे थे। वे ऊकार का दीर्घ उच्चारण करके देहोद्भूत बोल रहे थे। पूज्य गुरुदेव किसी महत्त्वपूर्ण कार्य में व्यस्त थे लेकिन जैसे ही यह उच्चारण उनके कानों में पड़ा तो तत्काल टोकते हुए कहा—''अशोक! यह भूत क्या है?'' गुरुदेव का वाक्य सुनते ही वातावरण में मंद हास्य थिरकने लगा। तत्काल अपने महत्त्वपूर्ण कार्य को छोड़कर गुरुदेव ने अनेक बार उनका उच्चारण शुद्ध करने का प्रयत्न किया, तब उनका उच्चारण सम्यक् हुआ।

भाषण देते हुए यदि कोई साधु-साध्वी या समणी किसी पद्य का गलत उच्चारण कर देती तो वे अन्य कार्यों को सम्पादित करते हुए भी उसे याद करके बाद में उसका उच्चारण शुद्ध करवाते। लाडनूं में एक समणीजी ने 'चइत्ता भारहं वासं' गाथा से अपने भाषण का प्रारम्भ किया। उनका उच्चारण कुछ अशुद्ध था। पूरा दिन बीत गया। तीसरे दिन प्रवचन से पूर्व जब वह समणी गुरुदेव की सेवा में पहुंची तो गुरुदेव ने उन्हें गाथा का उच्चारण करने का निर्देश दिया। उच्चारण में वही गलती पुनरावृत्त हुई। गुरुदेव ने दो तीन बार उनके उच्चारण को शुद्ध करवाया और प्रवचन-पंडाल में पधार गए।

* लूणकरणसर में पूज्य गुरुदेव लोच करवा रहे थे। निकट ही बाल मुनि सुमेरमलजी (लाडनूं) नाममाला कंठस्थ कर रहे थे। उनका उच्चारण सम्यक् नहीं था। उच्चारण सुनकर गुरुदेव केशलोच का कष्ट भूल गए और लोच के बीच में उन्हें अपने पास बुलाकर उनका उच्चारण शुद्ध करवाया। पांच-सात बार उच्चारण करने से उनका उच्चारण सही हुआ। उस समय गुरुदेव ने फरमाया—''**केशलोच का कष्ट मेरे लिए सह्य है पर अशुद्ध उच्चारण को मैं सहन नहीं कर सकता।**'' महाप्रयाण के कुछ घंटों पूर्व भी गुरुदेव ने मुनि हिमांशुकुमार, योगेशकुमार आदि बाल संतों से 'लोगस्स' पाठ का उच्चारण सुना और उसका शुद्ध उच्चारण करवाते हुए फरमाया कि शुद्ध उच्चारण गुरु के बिना नहीं आता है।

अनुभव और भाषा का ज्ञान भी उच्चारण-शुद्धि में सहायक बनता है। एक दिन गुरुदेव के हाथ में 'हेमनवरसो' का हस्तलिखित पत्र था। गुरुदेव ने एक साध्वी से उसका उच्चारण करवाया तो उन्होंने पढ़ा—''हे मन वरसो!'' साध्वी सोनांजी ने उसका शुद्ध उच्चारण कर दिया और निवेदन किया कि यह जयाचार्य की कृति है। गुरुदेव ने प्रबोध देते हुए कहा—''ज्ञान के साथ अनभुव का भी अपना मूल्य होता है। बिना अनुभव के सही उच्चारण करना कठिन है।''

जब कोई साधु-साध्वी या समण-समणी उनके समक्ष शुद्ध उच्चारण करता तो उनकी प्रसन्नता द्विगुणित हो जाती थी। अनेक बार दूसरों को प्रेरणा देने के लिए तथा संबंधित व्यक्ति को प्रोत्साहित करने के लिए वे शुद्ध

उच्चारण के लिए पुरस्कृत भी करते थे।

वि. सं. २०१५ बंगाल के घुसकरा गांव का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव संतों को लोगस्स की पाटी का शुद्ध उच्चारण करवा रहे थे। उच्चारण के बाद एक-एक साधु को खड़ा करके उनसे लोगस्स सुना। शासनश्री एवं गणवत्सल मुनि श्री बालचंदजी स्वामी के कनिष्ठ भ्राता मुनि श्री पानमलजी अत्यन्त सेवाभावी, संकोचशील एवं विनम्र संत हैं। वे गर्दन झुकाकर संतों के पीछे बैठे थे। गुरुदेव की पैनी दृष्टि उन पर पड़ी तो पूछा—''यह सिर झुकाए कौन बैठा है ?'' संत बोले—''मुनि पानमलजी हैं।'' गुरुदेव ने अपनत्व के साथ चालू सम्बोधन में पूछा—''पानीया! सिर झुकाकर क्यों बैठा है, लोगस्स की पाटी सुना।'' उन्होंने खड़े होकर पूरी पाटी सुना दी। उच्चारण में एक भी गलती न आने से गुरुदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्हें कल्याणकों से पुरस्कृत किया।

शिक्षा जीवन का एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। पर अपने आप में वह साध्य नहीं है। साध्य है जीवन की पवित्रता। इस दृष्टि से शिक्षा का स्वतन्त्र मूल्य नहीं है। वह जीवन-मूल्यों के साथ जुड़कर ही मूल्यवान् बनती है। इस दुनिया में ऐसे बहुत व्यक्ति हैं, जो पढ़े-लिखे तो हैं, पर उनका जीवन असंस्कारित है। वे एक अनपढ़ व्यक्ति की तरह राग-द्वेष से लिप्त रहते हैं। ऐसी स्थिति में शिक्षा उनके लिए भारभूत बन जाती है। समाज और राष्ट्र के लिए भी वह कल्याणी नहीं बनती। एक अनपढ़ व्यक्ति गलत काम करता है, वह वांछनीय नहीं है तो अक्षम्य भी नहीं है। पर एक शिक्षित व समझदार व्यक्ति गलत काम करता है, वह क्षम्य नहीं होता। दूसरी बात एक शिक्षित व्यक्ति गलत काम को जितनी होशियारी से करता है, शायद अशिक्षित व्यक्ति नहीं कर सकता। यदि वह श्रेष्ठ काम नहीं करके गलत कार्यों में अपनी दक्षता का उपयोग करता है तो शिक्षा बदनाम होती है। शिक्षा का अभिप्रेत है—एक अच्छे आदमी का निर्माण। यदि शिक्षा अच्छे आदमी का निर्माण नहीं कर सकती तो उसकी सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगना स्वाभाविक है।

शिक्षा को बनाएं .... पृ. १७८, आचार्य तुलसी

४४. शिष्ट व्यवहार का प्रशिक्षण

रस्किन का मंतव्य था कि शिक्षा का अभिप्राय यह नहीं कि विद्यार्थी जो नहीं जानते, उन्हें वह ज्ञान दिया जाए। शिक्षा का वास्तविक अर्थ है कि जो व्यवहार वे नहीं करते, उन्हें वह व्यवहार सिखाया जाए।''[१] विनोबा के अनुसार शिक्षण जीवन और व्यवहार से अलग नहीं किया जा सकता। समाज में शिष्ट और शालीन व्यक्तित्व-निर्माण करने में शिक्षक की अहं भूमिका होती है। बचपन में यदि शिष्टाचार के सामान्य नियम बालक को आत्मगत करवा दिए जाते हैं तो वे जीवन भर उनको याद रहते हैं। यह भी अध्यापन का ही एक अंग होता है। एक व्यक्ति ने कहा—''मैं अपने गणित के अध्यापक का उपकार कभी नहीं भूल सकता, जिन्होंने मुझे बचपन से सभ्य और शालीन बना दिया। ६० वर्ष की उम्र के बाद आज भी जब कभी झुक कर बैठता हूं तो मेरे सामने गणित के अध्यापक आकर खड़े हो जाते हैं और मैं बिना सहारा लिए सीधा बैठ जाता हूं।''

अध्यापन के दौरान अनेक बार व्यावहारिक जीवन के प्रशिक्षण-सूत्र भी गुरुदेव के मुखारविन्द से निःसृत होते रहते थे। उनसे प्राप्त कुछ सूत्र यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

१. विद्यार्थी साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों का चलना-फिरना बैठना-उठना सब व्यवस्थित और संयमित होना जरूरी है। सामान्यतः समूह के बीच से निकलने के प्रसंग को टालना चाहिए। यदि आना या जाना अनिवार्य हो तो पहले रुककर अत्यन्त शिष्टता एवं सभ्यता के साथ हाथों से रास्ता मांगकर आगे निकलना चाहिए, जिससे नीचे बैठे व्यक्ति को असुविधा न हो। किसी को छूते हुए या लांघते हुए चलना शिष्टता नहीं है। सावधानी से चलने पर भी कदाचित् किसी का पैर आदि छू जाए तो सामने वाला व्यक्ति छोटा हो या बड़ा, उससे विनयपूर्वक क्षमायाचना करनी चाहिए। बंगाली और

---

१. Some tasks for Education, P. 24-।

जापानी लोगों में शिष्टता का यह सुसंस्कार सहज होता है। व्यवहारबोध के इस प्रशिक्षण को सदैव स्मृति में रखना चाहिए—

जब समूह के बीच से, जाना हो अनिवार्य।
रुक-झुक रास्ता मांगकर, चलना सीखें आर्य!॥

२. जल्दी चलना आवश्यक हो तो भी दब-दब करते हुए या दौड़ते हुए नहीं चलना चाहिए। यह साधु के लिए असमाधिस्थान है। सीढ़ियों से उतरते या चढ़ते समय धम-धम की आवाज नहीं होनी चाहिए। समतल भूमि पर भी पैरों की आवाज नहीं होनी चाहिए।

३. जब समूह में बैठे हों, तब नाक, कान और मुंह में अंगुलि नहीं डालना चाहिए। यह शिष्टाचार के विरुद्ध है।

नाक में अंगुलि, कान में तिनका, मत कर, मत कर, मत कर।
दांत में मंजन, आंख में अंजन, नित कर, नित कर, नित कर।

४. अध्ययन के समय झुककर नहीं पढ़ना चाहिए तथा किताब की दूरी भी उचित मात्रा में रहनी चाहिए, जिससे आंखों पर जोर न पड़े। झुककर बैठने या पढ़ने से बुढ़ापा जल्दी आता है।

५. जीवन व्यवस्थित और कलात्मक होना चाहिए। अस्त-व्यस्त रखी हुई वस्तुएं अस्त-व्यस्त चित्त की द्योतक होती हैं।

शिक्षित होने का अर्थ है—विद्या-उपार्जन करके हर प्रकार से समर्थ बनना। विद्या का अर्थ है—वास्तविक ज्ञान और सामर्थ्य का अर्थ है—विश्वानुरंजन। मिथ्या-दृष्टि से मुक्त होना, जीवन के संघर्षों से जूझने की क्षमता पैदा करना, जीवन के उत्तर काल में शान्ति से स्थित होना, जीवन और ईश्वर के प्रति आस्थावान् होना, समाज में मिथ्या विघटन करने वाले तत्त्वों को अपने प्रभाव में दबा देने की शक्ति प्राप्त करना आदि सब शिक्षा के अंग हैं।

शिवराज पाटिल

४५. अध्यापन हेतु नए ग्रंथों का निर्माण

सक्षम अध्यापक विद्यार्थी की सुविधा एवं नया ज्ञान देने हेतु न केवल नोट्स तैयार करता है अपितु स्वतंत्र ग्रंथ का निर्माण भी कर देता है। आचार्य तुलसी सर्वतोमुखी प्रत्युत्पन्न प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने हिन्दी, संस्कृत और राजस्थानी भाषा में सैकड़ों ग्रंथों की रचना की। सलक्ष्य विद्यार्थियों के लिए उन्होंने कुछ ऐसे सूत्रात्मक ग्रंथों की रचना की, जिससे वे संस्कृत के माध्यम से जैन दर्शन, न्याय और योग को सरलता से हृदयंगम कर सकें। '**जैन सिद्धान्त दीपिका**' और '**श्रीभिक्षुन्यायकर्णिका**'—ये दोनों ग्रंथ जैन दर्शन और न्याय में प्रवेश पाने वालों के लिए मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। इसी क्रम में जैन योग को समझने के लिए '**मनोनुशासनम्**' की रचना भी उत्कृष्ट कोटि की है। साधु-साध्वियों में ज्ञान वृद्धि एवं परिष्कृत व्यवहार हेतु उन्होंने कुछ ग्रंथों की रचना भी की।

कर्तव्यषट्त्रिंशिका एवं शिक्षाषण्णवति की रचना

२००५ छापर चातुर्मास में रेंवतमलजी नाहटा के प्रवास-स्थल पर पूज्य गुरुदेव साध्वी श्री रूपांजी, किस्तूरांजी एवं विजयश्रीजी आदि साध्वियों का अध्यापन करते थे। सद्यः रचित संस्कृत श्लोकों के द्वारा विद्यार्थी साधु-साध्वियों को मर्यादा का प्रतिबोध करने के लिए गुरुदेव ने एक दिन में ३६ श्लोकों की एक शिक्षाप्रद कृति तैयार कर दी। सरल श्लोकों में दिया गया वह प्रतिबोध विद्यार्थी साध्वियों को बहुत अच्छा लगा। '**मेरा जीवनः मेरा दर्शन**' पुस्तक में इस कृति-निर्माण का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए गुरुदेव कहते हैं—

''अध्यापन-काल में मैं केवल पुस्तक ही नहीं पढ़ाता, कभी संस्कृत-साहित्य के शिक्षाप्रद श्लोक पढ़ाता और कभी मैं स्वयं संस्कृत के श्लोक बनाकर पढ़ाता। उन दिनों संस्कृत-व्याकरण का अध्यापन चल रहा था। पढ़ाते-पढ़ाते मन में विचार आया कि साधु-साध्वियों को कर्तव्यबोध देना चाहिए। चिंतन

के साथ निर्णय और क्रियान्विति की बात सहज जुड़ी हुई थी। एकाह्निकी कर्तव्यषट्त्रिंशिका बनकर तैयार हो गयी। रचना के निर्मित होते ही अध्ययनरत साधु-साध्वियों को बुलाकर गुरुदेव ने प्रतिबोध देते हुए कहा—''**आज तुम्हारे लिए संस्कृत पद्यों में शिक्षा-पाथेय तैयार किया गया है। इस ग्रंथ को सब कंठस्थ ही नहीं, जीवन में उतारने का प्रयत्न करो।**''[१] वह लघु ग्रंथ प्राय: सभी साधु-साध्वी एवं समण-समणियों को कंठस्थ है। इसमें शिक्षा के साथ व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक प्रशिक्षण देने का उपक्रम किया गया है।

छापर चातुर्मास में ही पूज्य गुरुदेव ने 'शिक्षाषण्णवति' कृति की रचना की। इस रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए गुरुदेव ने कहा—''इस ग्रंथ को लिखते समय मेरे सामने दो उद्देश्य थे—विद्यार्थी साधु-साध्वियों को संस्कृत भाषा का अभ्यास कराना तथा आत्मतोष का अनुभव करना।'' ९८ श्लोकों की यह कृति भक्तामर स्तोत्र की समस्या-पूर्ति रूप है।

जैन तत्त्व प्रवेश की रचना का इतिहास

वि. सं. २०१० का पूज्य गुरुदेव का चातुर्मास जोधपुर में था। वहां एक दिन मुमुक्षु बहिनें गुरुदेव की उपासना में बैठी थीं। पूज्य गुरुदेव ने बहिनों से तात्त्विक प्रश्न पूछा—''छव में कुण? नव में कुण? इसका क्या अर्थ है?'' प्रश्न सुनकर हरियाणा की बहिनें असमंजस में पड़ गईं और एक दूसरे का मुंह देखने लगीं। राजस्थानी भाषा में पूछा गया प्रश्न उनके समझ में नहीं आया। उन्होंने सोचा कि आचार्यप्रवर कोई पहेली पूछ रहे हैं। उसी प्रश्न को जब गुरुदेव ने राजस्थान की बहिन से पूछा तो उन्होंने सही उत्तर दे दिया। गुरुदेव ने दूसरा प्रश्न पूछा—''आं में छांडवा जोग किता और आदरवां जोग किता? अर्थात् नवतत्त्व में छोड़ने योग्य कितने हैं और ग्रहण करने योग्य कितने हैं?'' इस प्रश्न को सुनकर हरियाणा की एक बहिन (साध्वी प्रकाशवतीजी) बोली—''गुरुदेव! हम हरियाणा की बहिनें इस भाषा से अपरिचित हैं। हमने चर्चा,

---

१. विज्ञप्ति सं. १२२५।

तेरहद्वार आदि रट तो लिए पर समझ में कुछ नहीं आता है।'' अन्य प्रांत की बहिनों ने भी निवेदन किया—''गुरुदेव! यही स्थिति हमारी है।''

पूज्य गुरुदेव ने तत्काल उसी समय मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) को बुलाया और निर्देश दिया—''चर्चा, तेरहद्वार आदि का अवबोध देने वाली एक कृति हिन्दी में तैयार करनी है। इससे हिन्दी भाषी बहिनों को सुविधा हो जाएगी।'' अन्यान्य कार्यों के साथ इस कार्य को महत्त्व दिया गया, जिसके परिणाम स्वरूप आश्विन मास में 'जैन तत्त्व प्रवेश' नामक पुस्तक प्रकाशित होकर आ गई। प्रारंभिक तत्त्वबोध करने वाले लोगों के लिए यह पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गई।

साध्वी-शिक्षा का उपक्रम पूज्य गुरुदेव के समय में प्रारम्भ हुआ अतः साध्वियों और समणियों के प्रति पूज्य गुरुदेव का अमित वात्सल्य समय-समय पर प्रकट होता रहता था। एक दिन हम कुछ समणियां पूज्य गुरुदेव के उपपात में बैठी थीं। मुस्कराते हुए गुरुदेव ने कहा—'**हमने तो तुम्हारे लिए इतने ग्रंथों का निर्माण कर दिया है, अब तुम इनका कितना उपयोग करती हो, यह तुम्हारी ग्रहण क्षमता पर निर्भर करता है। देखो, दीपिका, न्यायकर्णिका, कर्तव्यषट्त्रिंशिका, शिक्षाषण्णवति—ये सब नाम स्त्रीलिंग हैं अतः तुम लोगों को इनका विशेष अध्ययन करना है।**'

अध्यापक तथा अध्यापिकाओं का यह सबसे पहला और आवश्यक कर्तव्य है कि वे बालक-बालिकाओं के जीवन में अनुशासन, सहिष्णुता, मैत्री, आत्मविश्वास आदि सुसंस्कार भरने के लिए जागरूक रहें। इसके लिए उनके अपने जीवन की सुसंस्कारिता सबसे पहले आवश्क है। उनका जीवन छात्र-छात्राओं के लिए एक खुली किताब होना चाहिए, जिससे वे उनसे जीवन-निर्माण की मूर्त एवं सक्रिय प्रेरणा ले सकें।

शिक्षा को बनाएं .... पृ. १७६, आचार्य तुलसी

४६. नारी-शिक्षा के उत्प्रेरक

आचार्य तुलसी जिस समय आचार्य-पद पर आसीन हुए, उस समय समाज में स्त्री-शिक्षा नगण्य थी। एक घर में दो कलमें नहीं चल सकतीं, इस मान्यता के अनुसार लोग यह सोचते थे कि कन्याओं को उतना ही पढ़ाना आवश्यक है कि वे पत्र पढ़ने-लिखने में सक्षम हो सकें क्योंकि आगे जाकर उन्हें चूल्हा-चौका ही तो संभालना है। कुछ रूढ़ मानसिकता वाले मां-बाप इसे भी अपेक्षित नहीं समझते थे। मुसलमान समाज स्त्री-शिक्षा को अनावश्यक ही नहीं, हानिप्रद भी मानता था। उसका प्रभाव हिन्दु-समाज पर भी पड़ा। लोगों में यह अंधविश्वास प्रचलित था कि पढ़ने पर लड़की जल्दी विधवा हो जाती है अथवा कन्या को पढ़ाना वैसा ही, जैसे बंदर के हाथ में चाकू देना।

आचार्य कालूगणी ने अपने उत्तराधिकारी युवाचार्य तुलसी को अंतिम समय में मुख्य तीन सीखें दीं, उनमें एक थी—''हमारे संघ में साध्वियों की शिक्षा का विकास बहुत कम हुआ है, तुम्हें इस दिशा में प्रयत्न करना है।'' आचार्य तुलसी कहते हैं कि मैंने गुरु की इस शिक्षा का यह अर्थ लगाया कि मुझे सम्पूर्ण नारी जाति की शिक्षा एवं उसके विकास हेतु कार्य करना है''[१].....

भारत की स्वतंत्रता के साथ देश के प्रमुख नेताओं ने नारी-शिक्षा का स्वर बुलंद किया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने कहा—''राष्ट्र, समाज, प्रशासन और परिवार के क्रिया-कलाप तब तक उचित ढंग से सम्पादित नहीं किए जा सकते, जब तक स्त्रियों को शिक्षा नहीं मिले।''[२] स्वामी विवेकानंद ने इस स्वर को बुलंद किया—''वे ही देश उन्नति कर सकते हैं, जहां स्त्रियों को उचित स्थान दिया जाता है और उनकी शिक्षा का भी उचित प्रबंध किया जाता है।'' गांधीजी ने तो यहां तक कह दिया कि स्त्रियों को पुरुषों से अधिक शैक्षिक सुविधाएं दी जाएं। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने स्त्री-शिक्षा को प्रमुखता देने हेतु शांति

---

१. पांव पांव पृ. २५५।

२.भारत में नारी शिक्षा पृ. ११।

निकेतन में स्वतंत्र रूप से स्त्री-शिक्षा विभाग स्थापित किया। भारत की स्वतन्त्रता के साथ विश्वविद्यालय आयोग १९४८-४९ ने लिखित परिपत्र जारी किया—''स्त्री-शिक्षा के बिना लोग शिक्षित नहीं हो सकते। यदि शिक्षा को स्त्री या पुरुषों तक सीमित करना हो तो शिक्षा का अवसर स्त्रियों को दिया जाए क्योंकि उनके द्वारा भावी पीढ़ी को शिक्षा दी जाती है।''

आचार्य तुलसी ने आचार्य बनते ही सर्वप्रथम साध्वी-शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित किया। उस समय साध्वियों की मानसिकता को बदलना बहुत कठिन कार्य था लेकिन व्यस्तता में भी समय निकालकर आचार्यश्री ने अध्ययन के प्रति उनकी अभिरुचि जगाई। उनके भागीरथ प्रयत्नों का ही परिणाम है कि आज तेरापंथ का साध्वी समाज प्रबुद्धता की दृष्टि से किसी भी क्षेत्र में पीछे नहीं है। आचार्य तुलसी साध्वी समाज के विकास हेतु कितने सचिन्त रहते थे, यह इस घटना से जाना जा सकता है। सन् १९५६ में आचार्य तुलसी के समक्ष हांसी की एक पन्द्रह वर्षीया कन्या संतोष ने धाराप्रवाह भाषण दिया। हिन्दी के शुद्ध उच्चारण ने भी आचार्यश्री के ध्यान को आकृष्ट किया। आचार्यवर ने साध्वीप्रमुखा लाडांजी से कहा—''यह छोटी-सी लड़की कितना अच्छा बोलती है, रात्रि में साध्वियों को भी इसका भाषण सुनाना, जिससे वे प्रेरणा लेकर अपनी वक्तृत्व क्षमता को बढ़ा सकें।''

आचार्य पद के कुछ वर्षों बाद उन्होंने समाज को नारी-शिक्षा के प्रति सचेत करते हुए कहा—''शिक्षा विकास का साधन है। स्त्रियों को पढ़ाने से बुराई बढ़ती है, यह मानने को मैं तैयार नहीं हूं। शिक्षा के लिए स्त्री-पुरुष का भेदभाव नहीं करना चाहिए।'' यद्यपि उनके इस आह्वान का रूढ़ मानसिकता वाले लोगों ने विरोध किया और कहा कि आपका कार्यक्षेत्र धर्म और अध्यात्म है। समाज के संदर्भ में आपको नहीं बोलना चाहिए लेकिन आचार्य तुलसी का स्पष्ट चिंतन था कि धर्मगुरु समाज में रहते हैं अत: उनको समाज की विसंगतियों और विद्रूपताओं पर न केवल अपनी लेखनी चलानी चाहिए, अपितु क्रांत स्वर भी बुलंद करना चाहिए। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर

उन्होंने समाज की चेतना को झकझोरा, कन्याओं और महिलाओं का सुप्त आत्मविश्वास जगाया; उनके भीतर कुछ कर गुजरने की अभीप्सा जागृत की। कन्याओं का आत्मविश्वास जगाते हुए उन्होंने कहा—''जब बालक हर क्षेत्र में विकास कर सकते हैं तो बालिकाएं क्यों नहीं कर सकतीं। .....कन्याएं स्वयं को हीन न समझें। अपने को हीन समझना आत्मशक्ति को कुंठित करना है। उनमें भी अदम्य उत्साह और अपरिमित शक्ति है, जिससे वे विकास कर सकें।''[१] उनके सत्प्रयत्नों की ही फलश्रुति है कि आज साध्वियां, महिलाएं और कन्याएं शिक्षा के क्षेत्र में पुरुषों से किसी भी दृष्टि से पीछे नहीं हैं।

आचार्य तुलसी ने समाज के समक्ष कन्या महाविद्यालय का चिन्तन प्रस्तुत किया। सन् १९७७ में गौतम ज्ञानशाला में कन्याओं के अध्ययन की व्यवस्था की गई, जिसमें कन्याओं को राजस्थान विश्वविद्यालय का बी. ए. का पाठ्यक्रम पढ़ाया गया। आचार्यश्री स्वयं एक घंटा तक उन कन्याओं को जैन विद्या एवं जीवन-व्यवहार का प्रशिक्षण देते थे। वह महाविद्यालय कुछ सालों के बाद स्थगित हो गया। जैन विश्व भारती संस्थान को विश्वविद्यालय की मान्यता मिलने के बाद गुरुदेव का चिन्तन रहा कि इसके अन्तर्गत कन्याओं का एक अलग महाविद्यालय होना चाहिए। उनके चिंतन के अनुरूप उनके महाप्रयाण के बाद सन् १९९८ में आचार्य कालू कन्या महाविद्यालय की स्थापना हुई। वर्तमान में उस महाविद्यालय में तीन सौ से अधिक कन्याएं शिक्षा प्राप्त कर रही हैं।

यह आचार्य तुलसी का क्रांतिकारी निर्णय था कि उन्होंने साध्वी समाज को आगम-कार्य में नियुक्त किया। सहस्राब्दियों में भी इस दृष्टि से महिलाओं का कर्तृत्व नगण्य जैसा था लेकिन आचार्यश्री ने लगभग १९६५ में साध्वियों को आगम का अनुवाद करने एवं शब्द-सूची आदि बनाने के कार्य में जोड़ा। यहां आचार्यश्री द्वारा साध्वियों को दिए गए उस समय के प्रतिबोध से जाना जा सकता है कि वे साध्वी समाज को कितना उन्नत देखना चाहते थे—

१. शिक्षा को बनाएं..... पृ. १७५।

''मैं तुम लोगों को आगम-कार्य की हर विधा में निष्णात देखना चाहता हूं। इसके लिए जब भी अपेक्षा हो, तुम लोग यहां से पथ-दर्शन प्राप्त कर सकती हो। एक बात का ध्यान रखना है कि हमारा कार्य किसी की अनुकृति मात्र न हो। मैं यह भी चाहता हूं कि हमारी साध्वियां किसी भी क्षेत्र में पराधीन न रहें। इसके लिए आवश्यक है कि तुम हर विषय का ठोस अध्ययन कर अपनी योग्यता को बढ़ाओ और निरपेक्ष होकर काम कर सको, ऐसी तैयारी करो।''[१]

राजस्थान में स्त्री-शिक्षा एवं महिला-विकास के लिए आचार्य तुलसी को जो भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा, वह एक स्वतंत्र पुस्तक का विषय है।

मेरे सपनों में हिन्दुस्तान का एक रूप इस प्रकार है—

१. देश में गरीबी न रहे।
२. किसी प्रकार का धार्मिक संघर्ष न हो।
३. कोई किसी को अस्पृश्य मानने वाला न हो।
४. कोई मादक पदार्थों का सेवन करने वाला न हो।
५. खाद्य-पदार्थों में मिलावट न हो।
६. कोई रिश्वत लेने वाला न हो।
७. कोई शोषण करने वाला न हो।
८. वोटों का विक्रय न हो।
९. कोई दहेज लेने वाला तथा भ्रूण हत्या करने वाला न हो।

एक बूंद : एक सागर पृ. १२७८

'स्टैण्डर्ड ऑफ लाइफ' के नाम पर भौतिकवाद और अपसंस्कारों का जो समावेश हिन्दुस्तानी जीवनशैली में हुआ है, यह निश्चित रूप से चिन्तनीय है। बीसवीं सदी के हिन्दुस्तानियों द्वारा की गई इस हिमालयी भूल का प्रतिकार इसी सदी के अन्त तक हो जाए तो बहुत शुभ है अन्यथा आने वाली शताब्दी की पीढ़ियां अपने पुरखों को कोसे बिना नहीं रहेंगी।

एक बूंद : एक सागर पृ. १२७८

१. मेरा जीवन भा. ८ पृ. ३०१।

४७. अध्यात्म का प्रशिक्षण

वास्तविक शिक्षा व्यक्ति के बाह्य व्यक्तित्व के साथ अंतरंग व्यक्तित्व को भी संवारती है। वह इमोशनल इंटेलीजेंसी की वृद्धि करके व्यक्ति को हर परिस्थिति में सामंजस्य की कला का विकास करती है। म्यूटिक सिद्धान्त के अनुसार शिक्षण तभी सर्वांगीण होता है, जब छात्र को अंदर के सत्य को खोजने के लिए प्रेरित किया जाए।''[१]

वर्तमान में शिक्षा पद्धति की सबसे बड़ी कमी यह है कि दुनिया भर की बातें विद्यार्थी को सिखाई जाती हैं लेकिन आत्मज्ञान की एक किरण भी प्रस्फुटित नहीं की जाती। दयालचंद सोनी आत्मगत शिक्षण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं—''आत्मगत शिक्षण कोई पढ़ाई नहीं है, जो किसी पाठ्यपुस्तक से पढ़ी जा सके, किसी परीक्षा में बैठ कर जिसके प्रश्नपत्रों के उत्तर लिखे जा सकें और जिसमें शिक्षा की 'डिग्रियां' या 'उपाधियां' प्राप्त की जा सकें। आत्मगत शिक्षण में जीवन का बोध है, आत्मगत शिक्षण में जीवन की साधना है, गुणों का अभ्यास है तथा आत्म-अनुशासन है। जिसे पहले शिक्षक अपने जीवन में उतारता है, बाद में अपने आचरण से विद्यार्थियों में संक्रान्त करता है।''[२] विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन में लिखा गया वाक्य भविष्य के लिए चुनौती है—''**यदि हम अपनी शिक्षा संस्थाओं से आध्यात्मिक प्रशिक्षण को निकाल देंगे तो सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास के विरुद्ध कार्य करेंगे।**''[३]

महात्मा गांधी कहते थे कि शिक्षा का प्राथमिक फल मस्तिष्क-विकास है पर उसका चरम फल आत्म-विकास है। वे अध्यापक भले ही अपने विद्यार्थियों को संसार भर की विद्याएं प्रदान कर दें परंतु उनके मन में

---

१. शिक्षा के नूतन आयाम पृ. २३९।

२. जैन भारती २४ अक्टूबर २०११, दयालचंद सोनी।

३. शिक्षा के सिद्धान्त पृ. ४३९ पाठक एवं त्यागी।

शुचिता, सत्य और अध्यात्म की भावनाएं नहीं बिठाते तो नि:संदेह वे उन्हें धोखा देंगे और उन्नति के मार्ग पर ले जाने के स्थान पर विकास के पथ पर बीच में ही लटका देंगे।''[१]

भगवान् बुद्ध कहते थे कि सोलह हाथ के शिलास्तम्भ का यदि आठ हाथ नीचे जमीन में है तो उसे कोई नहीं हिला सकता वैसे ही जो भीतर रहता है, उसे कोई नहीं हिला सकता।

स्वामी विवेकानंद अध्यापकों को प्रेरणा देते हुए कहते थे—''याद रखो, यदि तुम पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता के चक्कर में पड़कर आध्यात्मिकता का आधार त्याग दोगे तो उसका परिणाम होगा कि तीन पीढ़ियों में तुम्हारा जातीय अस्तित्व मिट जायेगा, राष्ट्र का मेरुदण्ड टूट जायेगा, राष्ट्रीय भवन की नींव ही खिसक जायेगी। इन सब का परिणाम होगा सर्वतोमुखी सत्यानाश अत: मित्रो! एक ही मार्ग शेष है कि हम अपने प्राचीन पूर्वजों से चली आयी अमूल्य विरासत आध्यात्मिकता की पकड़ को कदापि ढीला न होने दें। इसीलिए **चाहे तुम्हारी आध्यात्मिकता में आस्था हो या न हो, राष्ट्रीय जीवन की रक्षा हेतु तुम्हें आध्यात्मिकता के आधार पर टिके रहना होगा। फिर दूसरा हाथ बढ़ाकर अन्य जातियों से जो कुछ लेना चाहो लो, किन्तु जो भी उनसे ग्रहण करो, उसे अपने जीवन-आदर्शों के आधीन कर दो।**''[२]

इस संदर्भ में आचार्य तुलसी का मानना था कि जो शिक्षा वस्तुपरक और सूचनात्मक होती, वह जीवन-परिवर्तन में बहुत उपयोगी नहीं होती। अध्यात्म निरपेक्ष शिक्षा मस्तिष्क को प्रबुद्ध बना सकती है, जागतिक सृजन में सक्षम हो सकती, भौतिक विज्ञान को उन्नत बना सकती है किन्तु वृत्तियों के उदात्तीकरण का प्रश्न वहां गौण हो जाता है अत: शिक्षा में अध्यात्म के प्रवेश से ही विद्यार्थी का सर्वतोमुखी विकास हो सकता है।''[३] वे विद्यार्थी साधु-

---

१. शिक्षा की आवश्यकताएं पृ. २०।
२. शिक्षा की दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि पृ. २०१।
३. प्रेक्षाध्यान, अप्रैल २००८।

साध्वी एवं समण-समणियों को प्रेरणा देते हुए कहते थे—''शिक्षा, कला, संगीत, वक्तव्य, लेखन आदि विधाओं में सर्वोपरि मूल्य आध्यात्मिक विकास का है अत: शिक्षा के साथ साधना अथवा पराविद्या का क्रम अनिवार्य रूप से जुड़ना चाहिए।

पुस्तकीय ज्ञान कराने वाले अध्यापक संसार में बहुत मिल सकते हैं लेकिन आध्यात्मिक प्रशिक्षक मिलने दुर्लभ हैं। पूज्य गुरुदेव शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक और भावनात्मक—इन चारों के समुचित विकास का प्रशिक्षण देने वाले विलक्षण अध्यापक थे। उनकी प्रेरणा से आचार्य महाप्रज्ञ ने शिक्षा के क्षेत्र में एक नयी आध्यात्मिक क्रान्ति की, जो जीवन-विज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है। इस संतुलित शिक्षा-प्रणाली के चार आयाम हैं—

* प्राणधारा का संतुलन
* जैविक संतुलन की स्थापना
* क्षमता की आस्था का जागरण
* दृष्टिकोण, व्यवहार और भावना का परिष्कार।[१]

आचार्य तुलसी के पास शिक्षा प्राप्त करने वालों की कोई उम्र सीमा नहीं थी। जो कोई भी उनके पास आता, जीवन की नई खुराक लेकर जाता था। चाहे वह सौ साल का वृद्ध हो या पांच साल का बालक।

बनारस का एक प्रसिद्ध व्यापारी अभिमन्यु शाह तीर्थयात्रा के दौरान लाडनूं में पूज्य गुरुदेव के दर्शन करने आए। दो तीन दिन की उपासना के बाद वे गुरुदेव से बोले—''इतने तीर्थों में घूमकर आने के बाद यहां जितनी शांति मिली, उतनी कहीं नहीं मिली। यहां आकर हमें सही मार्ग मिल गया है। मुझे लगता है कि इतने दिन हमने व्यर्थ ही गंवाए। अब यहां से विदा के समय आप आत्मा को प्रशिक्षित करने का उपदेश दें। पूज्य गुरुदेव ने कहा—''क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार बड़े शत्रु हैं। इन्हें जीतने का प्रयत्न करना ही आत्मा

---

१. जीवन विज्ञान : शिक्षा का नया आयाम पृ. ६, ७।

को प्रशिक्षित करना है।'' शाह की मां ने कहा—''गुरुदेव! मुझे क्रोध बहुत आता है। प्रयत्न करने पर भी वह छूट नहीं पा रहा है।'' गुरुदेव ने प्रतिबोध देते हुए कहा—''जिस दिन गुस्सा आए, उसके दूसरे दिन नमक छोड़ दो। दूसरे दिन माताजी गुरुदेव के पास आकर बोलीं—''आपने मुझे कृतार्थ कर दिया। नमक छोड़ने की स्मृति से कल पूरे दिन में एक बार भी क्रोध नहीं आया। सचमुच आपने मेरे जीवन में एक नया प्रकाश भर दिया है।''

विद्यार्थी साधु-साध्वियों को अध्यात्म के रस से अभिषिक्त करने के लिए कभी-कभी पूज्य गुरुदेव महापुरुषों के प्रेरक संस्मरण भी सुनाते रहते थे। लाडनूं में वाचन के दौरान आध्यात्मिक विकास का प्रसंग चल पड़ा। गुरुदेव ने बुद्ध के जीवन का एक प्रसंग सुनाते हुए कहा—''बुद्ध के पास एक विद्यार्थी आत्मज्ञान करने के लिए आया। बुद्ध ने उस युवक को कहा—'दो वर्ष के लिए पूर्ण मौन हो जाओ।' युवक ने कहा—''बिना मौन-साधना के आत्मज्ञान की शिक्षा तो अभी भी दी जा सकती है।'' बुद्ध ने कहा—''किसी भी ज्ञान को देने से पूर्व पात्रता का निर्माण करना पड़ता है। यदि उल्टे पात्र पर अमृत डाला जाए तो उसका कोई उपयोग नहीं होता, व्यर्थ चला जाता है।'' दो वर्ष बीतने के बाद भी उस युवक ने मौन नहीं खोला। बुद्ध ने कहा—''वत्स! तुम्हारी मौन की अवधि पूरी हो गई है।'' उसने कृतज्ञ भावों से उत्तर दिया—''आपके आदेश के पालन से मेरे भीतर का दीया जल गया है, मेरा झूठा पांडित्य गिर गया है और प्रज्ञा के नयन खुल गए हैं।'' प्रेरक प्रसंग का उपसंहार करते हुए गुरुदेव ने कहा—''**ज्ञान-प्राप्ति का अर्थ है—आध्यात्मिक दृष्टि का विकास एवं प्रज्ञा का जागरण। यदि अध्ययन के साथ प्रतिक्रिया-विरति, सहनशीलता एवं संवेग-नियंत्रण की साधना नहीं चलती है तो शिक्षा की पात्रता नहीं आ सकती। तुम सब लोग शिक्षा की पात्रता प्राप्त करो, यह मेरी हार्दिक इच्छा है।**''

४८. अध्यापकों के निर्माता

जे. कृष्णमूर्ति के अनुसार एक विद्यार्थी को पढ़ाना उतना कठिन कार्य नहीं लेकिन एक सर्वांगीण व्यक्तित्व वाले शिक्षक को तैयार करना सर्वाधिक कठिन कार्य है।''[१]

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी अध्यापकों के अध्यापक तथा आचार्यों के आचार्य थे। अध्यापकों के बीच प्रशिक्षण देने में उन्हें स्वर्गीय आनंद का अनुभव होता था अत: हजारों शिक्षकों के बीच उन्होंने जीवन-निर्माण का प्रशिक्षण दिया। छोटे-छोटे गांवों में जब कोई अध्यापक अपनी जिज्ञासा के पंख खोलने बैठ जाता तो वे अपने आवश्यक वैयक्तिक कार्यों को गौण करके भी उसे जीवन-विकास के सूत्र प्रदान करते थे।

एक गांव में डूंगरसिंह नामक अध्यापक गुरुदेव के चरणों में उपस्थित हुआ। गुरुदेव ने उसको विस्तार से अणुव्रत आचार-संहिता के अन्तर्गत शिक्षक आचार-संहिता समझाई। गुरुदेव ने उसको व्यसन-मुक्ति की प्रेरणा देते हुए पूछा—''आपका जीवन व्यसनमुक्त है या नहीं?'' अध्यापक ने सकुचाते हुए कहा—''कभी-कभी थोड़ी शराब पी लेता हूं।'' आचार्यश्री ने उसको प्रेरणा देते हुए कहा—''**आपका जीवन विद्यार्थी के लिए प्रेरणा दीप होता है। यदि आप शराब पीएंगे तो विद्यार्थियों पर क्या असर होगा? विद्यार्थी अध्यापक के जीवन से बहुत प्रभावित होते हैं। आप अपने आचरण से देश की भावी पीढ़ी को क्या संदेश दे रहे हैं?**'' गुरुदेव की इस प्रेरणा से प्रभावित होकर डूंगरसिंह नामक अध्यापक ने जीवन भर के लिए शराब पीने एवं मांस खाने का परित्याग कर दिया।

अणुव्रत के माध्यम से भी पूज्य गुरुदेव ने शिक्षक के चारित्रिक स्तर

---

१. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व पृ. ७७।

को ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया। अणुव्रत शिक्षक संसद के माध्यम से उन्होंने देश के लाखों शिक्षकों को नैतिकता और चरित्रनिष्ठा के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया। जीवन के बहत्तरवें वर्ष तक वे कॉलेज, स्कूलों में जाकर विद्यार्थी एवं अध्यापकों को प्रेरणा देते रहे। जैन विश्वभारती संस्थान में तो वे जीवन के नवें दशक में भी प्रतिबोध देने जाते रहे। ५ सित. १९८४ को पूज्य गुरुदेव जोधपुर विश्वविद्यालय के जसवन्त कॉलेज में पधारे। वहां शिक्षक दिवस का आयोजन था। वहां शिक्षकों की तेजस्विता बढ़ाने हेतु गुरुदेव तुलसी ने पांच सूत्र दिए—

१. एकाग्रता का अभ्यास।

२. संकल्प शक्ति का अभ्यास।

३. आध्यात्मिक अनुशासन के प्रशिक्षण का अभ्यास।

४. संवेदनशीलता।

५. प्रामाणिकता।

वर्गीय अणुव्रत के अन्तर्गत शिक्षक और विद्यार्थी के नियम इस प्रकार हैं—

शिक्षक अणुव्रत

* मैं विद्यार्थी के बौद्धिक-विकास के साथ चरित्र-विकास में भी सहयोगी बनूंगा।
* मैं विद्यार्थी को उत्तीर्ण करने में अवैध उपायों का सहारा नहीं लूंगा।
* मैं अपने विद्यालय में दलगत राजनीति को प्रश्रय नहीं दूंगा। न मैं इसके लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करूंगा।
* मैं मादक और नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
* मैं अणुव्रत-प्रसार में अपना योग दूंगा।

विद्यार्थी अणुवत

* मैं परीक्षा में अवैध उपायों का सहारा नहीं लूंगा।
* मैं हिंसात्मक एवं तोड़फोड़-मूलक-प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।

* मैं अश्लील शब्दों का प्रयोग नहीं करूंगा, अश्लील साहित्य नहीं पढ़ूंगा तथा अश्लील चलचित्र नहीं देखूंगा।
* मैं मादक तथा नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
* मैं चुनाव के सम्बन्ध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा।
* मैं दहेज से अनुबंधित एवं प्रदर्शन से युक्त विवाह नहीं करूंगा और न भाग लूंगा।
* मैं बड़े वृक्ष नहीं काटूंगा और प्रदूषण नहीं फैलाऊंगा।

जैन विश्वभारती संस्थान (विश्वविद्यालय) की स्थापना से पूर्व उनके मस्तिष्क में स्पष्ट रेखाचित्र था कि यह यूनिवर्सिटी आदर्श और अनुपम तभी बन सकती है, जब कि यहां के अध्यापक उच्च चरित्र सम्पन्न, गंभीर अध्येता और नि:स्वार्थ चेतना वाले हों। जैन विश्वभारती संस्थान का प्रथम सत्रारम्भ अनुशास्ता की सन्निधि में हुआ। उस समय विशेष प्रेरणा देते हुए गुरुदेव ने कहा—''**मेरा सपना सिर्फ विश्वविद्यालय का नहीं था। मैं चाहता था कि ऐसा विश्वविद्यालय बने, जिससे सबको दिशा-दर्शन मिले। हमने प्राचीनकाल के तक्षशिला, नालन्दा जैसे विश्वविद्यालय नहीं देखे पर उसका एक प्रतिरूप खड़ा हो जाए, यह हमारे मन की उदग्र आकांक्षा है। मेरा विश्वास है कि आप सब शिक्षक मेरे सपने को पूरा करने में सहयोगी बनेंगे।.....यहां के विद्यार्थी और प्राध्यापक लौकिक विकास पर ही नहीं रुकें, उससे आगे पारमार्थिक और आध्यात्मिक ऊंचाइयों तक पहुंचने का प्रयास भी करें, तभी यहां से निकलने वाले विद्यार्थी अपनी विशेष पहचान बना पाएंगे।** यहां के अधिकारी और प्रोफेसर भी विद्यार्थियों को लक्ष्य-संपूर्ति में पूरा सहयोग देंगे।''[१] यूनिवर्सिटी की स्थापना के बाद भी व्यक्तिश: एवं समूह में वे संस्थान के प्राध्यापकों में जीवन-मूल्यों का संचरण करने का प्रयत्न करते रहते थे।

मेवाड़ यात्रा में पूज्य गुरुदेव ने जीवन विज्ञान शिविर में भाग लेने वाले

---

१. २६ जुलाई १९९१ के प्रवचन का अंश।

प्राध्यापकों को दायित्वबोध के कुछ बिन्दु बताते हुए कहा—''**बच्चों को सजाने एवं संवारने का काम अध्यापकों पर है। किन्तु यह तभी संभव है, जब अध्यापक सही अर्थों में अध्यापक बनें तथा शिक्षा देने से पूर्व स्वयं अपना जीवन सुधारें।** मेरा विश्वास है कि अगर अध्यापक मनोयोग से कार्य करें तो देश के चारित्रिक निर्माण में निर्णायक भूमिका निभा सकते हैं। इसके लिए निम्न बातों पर विशेष ध्यान देना अपेक्षित है—

* अध्यापक का जीवन सभी व्यसनों से मुक्त हो।
* अध्यापक अनुशासन करे, पर आवेश नहीं।
* अध्यापक मादक एवं नशीली वस्तुओं का सेवन न करे।
* केवल आजीविका के लिए नहीं अपितु आत्मधर्म की प्रेरणा से अध्यापन करे।
* अध्यापक अणुव्रत के नियम एवं प्रेक्षा को जीवन में उतारे।
* अध्यापक पुस्तकों से नहीं, अपने आदर्श जीवन से पढ़ाए।
* अध्यापक सुविधावादी मनोवृत्ति का त्याग कर पुरुषार्थी बना रहे।
* विधायक दृष्टिकोण का निर्माण कर कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास करे।

व्यक्तित्व-निर्माण के साथ पूज्य गुरुदेव के अध्यापन का एक मुख्य उद्देश्य था सर्वांगीण व्यक्तित्व वाले अध्यापक तैयार करना, जो ज्ञान की परम्परा चला सकें। आचार्य तुलसी का मंतव्य था कि यदि ज्ञान की परम्परा आगे से आगे नहीं चलाई जाएगी तो कालान्तर में वह लुप्त हो जाएगी। दूसरों को ज्ञान नहीं देने से व्यक्ति का अपना ज्ञान भी पूर्ण विकसित नहीं हो पाता।'' श्रुत की अमूल्य परम्परा को अविच्छिन्न रखने के लिए पूज्य गुरुदेव नए-नए अध्यापक तैयार करने की कला में दक्ष थे।

सन् १९६२ में गुरुदेव की सन्निधि में दो ग्रंथों का वाचन चलता था—'श्री भिक्षुशब्दानुशासनम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम्। महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा

कनकप्रभाजी, साध्वी कनकश्रीजी एवं साध्वी यशोधराजी जैसी प्रत्युत्पन्न मति विद्यार्थी साध्वियां गुरुदेव की सन्निधि में पढ़ती थीं। विशेष आयोजनों को छोड़कर भिक्षुशब्दानुशासनम् का क्रम नियमित चलता था। उस समय प्रेरणा देते हुए गुरुदेव अनेक बार कहते थे—''**मेरे पास पढ़ने वाले कुछ विद्यार्थी भी संस्कृत व्याकरण पढ़ाने की अर्हता अर्जित कर सकें तो मेरे लिए अतिरिक्त प्रसन्नता का विषय होगा तथा अध्यापन का प्रयत्न भी सार्थक हो जाएगा।**'' गुरुदेव की वह प्रेरणा सार्थक हुई महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाजी साध्वी कनकश्रीजी एवं साध्वी जिनप्रभाजी आदि साध्वियां व्याकरण के अध्यापन में निष्णात बन गईं।''

समणी मंगलप्रज्ञाजी पारमार्थिक शिक्षण संस्था की बहिनों को स्याद्वादमंजरी का अध्यापन कर रही थीं। स्याद्वादमंजरी की आठवीं कारिका कुछ क्लिष्ट होने के कारण उन्हें मार्गदर्शन की अपेक्षा महसूस हुई। आचार्य तुलसी ने एक साध्वी के पास उनकी पढ़ने की व्यवस्था कर दी। साध्वीश्रीजी ने कुछ दिन पढ़ाया फिर व्यस्तता के कारण क्रम टूट गया। कुछ दिन बाद गुरुदेव ने स्वयं पूछा—''क्या तुम्हारे अध्ययन का क्रम ठीक चल रहा है? कहीं कोई बाधा तो नहीं है?'' मंगलप्रज्ञाजी ने कहा—''थोड़े दिन क्रम चला, व्यस्तता होने के कारण अब साध्वीश्रीजी के पास समय नहीं है।'' गुरुदेव ने तत्काल फरमाया—''किसी के पास समय नहीं पर हमारे पास समय है क्योंकि हमें अध्यापक तैयार करने हैं। शाम को आहार के बाद आ जाना।'' अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी पूज्य गुरुदेव ने स्वयं आठवीं कारिका की शब्दशः वाचना दी। पूज्य गुरुदेव का श्रम सार्थक हुआ और समणी मंगलप्रज्ञा न केवल कुशल प्राध्यापिका बनी, वरन् विश्वविद्यालय में कुलपति के दायित्व का भी सम्यक् निर्वहन किया।

उनके द्वारा अध्ययन प्राप्त अनेक साधु-साध्वियां एवं समण-समणियां आज यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर, सह प्रोफेसर तथा प्रवक्ता आदि पदों पर विविध विषयों में अध्यापन का कार्य कर रही हैं।

विशेषनामानुक्रम

अणुव्रत (आन्दोलन) २७२
अणुव्रत (पत्रिका) १८९
अणुव्रत शिक्षक संसद (संस्था) २७२
अध्यात्मोपनिषद् (ग्रंथ) १११
अनुकम्पा की चौपाई (ग्रंथ) २५०
अनुयोगद्वार (ग्रंथ) २०९
अन्ययोगव्यवच्छेदिका (ग्रंथ) १५७, १८८
अन्वेषणा (पत्रिका) २२०
अब्दुलकलाम (वैज्ञानिक) ७४
अब्राहम लिंकन (राष्ट्रपति) ९, ८३, २४५
अभिज्ञानशाकुन्तल (ग्रंथ) १९४
अभिधान चिन्तामणि (कोश) १०३, १३४, २०४, २०५, २११, २१२, २५५
अभिनिष्क्रमण (ग्रंथ) १८४
अभिमन्यु शाह (व्यक्ति) २६८
अमरकोश (कोश) १८१
अमेरिका (देश) २००
अरविंद घोष (शिक्षाशास्त्री) ७, २५, ६५
अरस्तू (शिक्षाशास्त्री) ७, २३, १०८
अशोककुमार (मुनि) १२२, १७१, २५५
अशोक जैन (व्यक्ति) १५०
अश्रुवीणा (काव्य) १८४
अहमदाबाद (शहर) १६८
अर्हत् वाणी (काव्य) ३९, २०२
आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन (पुस्तक) १५३
आचारांग (ग्रंथ) ३९, ११८, १५२
आचार्यश्री तुलसी के पत्र (पुस्तक) २४५
आडसर (ग्राम) २१५
आमेट (नगर) ३८, ५२
आयारो (आगम) ५५
आर. एस. मनी (लेखक) ८७
आर. के. गंगवाल (लेखक) २८
आरोग्यश्री (साध्वी) १८८
आर्मस्ट्रांग (शिक्षाशास्त्री) १५१
आसींद (नगर) ५५
इंदिरागांधी (प्रधानमंत्री) २४५
इसिभासियाइं (ग्रंथ) ५१, ९३
उत्तर प्रदेश (प्रान्त) १९७
उत्तराध्ययन (आगम) ३७, ३८, ५६, ८०, १४७, १७१, २०२, २४२
उत्तिष्ठत जाग्रत (ग्रंथ) १८४
उदासर (गांव) १२५
उदितकुमार (मुनि) २४५
उमास्वाति (आचार्य) १६१
ऋग्वेद (ग्रंथ) १, १३०

ऋजुप्रज्ञा (समणी) ६९
ऋतुप्रज्ञा (समणी) ६९
ऋषभकुमार (मुनि) ५३
ए. एच. गारलिक (शिक्षाविद्) २०, २२२
ए. एन. व्हाइटहैड (शिक्षाविद्) १०७
एजूकेशन ऑफ टुडे (पुस्तक) १
एडम्स (शिक्षाशास्त्री) ९१, ११३
एथेंस (स्थान) १०८
ए पिसेंट (शिक्षाशास्त्री) १६३, २२७
एस. एस. चौहान (लेखक) ४८
एस. एस. माथुर (लेखक) ४८, १५६, २४१
एस. एस. श्रीमाली (लेखक) १५५
एस. कोठारी (शिक्षाविद्) २
एस. पी. कुलश्रेष्ठ (लेखक) १५४, २२२, २२४
ओटावे (शिक्षाशास्त्री) १९६
कंचनप्रभा (साध्वी) ५०
कनकप्रभा (साध्वीप्रमुखा) २८, ४९, १६७, १७८, १८०, २३६, २३८, २४५, २७५
कनकश्री (साध्वी) ७०, १४३, १६७, २२८, २३६, २४९, २७५
कबीर (संत) ८१, १३१, १५५
कमलश्री (साध्वी) ६६, ७१, ७२, १७०
कमलू (साध्वी) १७४
कर्तव्यषट्त्रिंशिका (काव्य) ८०, २६०, २६२
कलकत्ता (शहर) २५०
कल्पमाला (साध्वी) ८५
कल्याणमंदिर (स्तवन) २०६
कादम्बिनी (पत्रिका) १५०
कानकंवर (साध्वी) १६९, २३७
कानपुर (शहर) २५०
कापोत (लेश्या) १४७
कालिदास (कवि) १६, ४६
कालूकन्यामहाविद्यालय (महाविद्यालय) ६९
कालूकौमुदी (व्याकरण) ३६, ३८, ९३, १५२, १६९, २०४, २१३, २४८
कालूगणी (आचार्य) २४, २५, ३२, ४६, ४७, ४९, ९५, १०२, १२७, १३९, १८४, २००, २१५, २६३
कालूयशोविलास (काव्य) ६०, ११९, १२०, १४१
किस्तूरां (साध्वी) १२४, २३७, २६०
कुमारश्रमण (मुनि) ३९, १४९, १७८, १९३, १९७
कुरुक्षेत्र (स्थान) १८६
कुसुम (मुमुक्षु) १७५
कुसुमप्रज्ञा (समणी) ७०, २२१, २४५

के. जी. सैयदैन (शिक्षाशास्त्री) १
के. टी. (राजनेता) ७७
कोलविन (शिक्षाशास्त्री) २३०
कौटिल्य अर्थशास्त्र (ग्रंथ) १९२
खूमां (साध्वी) १७२
गंगा (नदी) १०२, १७१, २१९
गंगापुर (नगर) १२४
गंगाशहर (शहर) १५८, २२१, २३७
गणपत (व्यक्ति) २४९
गांधीजी (राष्ट्रपिता) ११, ४७, ५४, ७६-७८, १०७, १४५, १६०, १७९, १८१, १८९, १९५, २१४, २६३
गिरीशकुमार (मुनि) ५९
गुलाबचंद (मुनि) १७३, २१७
गेटे (कवि) ४८, १८७
गौतम ज्ञानशाला (स्थान) ३८, २६५
ग्रीन (शिक्षाशास्त्री) २४१
घुसकरा (ग्राम) २५७
चर्चा (ग्रंथ) २६१
चूरू (शहर) १६१
चैतन्यप्रज्ञा (समणी) ६९
चौंसे (शिक्षाशास्त्री) २२
छान्दोग्य (उपनिषद्) १९३
छापर (नगर) ३२, ६७, २१६, २६०, २६१
जंबूकुमार (मुनि) ३९, २३८, २४३, २५४
जतनकुमारी (साध्वी) २२०
जयज्योति (पत्रिका) २२०
जयपुर (नगर) ५४
जवाहरलाल नेहरू (प्रधानमंत्री) १४५, २४५
जसवन्त (कॉलेज) २७२
जाकिर हुसैन (राष्ट्रपति) १०७
जान ड्यूवी (शिक्षाशास्त्री) १, ७, १४७
जारविस (शिक्षाशास्त्री) २४१
जिनप्रभा (साध्वी) २७५
जिनेशकुमार (मुनि) ६१
जीवन विज्ञान (शिक्षा-पद्धति) ७८, २६९, २७३
जे. एस. मेकेञ्जी (शिक्षाशास्त्री) ४१
जे. कृष्णमूर्ति (शिक्षाशास्त्री) ३, १५४, २७१
जेम्स हाई (शिक्षाशास्त्री) २३
जैंथिप्पी (एथेंस की देवी) २४२
जैन तत्त्व प्रवेश (ग्रंथ) २६१, २६२
जैन विश्व भारती संस्थान (विश्वविद्यालय) १७, ६९, ७०, १४८, १९७, २१२, २६५, २७३
जैन सिद्धान्त दीपिका (ग्रंथ) १७३, १७४, २६०, २६२

जैनेन्द्रकुमार (साहित्यकार) ४, ४२, ९०, ११४, ११७, ११९, १३६, १५४, १६५, २३६
जोधपुर (शहर) २६१
जोधपुर विश्वविद्यालय (विश्वविद्यालय) २७२
झमकू (साध्वीप्रमुखा) ३६, ३७
टमकोर (गांव) ६६, १७०
टी. एस. अविनाश लिंगम् (लेखक) ७८
टी. पी. नन (शिक्षाशास्त्री) १८०
ठाणं (ग्रंथ) ३९
डालमिया (नगर) १५०
डूंगरसिंह (व्यक्ति) २७१
डेवीज (शिक्षाशास्त्री) २२४
तक्षशिला (स्थान) २७३
तत्त्वार्थराजवार्तिक (ग्रंथ) ११८, १९३
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (ग्रंथ) ९३
तमिल (भाषा) २५४
तमिलनाडु (प्रान्त) १३६
तरंगिणी (पत्रिका) २२०
तुलसी पाठशाला (पाठशाला) ३५
तुलसी पोशाल (पाठशाला) ३४
तेरहद्वार (ग्रंथ) २६२
तेरापंथ भवन (स्थान) ३९
तैत्तिरीय (उपनिषद्) ४१
त्यागी (लेखक) ४८
त्रिपिटक (साहित्य) २५२
थामस फुलर (शिक्षाशास्त्री) ११४
थिंग्र (शिक्षाशास्त्री) २२९
थियोरीज आफ पर्सनलिटी (ग्रंथ) ११७
थेर गाथा (ग्रंथ) २९
थोर्नद्वारक (शिक्षाशास्त्री) १६३
द कामनवेल्थ टीचर ट्रेनिंग (अध्ययन) २०
दयानंद सरस्वती (समाज-सुधारक) २६३
दयालचंद सोनी (लेखक) २६७
दशवैकालिक (ग्रंथ) ५, १५, २९, ३३, ३८, ३९, १२५, १२९, १४४, १८८
दिनकर (मुनि) १७१
दिनेशकुमार(मुनि) ३९, ५२
दिल्ली (शहर) १५२, २१०
दुलहराज (मुनि) ७१, १६८
दुष्यन्त (राजा) १९४
द्रोण (आचार्य) ८९
धर्मबिंदुप्रकरण (ग्रंथ) ५९
धर्मरुचि (मुनि) ५९, १४८
धुरी (नगर) २०९, २५०
धूलिया (नगर) १३३
नगराज (मुनि) १५२, २१७
नथमल (मुनि) ३०, ५८, ६७, ७१, १४२, १८४, २१६, २१८, २२८, २६२

नागला (महिला) १७५
नाथूलाल 'जिज्ञासु' (शिक्षक) १७५
नालन्दा (विश्वविद्यालय) २७३
निक्षेप (शिक्षापद्धति) १९२
निग्गंथगाथा (ग्रंथ) २९
निरंजननाथ (राजनेता) १२९
निर्मलप्रज्ञा (समणी) १४
नीतिशतक (काव्य) ३९
नेपोलियन (विश्वविजेता) ६५
पंचकल्प भाष्य (ग्रंथ) २०
पंजाब (प्रान्त) १५८, २०९
पराग (पत्रिका) २२०
परिमलप्रभा (साध्वी) २४५
पवनकुमार खरे (लेखक) ७५
पर्सनलिटी (ग्रंथ) ९
पातञ्जल योगदर्शन (ग्रंथ) १९२
पानमल (मुनि) २५७
पाब्लो फ्रेरे (शिक्षाशास्त्री) १५४
पारमार्थिक शिक्षण संस्था (संस्था) २७५
पार्वाहर्स्ट (शिक्षाशास्त्री) ५७
पिलानी (स्थान) ४३
पी. डी. पाठक (लेखक) ४८
पीयर्स (शिक्षाशास्त्री) ६२, २२३
पुनर्रचना (ग्रंथ) १
पूना (शहर) २८
पेढाल (तीर्थंकर) १०३
पोट्टिल (तीर्थंकर) १०३
प्लेटो (शिक्षाशास्त्री) ८, ६२, २२९
प्रकाशवती (साध्वी) २६१
प्रज्ञालोक (स्थान) ९३, ५४, १८७
प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार (ग्रंथ) ४५, १४२, १९३
प्रमाणमीमांसा (ग्रंथ) १९३
प्रमेयकमलमार्तण्ड (ग्रंथ) २३६
प्रयास (पत्रिका) २२०
प्रशमरतिप्रकरण (ग्रंथ) १६१
प्रशिक्षण परिषद् (परिषद्) ७६
प्राकृत कार्यशाला (कार्यशाला) ३९
फतेहपुर (नगर) २११
फीचर (शिक्षाशास्त्री) १७०
फूलकुमारी (साध्वी) १४४, १७२, २१३
फोर्ज (शिक्षाशास्त्री) १६०
फ्रांस (देश) १३१
फ्रोबेल (शिक्षाशास्त्री) ७
बंगाल (प्रान्त) १४९, २५७
बनारस (शहर) २६९
बरचेनो (शिक्षाशास्त्री) २४१
बर्ट्रेंड रसल (शिक्षाशास्त्री) १५, ७६
बर्लाइन (शिक्षाशास्त्री) २३६

बाल कवि वैरागी (कवि) २
बालचंद (मुनि) २२, १३६, १३७, २५७
बिग (शिक्षाशास्त्री) २२४
बिग्गी (शिक्षाशास्त्री) ११४
बिलवाड़ी (ग्राम) २४८
बिहारी (कवि) ८१
बी. एफ. स्किनर (शिक्षाशास्त्री) १६४
बीकानेर (शहर) ४५, ७१
बीदासर (नगर) ५८, ७३, १६०
बुद्ध (धर्मनेता) ११०, १२९, २६७, २६०
बुद्धमल (मुनि) ४३, १०२, १०३, १०५, १३४, १६५, १८१, २१८
बेमाली (ग्राम) २११
बेल रेनी (शिक्षाशास्त्री) १११
बोपदेव (संत) ६५
बोसिंग (शिक्षाशास्त्री) ९, २२९
ब्राउडी (शिक्षाशास्त्री) १०७
ब्रामेल्ड (शिक्षाशास्त्री) १९५
ब्रिटानिका (विश्वकोश) १५०
भक्तामर (स्तवन) ३३, ४७, ६८, २३३
भगवती (ग्रंथ) ३८, २२९, २३३
भगवद्गीता (ग्रंथ) १८६
भद्रबाहु (आचार्य) ९०
भरत (चक्रवर्ती) २१२
भरतपुर (नगर) २१८
भरत-बाहुबलि (महाकाव्य) ६७
भारत (देश) २
भारतीय विद्या भवन (स्थान) २१६
भारमल्ल (आचार्य) ८०
भावदेव (मुनि) १७५
भिक्षु (आचार्य) ८०
भिक्षुमहाकाव्य (काव्य) १८४
भिक्षुशब्दानुशासन (व्याकरण ग्रंथ) ६७, १४३, १५२, २०४, २७५
भींवराज (मुनि) ५२
भीनासर (नगर) १८१
भीम (मुनि) ५२
भोलावत (जाति) १६२
मंगलप्रज्ञा (समणी) ६९, २७५
मंजुला (साध्वी) ७१, २२०
मगनलाल (मंत्री मुनि) १६२, २०२
मघवा (आचार्य) २४३
मधुकर (मुनि) १२६
मनक (मुनि) २४८
मनोनुशासन (ग्रंथ) २६०
मर्यादा महोत्सव (उत्सव) १२९
महाप्रज्ञ (आचार्य) ११, १४, २८, २९, ३५, ४२, ५८, ६६, ७७, ९४,

१०३, १०९, १२३, १३०, १४७, १६५, १७१, १७८, १८०, २६८
महाभारत (ग्रंथ) ८९
महाराष्ट्र (प्रान्त) १३३
महावीर (तीर्थंकर) १२, १२९, १५२
महाश्रमण (आचार्य) ३७, ५३, १७८
माघ (कवि) ४६
माण्डूक्य (उपनिषद्) २१
मानतुंग (आचार्य) १९१
मारवाड़ (देश) १२८, १३९
मिल्टन (शिक्षाशास्त्री) ८
मीठालाल (मुनि) ३७
मुकुल (ग्रंथ) १८४
मुक्ति बोध (व्याकरण) ६६
मुदितकुमार (आचार्य महाश्रमण) १४९, १५०, २०७
मुदितयशा (साध्वी) १७१
मुम्बई (शहर) १७३, २१६
मेकावुचि (शिक्षाशास्त्री) ७६
मेघकुमार (मुनि) ६४
मेरा जीवन ....(ग्रंथ) १०, २५, ३२, ४५, ४६, १४२, २०४, २१५, २४८, २६०
मेरु (पर्वत) २६
मेवाड़ (स्थान) २७३
मैं तिरूँ म्हांरी नाव तिरै (काव्य) ५३
मैथ्यु अर्नाल्ड (शिक्षाशास्त्री) ११
मैन (शिक्षाशास्त्री) ४४
मोरीसस (शिक्षाशास्त्री) २२४
मोहनां (साध्वी) ६७
म्यूटिक (सिद्धान्त) २६७
यशपाल जैन (साहित्यकार) २७
यशोधरा (साध्वी) १४३, १६७, २३६, २७५
यात्रा : एक अकिञ्चन की (ग्रंथ) ३५
युधिष्ठिर (पाण्डव) ८९
युवादृष्टि (पत्रिका) १४४
यूनान (देश) २४२
योकम (शिक्षाशास्त्री) ११५
योगक्षेम वर्ष (आयोजन) ९२
योगशास्त्र (ग्रंथ) ३९
योगेशकुमार (मुनि) १७९, २५६
रघुनंदन (वैयाकरण) ४५, १३४, २१७, २२८
रतनकंवर (साध्वी) ६७
रतनगढ़ (शहर) २४८
रत्नाकरावतारिका (ग्रंथ) ४५
रवीन्द्रकुमार (मुनि) १६२, २०३
रवीन्द्रनाथ टैगोर (शिक्षाशास्त्री) ९, २१, २५, ४१, ८७, १६३, २६३
रस्किन (लेखक) २५८

रास्क (शिक्षाशास्त्री) २२, ८३, १५१, १७८
रहीम (कवि) ८१
राकेशकुमार (मुनि) २१७
राजगोपालाचार्य (राजनेता) २१४
राजनगर (नगर) १४३, १६१
राजलदेसर (नगर) ६७, १३३, २१८
राजस्थान (प्रान्त) २६१
राजेन्द्रकुमार (मुनि) ५१, ७१, १३७, १६१
राजेन्द्रप्रसाद (राष्ट्रपति) ८८
राणावास (गांव) २०५
राधाकृष्णन (राष्ट्रपति) २१४, २३६
रामचरित्र (काव्य) ३९
रामनिवास मिश्र (साहित्यकार) १६
रायबर्न (शिक्षाशास्त्री) १४, २१, ११४, १६०
राष्ट्रीय शिक्षक अनुसंधान (परिषद्) ७६
रींछेड (गांव) १६७
रीड़ी (गांव) २५०
रुणिया का वास (गांव) १७३
रूसो (शिक्षाशास्त्री) ७, ८९, ११४
रेंवतमल (व्यक्ति) २६०
रेन (शिक्षाशास्त्री) २२३
रेमाण्ट (शिक्षाशास्त्री) २२९
लक्ष्मी (धनदेवी) १५, ८२
लक्ष्मीलाल के. ओड (लेखक) २, १५४
लाडनूं (शहर) १२, १७, २८, ३८, ५५, ६७, ८०, ९३, १२०, १२२, १२५, १२८, १४७, १७५, १८७, १९३, २०५, २१३, २३३, २४२, २५६, २६९
लाडांजी (साध्वी प्रमुखा) ३२, ५०, १६९, १७०, २६४
लायनोव (शिक्षाशास्त्री) ६९
लार्बर (शिक्षाशास्त्री) २२३
लिण्डजे (शिक्षाशास्त्री) ११७
लिवरपूल (विश्वविद्यालय) १५०
लूणकरणसर (गांव) १७३, २५६
लोहवणिक्(कथानक) ३०
वर्धा (शहर) ७७
वरतन्तु (शिष्य) १०२
विंस्टन चर्चिल (लेखक) ८२
विजयकुमार (मुनि) ६०, २०७
विजयश्री (साध्वी) २६०
विटी (शिक्षाशास्त्री) २०
विट्ठलपुर (गांव) २३३
विनीत-अविनीत (ग्रंथ) १३२
विनोबाभावे (संत) १०, ४२, १०४, १०९, १२६, १३३, २०२, २५८

विमल (वैरागी) २५४
विवेकश्री (साध्वी) १६८, २०५
विवेकानंद (शिक्षाशास्त्री) ५, ८, १३, २३, ३०, ४३, ८३, ८७, ९१, १०५, १०९, ११३, १३०, १९५, २६३, २६८
विष्णुकांत शास्त्री (लेखक) २७
विश्रुतविभा (मुख्यनियोजिका) २१२
वीणाकुमारी (साध्वी) २४५, २४६
वेस्तावे (शिक्षाशास्त्री) २२७
व्यवहारबोध (ग्रंथ) २८, ३७, ३९, २०२, २५४, २५९
व्याख्यान-प्रणाली (शिक्षाप्रणाली) २२३
शकुन्तला (रानी) १९४
शान्तसुधारस भावना (काव्य) ३८, १२०, २०२
शारदाप्रज्ञा (समणी) ६९
शिक्षाषण्णवति (काव्य) २६०, २६२
शिखरिणी (छंद) २१८
शिवराम आप्टे (कोशकार) २१६
शिवाजी भावे (आचार्य) १३३
शिशुपालवध (काव्य) १२७, १४२
शैफर (लेखक) ६१
षड्दर्शनसमुच्चय (ग्रंथ) १९३
संघमित्रा (साध्वी) ८६
संतोष (महिला) १६१, २६४
संवाद-विधि (शिक्षण-विधि) २२९
संसूचन-विधि (शिक्षण-विधि) २२७
सच्चिदानंद सहाय (लेखक) २५३
सन्मति तीर्थ (स्थान) २८
सप्तभंगितरंगिणी (ग्रंथ) ९३
समवाओ (आगम) ३९
सम्बोधि (ग्रंथ) १८४
सरदारपटेल (राजनेता) १४५
सरदारशहर (शहर) १११, १७४, २१६, २२०
सरस्वती (साध्वी) १६१
सविता (मुमुक्षु) २१२
सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति (काव्य) ३९
सागरमल (मुनि) १८५
साहू शांतिप्रसाद (व्यक्ति) १४९
सिंदूरप्रकर (काव्य) ३३, ४६, ९४, १५७, २०७, २३७, २४२
सिकंदर (सम्राट्) १०८
सिद्धान्त चन्द्रिका (व्याकरण) १२७
सिद्धेश्वर (लेखक) २
सिम्पसन (शिक्षाशास्त्री) ११५
सिरियारी (ग्राम) २२६
सुकरात (शिक्षाशास्त्री) ११३, २२९, २४२

सुकरात-विधि (शिक्षण-विधि) २२९
सुखदेवां (साध्वी) २४५
सुजानगढ़ (शहर) १७९, १९०
सुनीता (मुमुक्षु) २१२
सुपर लर्निंग (शिक्षा-प्रणाली) ६९
सुमनप्रभा (साध्वी) २४५
सुमेध (गुरु) १०२
सुमेरमल (मंत्री मुनि) १२५, २५६
सुराणा फार्म(स्थान) ५४
सूक्ति-मुक्तावलि (काव्य) ९४
सूरजकुमारी (साध्वी) २०२
सूर्य (ग्रह) १३०, १८६, १९७
सूर्यकांत नागर (लेखक) १०
सोना (साध्वी) ३६, १२४, २५६
सोमप्रभा (साध्वी) २१२
सोहनलाल (मुनि) ३३
स्किनर (शिक्षाशास्त्री) २२२
स्याद्वाद (विषय) २४०
स्याद्वाद और जगत् (लेख) ५८
स्याद्वादमंजरी (ग्रंथ) ५८, २७५
स्याद्वादरत्नाकर (ग्रंथ) १९२
स्वास्थ्य निकेतन (स्थान) १७१
श्रावक सम्बोध (काव्य) ३९, २३३
श्रीचंदरामपुरिया (श्रावक) ५९
श्रीभिक्षुन्यायकर्णिका (ग्रंथ) २२६, २६०, २६२
श्रुतयशा (साध्वी) १७१
श्रृंगारवैराग्यतरंगिणी (काव्य) १९४
श्रृंगारशतक (काव्य) १९४
हरबर्ट स्पेंसर (शिक्षाशास्त्री) ७६, १५१, २२४
हरमन लौत्से (शिक्षाशास्त्री) ७५
हरलॉक (शिक्षाशास्त्री) १६४
हरिभद्र (आचार्य) १९१
हरियाणा (प्रान्त) २६१
हांसी (नगर) २६४
हाफिज (संत) ५०
हॉल (शिक्षाशास्त्री) ११७
हिग्रेट (शिक्षाशास्त्री) २२२
हिमांशुकुमार (मुनि) २५६
हिमालय (पर्वत) २१८
हीरा (रत्न) ६८, १०६, २४०
हीरालाल (मुनि) ७३
हेमचन्द्र (आचार्य) २१३
ह्यूरिस्टिक पद्धति (शिक्षा-पद्धति) १५१

सहायक ग्रंथ सूची

अंडरस्टेंडिंग एजूकेशन—टी. एन. धार., कनन साधु, रजत पब्लिकेशन, दिल्ली, २००२।

अंडरस्टेंडिंग बेसिक एजूकेशन—टी. एस. अविनाश लिंगम्।

अच्छा शिक्षक और अच्छा छात्र—संकलन, इंडियन कांसिल ऑफ फिलोसोफिकल रिसर्च, प्र सं. २००२।

अधिगम एवं शिक्षण के मनोसामाजिक आधार—एच. एस. बघेला, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर-२, सन् २००७।

अधिगमकर्ता का विकास एवं शिक्षण अधिगम प्रक्रिया—सियाराम यादव, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद-२, सन् २००८।

अध्यापक शिक्षा—जी. सी. भट्टाचार्य, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, तृ सं. २००७।

अध्यापक शिक्षा : गुणात्मक विकास—डॉ. मयासिंह, अध्ययन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्र सं. २००७।

अध्यापक शिक्षा में प्रायोगिक कार्य—डॉ. रामेश्वरी शर्मा, चिल्ड्रन बुक हाऊस, जयपुर, सन् २००७।

अध्यापन-विधि के सिद्धान्त—ए. पिसेंट, अनु. श्रीमती संतोष नन्दा, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, सन् १९८१।

अध्यापन शिक्षा की चुनौतियां—डॉ. मया शंकर सिंह।

अभिधान चिंतामणि—आचार्य हेमचन्द्र, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी-१।

आगे की सुधि लेइ—आचार्य तुलसी, जैन विश्व भारती, लाडनूं, प्र सं. १९९२।

आचार्य तुलसी का संस्कृत साहित्य भा. २—आदर्श साहित्य संघ प्र सं. २०००।

आचार्य तुलसी के पत्र, भा. १-३—सं. साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा, आदर्श

साहित्य संघ, प्र सं. १९९९।

आचार्य तुलसी : जीवन दर्शन—मुनि बुद्धमल, आदर्श साहित्य संघ।

आचार्य तुलसी साहित्य : एक पर्यवेक्षण—समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, प्रसं सन् १९९४।

आचार्य श्री तुलसी (जीवन पर एक दृष्टि)—मुनि नथमल, आदर्श साहित्य संघ, सन् १९५२।

आधुनिक भारतीय शिक्षा और समस्याएं—डॉ. बी. बी. अग्रवाल, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-२।

आधुनिक भारतीय शिक्षा : समस्याएं एवं समाधान—डॉ. आर. पी. पाठक, कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, सन् २०१०।

आधुनिक युग में धर्म—डॉ. एस. राधाकृष्णन्।

आधुनिक शिक्षा के दार्शनिक और समाजशास्त्रीय सिद्धान्त—डॉ सरयू प्रसाद चौबे, अखिलेश चौबे, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, सन् २००८।

आयारो—वा. प्र. आचार्य तुलसी, प्र सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूं।

आवश्यक निर्युक्ति—वा.प्र. आचार्य तुलसी, प्र.सं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्वभारती संस्थान, प्र सं. सन् २००१।

इसिभासियाइं—वा.प्र. आचार्य तुलसी, प्र.सं आचार्य महाप्रज्ञ, सं. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्वभारती, लाडनूं, प्र सं. सन् २०११।

उत्तराध्ययन—वा.प्र. आचार्य तुलसी, प्र.सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं।

उदीयमान भारतीय समाज और शिक्षा—ओंकारसिंह त्यागी, अरिहंत शिक्षा प्रकाशन।

उदीयमान भारतीय समाज और शिक्षा—प्रो. मथुरेश्वर पारीक, शिक्षा प्रकाशन।

उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षा—डॉ. के. एन. शास्त्री, अर्जुन पब्लिशिंग

हाऊस।

उभरते हुए भारतीय समाज में शिक्षा—ओ. पी. शर्मा, शोभा गुप्ता, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा-२, द्वि. सं. २००८।

उभरते हुए भारतीय समाज में शिक्षा—डॉ. रामशकल पाण्डे, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा-२, द्वि. सं. २००८।

एक बूंद : एक सागर भा. १-३—आ. तुलसी, सं. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, द्वि सं. २००६।

एजूकेशन—हरबर्ट स्पेंसर।

एजूकेशन ऑफ टुडे—जॉन ड्यूवी, सन् १९४०।

एजूकेशन इट्स डाटा एंड फर्स्ट प्रिंसिपल—टी. पी. नन।

एजूकेशन इन इंडिया टुडे एंड टुमारो—एस. एन. मुखर्जी, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

एजूकेशन इन एनशिएंट इंडिया—ए. एस. अल्तेकर, नंदकिशोर एण्ड ब्रदर्स, सन् १९५७।

एजूकेशन इन एनशिएंट इंडिया—वेदमित्र, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, सन् १९६४।

एजूकेशन एंड द सोशल आर्डर—बर्ट्रेंड रसल।

एजूकेशनल साइकोलॉजी—स्टीफन्स।

एनशिएंट इंडियन एजूकेशन—राधाकुमुद मुखर्जी, मैकमिलन, सन् १९५१।

ए न्यू मेन्युवल ऑफ मैथड—ए. एच. गारलिक।

ए प्राइमर ऑफ टीचिंग प्रेक्टिस—ग्रीन एवं बरचेनो।

ओब्जेक्टिव एण्ड मैथड फोर सैकेण्डरी टीचिंग—पीयर्स डब्ल्यू डी और लार्बर।

कल्चर फाउंडेशन ऑफ एजूकेशन—थियोडोर ब्रामेल्ड।

जीवन विज्ञान : शिक्षक प्रशिक्षक मार्गदर्शिका—मुनि किशनलाल, शुभकरण

सुराणा, जीवन विज्ञान अकादमी, जैन विश्वभारती, लाडनूं, आठवां सं. २०११।

जीवन विज्ञान : शिक्षा का नया आयाम—आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती प्रकाशन, नवां सं. २००६।

जीवन विज्ञान : स्वस्थ समाज रचना का संकल्प—आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती प्रकाशन, सं. २००८।

डीस्कूलिंग सोसायटी—इवान इलिच।

तुलनात्मक शिक्षा—डॉ. सरयूप्रसाद चौबे, विनोद पुस्तक मंदिर, २००८।

तुलनात्मक शिक्षा के सिद्धान्त—राजेन्द्रपालसिंह, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, तृ. सं. सन् २००७।

तुलसी विचार दर्शन—आचार्य महाप्रज्ञ, सं. साध्वी विश्रुतविभा, जैन विश्वभारती, प्र सं. २००८।

थियोरीज ऑफ पर्सनलिटी—हाल और लिण्डजे।

थेरगाथा—अनु. भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ बनारस, प्र सं. १९५५।

द आर्ट ऑफ लीविंग—हिग्रेट।

द एम्स ऑफ एजूकेशन—ए. एन. व्हाइटहेड।

द फ्यूचर शाक—एलविन टाकलर।

द मैन्युवल ऑफ एथिक्स—डॉ. जदुनाथ सरकार, सन् १९४५।

दशवैकालिक—वा.प्र. आचार्य तुलसी, प्र.सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं।

द स्कूल एण्ड सोसायटी—जान ड्यूवी।

धर्म : एक कसौटी, एक रेखा—आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ।

नई शिक्षा नीति—रामशकल पाण्डेय, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा-२, तृ. सं. सन् २००७।

नार्मल एजूकेशन इन स्कूल—आर. सरनगी।

नैतिक शिक्षा : विविध आयाम—डा. महावीरमल लोढ़ा, राजस्थान हिन्दी

ग्रंथ अकादमी, जयपुर, सन् २००७।

पंचकल्पभाष्य—सं. लाभसागरगणि, आगमोद्धारक ग्रंथमाला, वि. सं. २०२८।

पंचसूत्रम् (आचार्य तुलसी का संस्कृत साहित्य भा. २)—आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ।

परसिवल द इण्डियन टीचर्स गाइड—रेन।

पर्सनलिटी—रवीन्द्रनाथ टैगोर।

पांव पांव चलने वाला सूरज—साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा, आदर्श साहित्य संघ, प्रसं. सन् १९८२।

पाठ्यक्रम शिक्षण-कला एवं मूल्यांकन—रामपालसिंह वर्मा, रमेश शर्मा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा-२।

पुनर्रचना—के. जी. सैयदेन।

प्रमुख भारतीय शिक्षा दार्शनिक—रामनाथ शर्मा, एटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, सन् २००४।

प्रिंसिपल्स ऑफ टीचिंग—डबल्यू. एम. रायबर्न एंड के. बी. फोर्ज।

प्रिंसिपल्स एण्ड प्रेक्टिसेस ऑफ टीचिंग इन सैकेण्डरी स्कूल्स—रास्क।

प्रेरणा : पल दो पल की भा. १-५—संपा साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा, आदर्श साहित्य संघ, सन् २००५।

प्रोग्रेसिव मैथड्स ऑफ टीचिंग इन सैकेण्डरी स्कूल—बोसिंग एन. एल.।

प्रोब्लम ऑफ एजूकेशन रीकंस्ट्रक्शन —के. जी. सैयदेन।

बुनियादी शिक्षा में अनुबंध की कला—अमरसिंह सोलंकी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, सन् १९६२।

बेसिक शिक्षा सिद्धान्त—दिनेशचन्द्र भारद्वाज, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पन्द्रहवां सं. सन् २००५।

भारत में नारी-शिक्षा—जे. सी अग्रवाल, विद्या विहार, नई दिल्ली।

भारतीय और पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री—सरयूप्रसाद चौबे, रामप्रसाद एण्ड

सन्स, आगरा, १९७९।

भारतीय काव्य शास्त्र के नए क्षितिज—राममूर्ति त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं—पी. डी. पाठक, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

भारतीय शिक्षा का इतिहास—बी. पी. जौहरी, पी. डी. पाठक, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, सन् २००७।

भारतीय शिक्षा की आधुनिक समस्याएं—विजयकुमार कोहली, कृष्णा ब्रदर्स, जालंधर सन् १९७१।

भारतीय शिक्षा की सम-सामयिक समस्याएं—त्यागी एवं पाठक, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा-२।

भारतीय शिक्षा की समसामयिक समस्याएं—रामशकल पाण्डेय , विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, २००५

भारतीय शिक्षा-दर्शन की रूपरेखा—डॉ. रामशकल पाण्डेय , विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, २००५।

भारतीय शिक्षा : दिशा और दशा—रामशकल पाण्डेय, हीराईजन पब्लिशर्स, इलाहाबाद, १९९५।

भारतीय संस्कृति एवं शिक्षा-दर्शन—डॉ. महेन्द्रकुमार मिश्रा, ज्ञान प्रकाशन, सन् २००७।

भावी शिक्षकों के लिए आधारभूत कार्यक्रम—जगदीश नारायण पुरोहित, हरिश्चन्द्र व्यास, डॉ. मुरली मनोहर शर्मा, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, सन् २००८।

महाप्रज्ञ ने कहा—सं. साध्वी विश्रुतविभा, साध्वी विमलप्रज्ञा, आदर्श साहित्य संघ, सन् २००५।

मार्डन डवलपमेंट इन एजूकेशनल प्रेक्टिस—एडम्स।

मार्डन मैथड्स एंड टेकनीक ऑफ टीचिंग—योकम एंड सिम्पसन।

माण्डूक्योपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, आदर्श साहित्य संघ।

मालविकाग्निमित्र—कालिदास।

मूल्य शिक्षण—डॉ. रामशकल पाण्डेय, डॉ. करुणाशंकर मिश्र, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

मेरा जीवन : मेरा दर्शन भा. १-११—संपा. साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा, आदर्श साहित्य संघ।

यात्रा : एक अकिञ्चन की—आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, च सं. २०१०।

राष्ट्र को आह्वान—स्वामी विवेकानंद।

लर्निंग टू बी —डॉ किरीट जोशी।

विकासोन्मुख भारतीय समाज में शिक्षक और शिक्षा—प्रोफेसर सत्यपाल रुहेला, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, सन् २००७।

विकासोन्मुख भारतीय समाज में शिक्षा—गुरसनदास त्यागी, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

विकासोन्मुख भारतीय समाज में शिक्षा तथा शिक्षक की भूमिका— मंजरी सिन्हा, डॉ. आई. एस. सिंधू, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-२, सन् २००६।

विश्व के महान शिक्षाशास्त्री—डॉ. वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, १९७२।

विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री—डॉ. रामशकल पाण्डेय, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा-७, सन् २००७।

वैदिककालीन शिक्षापद्धति—डॉ. लक्ष्मीचन्द्र आचार्य, संजय प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९९७।

व्यवहारबोध (सम्बोध)—आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ, लाडनूं।

शिक्षक-प्रशिक्षण के सिद्धान्त और समस्याएं—दिनेशचन्द्र जोशी, चतरसिंह मेहता, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, तृतीय सं. सन् २००७।

शिक्षण एवं अधिगम का मनोविज्ञान—रामपाल सिंह वर्मा, राधावल्लभ उपाध्याय, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, च. सं. २००७।

शिक्षण एवं अधिगम के मनोसामाजिक आधार—आबिदा परवीन, आस्था प्रकाशन, जयपुर, सन् २००६।

शिक्षण एवं अधिगम के मनोसामाजिक आधार—रीता अरोड़ा, सुदेश भारवाह, शिक्षा प्रकाशन, जयपुर, सन् २००७।

शिक्षण कला—डॉ . एस. एस. माथुर, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, सन् २००८।

शिक्षण कला एवं शैक्षिक तकनीकी—एस. एस. माथुर, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

शिक्षण के लिए आयोजन—जगदीशनारायण पुरोहित, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, सन् २००७।

शिक्षण तकनीक—स्मृति सिन्हा, ओमेगा पब्लिकेशन्स, सन् २००६।

शिक्षण तकनीक एवं शिक्षा के नूतन आयाम—डॉ. मया शंकर सिंह, अध्ययन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, सन् २००७।

शिक्षा एवं उदीयमान भारतीय समाज—डॉ. सरोज शर्मा, श्याम प्रकाशन, जयपुर, सन् २००८।

शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व—जे.कृष्णमूर्ति।

शिक्षा एवं शिक्षण-सिद्धान्त—डॉ. एल. एन मिश्रा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पं. सं. सन् २००५।

शिक्षा और उदीयमान भारतीय समाज—डॉ. हिमांशु औदिच्य, आस्था प्रकाशन, सन् २००७।

शिक्षा और संस्कृति—जैनेन्द्रकुमार, सं. डॉ. ललित शुक्ल, समानान्तर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रसं. सन् १९८३।

शिक्षा और समाज—डॉ. मनोजकुमार सिंह।

शिक्षा का माध्यम—महात्मा गांधी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद।

शिक्षा का विकास—कि. घ. मशरूवाला, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, सन् १९५८।

शिक्षा का समाजशास्त्र—शारदा तिवारी, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, सन् २००७।

शिक्षा का समाजशास्त्र—डॉ.एम. एम. लवानिया, शशि के. जैन।

शिक्षा की आवश्यकताएं—डॉ. नरेशकुमार, विक्रम प्रकाशन कृष्ण नगर, दिल्ली, सन् १९९९।

शिक्षा की दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि—डॉ. रामशकल पाण्डेय,

विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, सन् १९९८।

शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि—डॉ. लक्ष्मीलाल के ओड़, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, आठवां सं. सन् २००६।

शिक्षा के आयाम—शंकरदयाल शर्मा।

शिक्षा के दार्शनिक आधार—रामशकल पाण्डेय, बीना कपूर, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा-२, द्वि. सं. २००६/२००७।

शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार—जी. एस. डी. त्यागी।

शिक्षा के दार्शनिक तथा सामाजिक आधार—डॉ. एस. एस. माथुर, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा-२।

शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त—पी. डी. पाठक, जी एस. डी. त्यागी, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पन्द्रहवा सं. सन् २००५।

शिक्षा के नूतन आयाम—नरेश चन्द्र त्रिपाठी, विश्वनाथ बिहारीलाल अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा- ७ तृ. सं. २००७/२००८।

शिक्षा के नूतन आयाम—सं. डा. लक्ष्मीलाल के. ओड, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, द्वि सं. १९८८।

शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार—डॉ. सरयूप्रसाद चौबे, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, सन् १९८७।

शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त—त्यागी एवं पाठक, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

शिक्षा के सिद्धान्त—पाठक एवं त्यागी, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, सन् २००८।

शिक्षा को बनाएं विकास और आनंद की दीक्षा—आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ, प्रसं. २००९।

शिक्षा तथा उदीयमान भारतीय समाज—डॉ. रामपाल सिंह, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, तृ सं. २००७।

शिक्षा-दर्शन—रामशकल पाण्डेय, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा-७, सन् २००७।

शिक्षा दर्शन एवं मूल्य-विकास—सं. समणी मल्लिप्रज्ञा, हेमलता जोशी, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं।

शिक्षा दर्शन और शिक्षाशास्त्री—रामशकल पाण्डेय, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा-२, द्वि. सं. सन् २००५।

शिक्षा मनोविज्ञान—शालिग्राम त्रिपाठी, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, सन् २००८।

शिक्षा मनोविज्ञान—पी. डी. पाठक, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

शिक्षा में आधुनिक प्रवृत्तियां—योगेन्द्र जीत, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, षष्ठ सं. २००६।

शिक्षा में क्रांति—नरेन्द्रभाई।

शिक्षा में क्रियात्मक अनुसंधान—के. पी. पाण्डे, अमिता, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा-२।

शिक्षा में नए आयाम—प्रो. मथुरेश्वर पारीक, अशोक कुमार सिडाना, डॉ. अमित पारीक, सन् २००७।

शिक्षा में नव चिन्तन—प्रो. रीता अरोड़ा, शिक्षा प्रकाशन, जयपुर।

शिक्षा में नवाचार—विश्वनाथ बिहारीलाल, नरेशचन्द्र त्रिपाठी, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा-२, सन् २००८।

शिक्षा में निर्देशन और परामर्श—सीताराम जायसवाल, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-२।

शिक्षा में प्रयोग तथा समस्याएं—आर. एन. मिश्र, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, द्वितीय सं. २००५।

शिक्षा में विवेक—कि. घ. मशरूवाला, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, प्र. सं. सन् १९५६।

शिक्षा-विचार—विनोबाभावे, सं. मीरा भट्ट, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, द्वि. सं. १९९१।

शिक्षा विज्ञान—गणेश मुनि शास्त्री, अमर जैन साहित्य संस्थान, उदयपुर, सन् २००४।

शिक्षा शास्त्र का परिचय—प्रो. आर. एन. टिक्का, श्रीमती एन. मुखर्जी।

शिक्षा-सिद्धान्त—शालिग्राम त्रिपाठी, कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, सन् २००८।

शिक्षा सिद्धान्त एवं आधुनिक भारतीय समाज में शिक्षा—डा. एन. आर. शर्मा, साहित्य चन्द्रिका प्रकाशन, जयपुर, प्रसं. सन् २००७।

शैक्षिक एवं उदीयमान भारतीय समाज—एच. एस. बघेला, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर, प्र. सं. सन् २००७।

शैक्षिक एवं उदीयमान भारतीय समाज—डॉ. महेन्द्रकुमार मिश्रा, यूनिवर्सिटी बुक हाउस प्रा. लि., जयपुर, प्र. सं. सन् २००८।

शैक्षिक तकनीकी—डॉ. एस. एस. माथुर, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

शैक्षिक तकनीकी एवं प्रबंध—जे. सी. अग्रवाल, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, तृतीय सं. २००६।

शैक्षिक तकनीकी के मूल आधार—डॉ. एस. पी. कुलश्रेष्ठ, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, ग्यारहवां सं. सन् २००९।

शैक्षिक निबंध—डॉ. रामशकल पाण्डेय।

शैक्षिक प्रबंधन एवं शिक्षण तकनीकी—डॉ. मया शंकर सिंह, अध्ययन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, सन् २००७।

शैक्षिक मूल्यांकन—डॉ. रामपालसिंह वर्मा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा-२, दशम सं. सन् २००५।

सफल शिक्षण कला—पी. डी. पाठक, जी. एस. डी. त्यागी, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, सन् १९९४।

सम टास्कस फॉर एजूकेशन—रस्किन।

साइंस ऑफ टींचिग—वेस्तावे।

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और शिक्षा—मार्टिन कारनॉय, ग्रंथ शिल्पी नई दिल्ली, ११०००२, प्र. सं. १९९७।

सामाजिक ज्ञान शिक्षण—अमीर चन्द जैन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, सन् २००७।

सामाजिक संरचना और सामाजिक परिवर्तन—रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, भरत अग्रवाल।

सार्थकता संवाद की—आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ, सन् १९९८।

सूक्ष्म अध्यापन—आर. पी. कथूरिया, विकास पब्लिकेशन्स, भोपाल, १९८०।

सूक्ति सागर—संपा रमाशंकर गुप्त, प्रकाशन शाखा सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, सन् १९५९।

स्कूल इज डेड—एवरेस्ट रैमर

हमारी शिक्षा—गणेश प्रसाद सिंह।

प्रयुक्त पत्र-पत्रिकाएं

* अणुव्रत
* कादम्बिनी
* गांधी मार्ग
* जैन भारती
* राष्ट्र भारती
* नवनीत
* प्रेक्षाध्यान
* लक्ष्य
* विज्ञप्ति
* शिविरा

विश्व के प्रमुख शिक्षाशास्त्री

भारतीय शिक्षा-शास्त्री

* अरविंद घोष
* आचार्य तुलसी
* आचार्य नरेन्द्र देव
* आचार्य महाप्रज्ञ
* आचार्य विनोबा भावे
* एनी. बेसेण्ट
* केशव कर्वे
* गिजु भाई
* गोपालकृष्ण गोखले
* जाकिर हुसैन
* जे. कृष्णमूर्ति
* मदन मोहन मालवीय
* महर्षि दयानंद सरस्वती
* महात्मा गांधी
* रवीन्द्रनाथ टैगोर
* लोकमान्य बालगंगाधर तिलक
* शंकराचार्य
* सर सैयद अहमद खां
* सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
* स्वामी विवेकानंद

पाश्चात्य शिक्षा-शास्त्री

* अरस्तू
* कमेनियस
* कार्ल मार्क्स
* जॉन ड्यूवी
* जॉन लॉक
* टी. पी. नन
* पालो फ्रेरा
* पेस्तालात्सी
* प्लेटो
* फ्रेडरिक फ्रोबेल
* बर्ट्रेण्ड रसेल
* बिग्गी
* ब्रूबेकर
* मान्तेसरी
* रिचर्ड डेविड बाक
* रूसो
* शात्सकी
* सुकरात
* हरबर्ट स्पेन्सर
* हरबार्ट
* ब्रूबेकर
* फेडरिक फ्रोबल

काल मार्क्स